॥ ॐ २४ नम ॥

सहस्रावधानी काली सरस्वती बिरुद्धारक युगप्रधान
आचार्य श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी विरचित

अध्यात्म कल्पद्रुमाभिधान ग्रन्थः

(मूल, श्लोकार्थ, विवेचन)

विवेचक

फतहचन्द श्रीलालजी महात्मा

✦

प्रकाशक

फतहचन्द श्रीलालजी महात्मा
व्यवस्थापक—श्री सातबीस देवरा जैन मंदिर
किला चित्तौड़गढ़
तथा
श्री जैन धर्मशाला स्टेशन चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

✦

वीर संवत् २४८४ | प्रथमावृत्ति १००० | रक्षाबन्धन
विक्रम संवत् २०१५ | मूल्य—पांच रुपया | २९ अगस्त १९५८

अग्रिम ग्राहकों की सेवा में डाक खर्च सहित ५) में।

दुलभ प्राप्य मानुष्य विधेय हितमात्मन ।
करोत्य काड एवेह मृत्यु सर्व न किंचन ।।
सत्ये तस्मिन्न सारासु सपत्स्वविहिता ग्रह ।
पर्यन्त दारुणा सूच्चर्धर्मं कार्यो महात्मभि ।।

अथ—दुलभ मनुष्य जन्म प्राप्त करके आत्मा का हित करना चाहिए, कारण कि मृत्यु अकस्मात आकर के सब कुछ नष्ट कर देती है।

एसी मत्यु से असार और परिणाम से दारुण भय देने वाली सम्पत्ति में जो मोह नही धरता है वसे महात्मा को उच्च प्रकार से धम करना चाहिए ।

धर्मबिंदु—हरिभद्रसूरिवृत

प्रयोजन

पूव पुण्य के विना प्राणी को सद्‌ज्ञान का प्राप्ति नही होती है। अनादि काल से चले आते हुए ससार में जीव अज्ञान दशा से चौरासी लाख योनियो में जन्मता है व मरता है। काल का शासन सर्वोपरि है। सतत बहने वाली महा नदी के समान यह तो निरतर बहता ही रहता है, इसकी कोई मर्यादा या सीमा नही है। एकेंद्रिय से पचेन्द्रिय तक के प्राणी को अपना किया हुआ भुगतना पडता है। मोह दशा के कारण जीव अपना भान भूला हुवा है इसीलिए उसका पुनजन्म होता है। जीवन मरण की यह श्रृङ्खला एक पहेली है। इस पहेली को सुलझाना ही तप है योग है, ज्ञान है या परमात्मपद की प्राप्ति है। इस पहली को सुगमता से समझने के लिए यह ग्रन्थ "अध्यात्मकल्पद्रुम" मार्गदर्शक है।

इस नाशवान, परिवतनशील सतप्त ससार में कौन अमर रहा है। जो जन्मे हैं उनको मरना ही है यह तो ध्रुव सत्य है। चाहे हम पारिवारिक मोह से या नाटक सिनेमा के रगील वातावरण से इसको भुलाना चाहे तो भी कालदेव एक न एक दिन इसका सत्य करके बताएगा। इस दुःखभरे ससार की कसी विचित्रता है। एक प्राणी अपना पेट भरने के लिए दूसरे जीवो को खाने के लिए दर से बाहर निकलता है तो दूसरा उसीसे अपनी भूख मिटा लेता है। एक अधिक धन के लोभ से बाजार में सट्टा खेलता है और चाहता है कि मै भी आलीशान बगले व मोटर रखू

परन्तु क्षणमात्र में उसको अपना पुराना मकान व सारा सामान तक बेच डालना पडता है फिर भी ऋण अदा नही होता है । एवं, ससार के कपट व्यवहार से या कुटुम्ब के विपले वातावरण से गहत्यागी बनता है परन्तु धीरे धीरे अपने मायाजाल में फस जाता है । यही ससार की परिपाटी है ।

कोई अधा है कोई बहरा है कोई लूला है कोई लगडा है, कोई असाध्य रोगी है तो कोई बहुपरिवार वाला दरिद्री है । कोई निसतान वाला धनी है तो कोई बहुसतान निधन है । अत इस दुख भरे ससार में से अपने आपको निकालना चाहिए । सुबह से शाम तक की शारीरिक महनत, या मान सिक पीडा सहते हुए भी हम जो धन कमाते हैं वह हमारे लिए नही है । उसका भोगने वाला कोई दूसरा ही है, अत इस व्यवसाय मे से बचाकर थोडा सा समय हम अपने लिए अपनी आत्मा के लिए निकालना चाहिए नही तो जसे आए थे वसे ही चले जाएगे । आत्म शाति की प्यास बुझ नही पाएगी अत इस असतोष के कारण अनक भवो में दुख उठाना पडेगा पुन मानव भव पाना दुलभ होजाएगा अत स्वय को सतुष्ट करने वाली वस्तु जो अध्यात्म ज्ञान है, उसका पठन पाठन श्रवण नितान्त आवश्यक है । यह ग्रन्थ आत्म शाति के लिए अजोड है । हम ससार में से जाना है ही फिर जाने से पूव क्यो न अपने आपको पहचान कर अनन्त आनन्द का अनुभव किया जाय । क्या न ऐसे स्थान पर पहुँचा जाय जहा से फिर आया ही न जाय । उस स्थान (मोक्ष) के लिए अध्यात्म

मान, मनन व तप की आवश्यकता है। यह ग्रंथ मोक्ष का सोपान है। आयु तो पूरी होगी ही चाहे अच्छी करणी करते हुए बिताओ चाहे पाप करणी करते हुए परन्तु फल दोनों का अलग अलग होगा अतः विवेक द्वारा सोचकर मोक्ष की तरफ बढ़ते हुए आयु को बिताना चाहिए।

इस अमूल्य ग्रंथ के पढ़ने का उपदेश मुझे श्री मंगलविजय जी महाराज सा० (नीति सूरीश्वरजी के प्रशिष्य) ने दिया था जिनका मैं ऋणी हूँ। इस अपूर्व ग्रन्थ की रचना परम अध्यात्मयोगी, अनेक ग्रन्थों के रचयिता, तथा 'सतिक्कर स्तवन' के कर्ता श्री मुनिसुन्दर सूरिजी ने प्रायः वि० सं० १४७८ से १५०० के बीच में की थी। श्री धनविजयगणिजी ने इस पर एक टीका लिखी थी जिसे बहुत वर्ष व्यतीत होगए। वर्तमान में इस पर विस्तृत विवेचन स्वनाम धन्य, साक्षर अध्यात्म चिंतक स्व० श्री मोतीचन्द भाई गिरधरलाल कापड़िया ने गुजराती भाषा में किया और श्री जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगर ने वि० सं० १९९८ में इसका प्रकाशन किया। यह विवेचन ग्रंथ बहुत ही विस्तृत है। इसमें प्रत्येक विषय का प्रतिपादन बहुत गहराई से किया गयाहै। इसे पढ़ते-पढ़ते मुझे आन्तरिक प्रेरणा हुई कि क्यों न मैं भी हिंदी भाषा में इसका स्वतन्त्र विवेचन करूँ जो अधिक विस्तृत न होकर सरल हो और हिन्दी पाठकों के उपयोगी हो। फलतः वि० सं० २०१३ विजयादशमी के मंगल प्रभात में मैने इसका प्रारंभ किया और वि० सं० २०१४ माघ शुक्ला १० के शुभ दिन में इतिश्री किया। पश्चात् इसको

सुधरान की भावना से म अहमदाबाद गया। आचार्य श्री महेन्द्र-सूरिजी महाराज साहब न इसको बडी खुशी से देखा व इस पर अपनीसम्मति लिखदी। पश्चात् आगम प्रभाकर श्रीपुण्यविजयजी महाराज साहब ने भी आशीर्वाद लिखा। इतना होचुकने के पश्चात इसके प्रकाशन की व्यवस्था के लिए मे मारवाड की तरफ आया। सदभाग्य से आयबिल व पूजा करन की भावना से चत्री पूनम का तखतगढ उतरा वहा श्री रूपविजयजा व भानुविजयजी महाराज के दशन हुए और उनके उपदेश से सघवी साकलचदजा भाई ने रु० १०१) से शुरुआत की पीछ तो सिलसिला शुरू हुआ बाद में परमोपकारी गुरदेब श्रीमहेन्द्रसूरिजी का पत्र लेकर में मद्रास गया वहा श्री ऋषभदासजी (स्वामीजी) के सहयोग से ग्राहक बनाता हुआ बगलोर मसूर, रायचूर आदि गया इन सबका आभार अलग लिख कर मानूगा।

सुज्ञ बन्धुओ! मेरा यह प्रयास केवल भावना के वशीभूत होकर ही हुआ है। न तो म विद्वान हूँ, न अध्यात्मज्ञान ही मुझ में है न वैराग्य की भावना ही ह, भाषा ज्ञान भी साधारण है परन्तु जसे वसत ऋतु से कोयल को प्रेरणा मिलती है और वह जहा तहा आम के वृक्ष पर बठकर पचमराग म टुहुक-टुहुक करती है वसे ही इसी ग्रन्थ न स्वय न ही मुझे यह प्रेरणा प्रदान की और यह भगीरथ काय सम्पन्न हुवा है।

विवेचन करते हुए पहले मने श्रीमोतीचन्द भाई के गुजराती के विस्तृत विवचन को पढा है, पश्चात उसकी महत्वपूण वस्तुओ को न छाडत हुए सक्षप से अपने शब्दो म अपनी विचार धारा

महित इसका लिखा है। अन्यान्य महत्व के विषया को ना यहीं कहा पर पाठ्य अनुवाद करके लिख दिया है।

पूज्य पाठको ! यह जो कुछ आप श्री के करकमलों में उपस्थित है वह आपके ही एक धर्मबंधु द्वारा अर्पण है। मुझ में कुछ भी शक्ति नहीं है। यह सब मेरे परमोपकारी पंजाब केसरी, विद्याप्रेमी स्व० आ० श्री विजयवल्लभसूरिजी की कृपा का परिणाम है जिनके द्वारा स्थापित श्री आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरांवाला पंजाब का मैं तथा मेरे भाई श्री दीपचंदजी हुकमचंदजी व धर्मचन्दजी स्नातक हैं।

ऐसे उच्चकोटि के अध्यात्म संबंधी ग्रन्थ के साथ मेरा नाम लगाते हुए मुझे लज्जा प्रतीत हो रही है। कहां तो प्रवर विद्वान् कालिसरस्वती विरुदधारक श्री मुनिसुन्दर सूरीश्वरजी महाराज तथा श्री मोतीचन्द भाई और कहां अल्प बुद्धि मैं। वे सूर्य चन्द्र हैं, मैं उनके समक्ष छोटा दीपक भी नहीं हूँ। परन्तु इस ग्रन्थ के रचयिता ने शतक स्तवक की रचना जिस पुण्य पवित्र भूमि में की थी वही भूमि देलवाड़ा मेवाड़ मेरी भी जन्मस्थान है अतः स्वाभाविक ही इस ग्रन्थ के प्रति मेरा आकर्षण है और मैं ग्रन्थकर्ता का दो तरह से ऋणी हूँ।

ग्रंथ का विवेचन करते हुए मुझे कहीं कहीं पर कटु शब्दों का प्रयोग भी करना पड़ा है और विशेषकर यति शिक्षा के अध्ययन में तो इसकी अधिकता है। यह अध्ययन वास्तव में बहुत ही महत्व का है और इस पर कुछ लिखना श्रावक के लिए अनधिकार चेष्टा है। ग्रन्थकार ने श्लोकों द्वारा जो उपदेश दिया है

वही पर्याप्त है, यह जानते हुए भी श्रीमोतीचद भाई न भावाथ म अपनी विचारधारा प्रस्तुत की है और मने भी वसा ही दु साहस किया है। ग्रथ में सच्चे गुरु को सिंह की उपमा दी है जबकि कुगुरु को सियार बताया है। मोतीचद भाई के लेखन काल को आज लगभग ८० वष होगए ह। इस समय म और उस समय म बहुत अन्तर पड गया है। इस अध शताब्दी में जनसमाज, जनाचाय और जन साधु यति आदि त्यागी वग में बडा परिवतन होगया ह। समाज के कणधार कुम्भकर्णी निद्रा में सो रहे ह उन्हें जागत करन वाले जनाचाय ही कुसप के वाता वरण में पनप रह ह, तथा द्वेषाग्नि स दग्ध हो रहे ह अत समयोचित शब्दों में जो कुछ मने निवेदन किया है उसका असर यदि उनपर हुआ तो समाज क सद्भाग्य जागे जानिये।

सच्ची बात कहने व लिखने वाला प्राय शत्रु गिना जाता है तथा उसके प्रति विपरीत प्रचार किया जाता है जैसा कि मोतीचन्द भाई के विरुद्ध भी मने कहीं-कहीं पढ़ा है। यही तो सच्चे व झूठ को पहचान की कसौटी है। जो सच्चा आत्मार्थी है, वह वास्तविक बात पर खिन्न नहीं होगा वरन अपने आपको सुधारने का प्रयत्न करेगा परन्तु जो बाहर से और तथा अन्दर से और है वह अपनी कुत्सितता का प्रदशन करने के लिए जो कुछ अनुचित न करे करावे वह थोड़ा है। इसके ज्वलत व प्रत्यक्ष प्रमाण समाज के समक्ष हैं। समाज छिन्न भिन्न हो रहा है।

ग्रथकर्ता की भावना शुद्ध थी, वे सभी का हित चाहते थे अत उन्होंने ऐसे उपयोगी ग्रन्थ की रचना की थी। उसी

भावना के वशीभूत होकर उसको पुष्टि म श्री मातीचन्दभाई ने विवेचन किया एव उसी दष्टि से मन भी यह अल्प प्रयाम किया है।

जावमात्र के कल्याण की दष्टि स प्ररित हाकर अपनी तुच्छ वुद्धि का मन परिचय दिया है जो कि विद्वानो क लिए तो हसा का पात्र हो सकता है परन्तु मरे जस उनअल्पबुद्धि वाले तथा साधारण मनुष्या के लिए यह उपयोगी है जिनके पाम पूरा नान का काप नही है तथा जो उदर पूर्ति का साधन करते हुए पर्याप्त समय भी नहीं निकाल सकते ह। अन्त में श्री वीतराग परमात्मा स सभी जीवा के कल्याण की कामना करता हुआ सभा जीवा से क्षमा माँगता हुआ म अपन कल्याण की प्राथना करता हूँ। आप इस ग्रथ का अधिक से अधिक लाभ उठावें यही अभ्यथना है।

सुखी रहें सब जीव जगत के काई कभी न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड जग नित्य नए मङ्गल गावे॥
घर घर चचा रहे धम की दुष्कृति दुस्कर होजावे।
ज्ञान चरित उन्नत कर अपना मनुज जन्मफल सब पावे॥

खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमतु मे,
मित्ती मे सव्व–भूएसु, वर मज्झ न केणई॥

ओ३म् शाति! शाति!! शाति!!!

फतहचन्द महात्मा
विजयदशमी २०१८
ता० २२ १० ५८

सातवीसदेवरी जन
मदिर, किला
चित्तौडगढ़ (राज०)

धर्म-ऋण

(१) शासन नायक वीतराग परमात्मा श्री महावीर प्रभु का मैं ऋणी हू। भवाभव भटकते ए पुण्योदय से इस भव में आपके वचनो का पठन, वाचन व लेखन सुलभ हुवा है अत आ मुक्त ऋणी हू।

(२) ग्रथ के कर्ता श्री मुनि सुदरसूरीश्वरजी तथा उनके गतानुगत पट्टधर—श्री विजयानदसूरिजी के शिष्य विद्यानुरागी पजाब केसरी स्व० आचार्यश्री विजयवल्लभसूरिजी का मै ऋणी हू जिनके कर कमलो द्वारा स्थापित श्री आत्मानद जैन गुरुकुल गुजरावाला (पजाब) मे मने शिक्षा प्राप्त की थी। जीवन मे जो भी है वह सब उन्ही गुरुदेव की देन है।

(३) स्नेहमयी स्वर्गीया दादीजी श्री हुगामबाईजी तथा चिरायु अपेक्षित पूज्यवर पिताजी श्री श्रीलालजी व माताजी सरदारबाई का ऋणी हू जिन्होने बाल्यकाल से आज पर्यन्त मेरी धर्म भावना का पोषण किया है।

उपकार

(१) श्री रत्नाचल तथा चित्तौड़गढ़ तीर्थोद्धारक स्व० आचार्य श्री विजय नीतिसूरीश्वरजी के शिष्य आचार्य श्री हर्षसूरिजी के शिष्य आ० श्री महेंद्रसूरिजी महाराज का उपकार मानता हूं जिनकी कृपा पत्रिका से मद्रास में पुस्तकों का अग्रिम विक्रय हुवा, तथा जिन्होंने पुस्तक का अवलोकन कर सम्मति रूप आशीर्वाद वचन लिखे हैं जो अन्यत्र छप गये हैं।

(२) पंजाब केसरी स्व० आ० विजयवल्लभसूरीश्वरजी महाराज सा० के पट्टधर आ० श्री समुद्रसूरीश्वरजी महाराज साहब तथा श्री जनकविजयजी गणि का उपकार मानता हूं जिन्होंने इस ग्रंथ को उपकार वचनामृत लिखे हैं।

(३) परमोपकारी गुरुदेव श्री विजयवल्लभसूरीश्वरजी के आज्ञावर्ती आगम प्रभाकर मुनिराज श्री पुण्यविजयजी का उपकार मानता हूं जिन्होंने सब प्रथम इस ग्रंथ का अवलोकन कर आशीर्वाद प्रदान किया। आपका उपकार जैन समाज नहीं भूल सकता है। जैसलमेर के ज्ञान भंडारों को व्यवस्थित करने में अगाध्य प्रयत्न आपने किया है। मैं भी आपका दोनों तरह से उपकार मानता हूं।

(४) परम तपस्वी मुनिराज श्री रूपविजयजी, श्री भानुविजयजी श्री विशारदविजयजी श्री जयविजयजी (वल्लभसूरीजी के शिष्य), श्री पं० यशोभद्रविजयजी गणि, श्री कांतिसागरजी आदि गुरुओं ने व्याख्यानों में उपदेश देकर पुस्तक की अनुमोदना की अतः सबका उपकार मानता हूं।

आभार

इस अपूर्व ग्रंथ की भूमिका लिखकर श्री यशपालजी जैन ने अपनी सरलता, साहित्याभिरुचि व धर्म भावना का परिचय दिया है। सतत साहित्य सेवा में सलग्न रहते हुए भी मेरी प्रार्थना पर अवकाश निकाल कर जो अनुकम्पा आपने की है मैं उसका आभारी हूं। हिन्दी के पाठक आपसे चिरपरिचित हैं आप स्वनाम धन्य हैं।

श्री जयभिखु (बालाभाई वीरचन्द देसाई शाह अहमदाबाद) जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर अपना अमूल्य समय निकाल कर इस पुस्तक पर दो शब्द लिखे हैं अतः मैं आभारी हूं। गुजराती जनता आपकी कथाओं को चातक दृष्टि से देखती है। दोनों साहित्यिक महारथियों द्वारा दिए गए समय के दान के लिए मैं फिर आभार मानता हूं।

इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिए श्री जोब प्रिंटिंग प्रेस व हिंदी साहित्य मन्दिर अजमेर के मालिक वयोवृद्ध शांत दांत श्री जीतमलजी लूणिया व उनके निरभिमानी साक्षर सुपुत्र श्री प्रतापसिंहजी का मैं आभारी हूं। इस ग्रंथ की मेरी हस्तलिखित कॉपी अस्त-व्यस्त, कटीफटी व कठिनाई से पढी जाने वाली थी एवं प्रूफ में कई हेर फेर मैंने किए परन्तु इन तमाम मुसीबतों का आपने शांति से सामना किया तथा बडी सावधानी से मुद्रण कार्य सम्पन्न किया अतः मैं आपका पुनः आभार मानता हूं।

अपनी पेढी के शठ श्री भोगीलालजी मगनलालजी तथा शेठ श्री फकीरचदजी, हिम्मतलालजी बचुभाई पिता भगुभाई अहमदावाद वाला का भी म आभारी हू जो मुझ साहित्य के प्रकाशन की व्यवस्था के लिए सवदा सुविधा दते ह।

श्री जोरावरमलजी लोढा उदयपुर वाला न अपन स्वर्गीय युवा पुत्र श्री नवरत्नमलजी (भवरलालजी) की स्मृति में साहित्य प्रकाशन क लिए ५००) देन का वचन देकर मेरा उत्साह बढाया है जिसके लिए में उनका आभार मानता हू। उनकी प्रेरणा से मने यह साहस किया है अत इसका श्रेय उनको है।

मद्रास में स्वनामधन्य श्री रिखबदासजी भभूतमलजी (प्राग्वाट् कपनी वाले) जो वहा स्वामीजी के नाम से प्रसिद्ध ह उनका भी आभार मानता हू। पुस्तक के ग्राहक बनवान म सब तरह से मुझे सहायता दी है। उनका घर एक तपोवन है।

आपके देख रेख में मद्रास में कई प्रवत्तिया चलती ह। जन मिशन सोसायटी नामक संस्था बहुत ही जागत है। इसक अन्तर्गत साहित्य प्रचार, साधर्मिक उद्धार, शिक्षा प्रसार, उद्योग, ग्राम जनता की सेवा, कतल खाने बद कराने का काम, कसाई खाना में कमी कराने का काम, कला निकेतन, सस्कृति रक्षण, जन स्कूल, जन गुरुकुल तथा तीर्थों की रक्षा आदि का काम होता है श्री लालचन्दजी ढढ़ा, श्री पुखराजजी (धन्नालालजो मठालालजी), श्री पुखराजजी (जठमलजी सुकनराजजी वाले), श्री कपूरचन्दजी, श्री सरदारमलजी मूलचदजी, श्री अमृतलालजी, श्री धनराजजी, श्री देवीचन्दजी को म नही भूल सकता हू जिन्होने मुझे हर तरह स सहायता दी इनका व अन्य सबका म आभार मानता हू।

दक्षिण भारत के संस्मरण

मद्रास की धार्मिक प्रजा प्रतिवर्ष हजारो रुपये धार्मिक काम में लगाती है। इन्द्रपुरी समी यह नगरी अपना अलौकिक स्वरूप रखती है। यहा पर कई परोपकार के स्थान है जिनमें मुख्य ये है—

दयासदन—यहा प्राय ७०० दर्दी निराश्रित व सतप्त लोग रख गये हैं। उन्हें नास्ता, भोजन, औषधि तथा वस्त्र दिये जाते हैं। लावारिस बच्चो को पढाया जाता है। उद्योग मन्दिर भी इसीमें है जिसमें स्लेटे, स्लेट पेंसलें व एलुमेनम के चम्मच व वस्त्र बनाने के काम हो रहे हैं। इसका उद्घाटन प्राय ३ वर्ष पूर्व श्री लक्ष्मणसूरिजी महाराज व राजगोपाला-चारी के द्वारा हुवा था। जीवन के करुण चित्र व ससार का सच्चा प्रदर्शन देखना हो एव धन का वास्तविक उपयोग करना हो तो यह स्थान एक ही है। इसमें जना की व सरकार की सहायता है।

पाजरापोल—मनुष्यो के स्वार्थ से निचोडी जा चुकी दुग्ध शुष्का गौमाताओ का यह आश्रय स्थान है। बहुत विस्तृत स्थान में अनेक पशुओं को रखा जाकर उनकी सभाल की जाती है। दुग्धशाला भी इसीके अतर्गत चलती है। यहा अशक्त व सशक्त दोनो प्रकार की गाय भैंसें हैं। मद्रास का यह काम अनुसरणीय है।

पादावाडी जन मन्दिर—बहुत ही विशाल व रमणीय स्थान म यह मन्दिर है। मानीगाट् सेठ ने बहुत ही दूरदर्शिता से इस स्थान को अपनाया था। कम्पाऊड व बीच में सुन्दर मन्दिर व कुवा है। यहां प्रकृति दवी की कृपा है। स्थान देख कर मन श्री पुखराजजा (जठमलजा मुखराजजी वाले) स यह भावना प्रगट की थी कि क्या ही अच्छा हो आपके शहर के अन्दर चलता हुवा जन स्कूल यहा आकर गुरुकुल के रूप में व्यवस्थित हा जाय और भावी महापुरुषो का निमाण करे।

पोइम रेंड हिल्स यह प्राचीन मद्रास की राजधानी थी। ६ मील लबे तालाव के पास ही एक नीची पहाडी का सिल सला है। जमीन लाल है। यहां कई प्राचीन स्मारक नजर आते ह। कुछ बगले भी बन हुए ह। श्री जन मन्दिर ही इस क्षेत्र का मुख्य आकर्षण है। २००० वष पूर्व पल्लव राजाओ द्वारा इसका निर्माण हुवा था। मूलनायकजी यादवो के समय के ह। भूमिदान के शिलालेख १२—१३ वी शताब्दी के उपलब्ध ह। मन्दिर बडा ही रमणीय है। अदर धर्मशाला भी बनी हुई है। अभी २ श्री रिखबदासजी द्वारा एक गुरुकुल की शुरुआत हुई है जिसका मूल उद्देश्य जन सस्कृति का सरक्षण है उनकी भावना एसे गुरुकुल अन्यत्र भी खोलने की है। जुलाई के द्वितीय सप्ताह में म वहाँ गया था तब श्री नवकार महामत्र के नौलाख जापो का अनुष्ठान वहा चल रहा था। १७ तपस्वी इस धर्मयत्न में सम्मलित थे और भी आने वाले थे। इस तरह से वह स्थान बडा शात पवित्र व आत्मार्थी के

लिए उपयोगी बना हुवा है। इस स्थान पर स्वामीजी की सम्पूर्ण दृष्टि है अत गुरुकुल, मन्दिर व अनुष्ठान का काय सतत सुव्यवस्थित रहने की सभावना है। इसीलिए तो रत्नाकर भारत भूमि के चरण यहा पर चूमता है। दक्षिण भारत वदनीय है।

बेंगलोर—बंगलोर कपड के व्यापार का व अनेक सरकारी उद्योगो का केन्द्र है। सर्दी खूब पडती है। लोगो में धम के प्रति बडी श्रद्धा है। अग्रजी में जैन साहित्य का प्रकाशन होकर जन मिशन द्वारा विदेशा में भेजा जाता है।

श्रवण बेलगोला-(मैसूर) श्री बाहुबलीजी की ५८ फुट की मूर्ति के दशनो का सौभाग्य मिला। इद्रगिरि पर यह मूर्ति विद्यमान है। आदिनाथ व शातिनाथ के दो अन्य मन्दिर भी हं। एक ही पहाड में से काट कर बनाई गई इस आश्चयमयी मूर्ति को देखकर जीवन कृताथ हुवा। चद्रगिरि पर १६ जन मन्दिर हं जिनमें १६ से लेकर २८ फुट तक की मूर्तिया भी ह। इस गाव म जैन ब्राह्मणो (माहण-महात्मा) के बहुत घर ह। भट्टारकजी भी माहण ही हैं। उनका मन्दिर बडा सुन्दर है। इस प्रात में माहणो क बहुत घर हैं। यहा तथा मसूर में भी जन ब्राह्मण छात्रालय हं। दक्षिण के माहण दिगबर हं जब कि उत्तर के माहण (महात्मा) श्वताम्बर ह।

मसूर—यहाँ का राजवाडा या राजमहल बहुत सुदर हं। शहर आकर्षक है। जैन मन्दिर बडा सुन्दर हे। यहा से १८ मील दूर कृष्ण सागर बाध व कदवबाडी देखकर म आत्म-

विभोर हो गया। प्रकृति पर मानव की विजय का गौरव यहां अनुभव में आता है। वृन्दावन का दृश्य जीवन में कभी नहीं भुला जा सकता है। चारों तरफ फव्वारे चलते हैं। हरित पीत, रक्त विद्युत आभाओं (टयूब) की शोभा अपूर्व है। लगता है जो हम अपने स्वामी इस वृन्दावन (धाम) से वञ्चित होकर एक पार्थिव प्रेम का स्वरूप बना रही थी और आत्मा का पराधीनपन था, व निरन्तर का पाठ पढ़ा रही हैं। विद्युत के प्रकाश से ही उद्दीप्त वह देव मण्डप सा मनोहर स्थान कई आत्माओं की तृप्ति कर उन्हें कह रहा था कि हे मानव तू इसमें लुब्ध मत हो जाना, यदि इसमें लुब्ध हो गया तो बस इस आवागमन के चक्र में से निकल न सकेगा। इस प्रकार मैं जगा प्रकाशित हूं व मेरे क्षेत्र में प्रकाश फैला है वैसा तू भी कर, अपनी आत्मा में प्रकाश की किरणें उत्पन्न कर और अपना निज शोभा को बढ़ा। पानी के अन्दर भी अनेक रंग की बिजली लगी गई है। फव्वारे भी कई रंगों के छूट रहे हैं। यह स्थान दर्शनीय है। प्रति शनिवार व रविवार को ही रोशनी होती है। मैसूर का चन्दन व तेल का कारखाना व रेशम का कारखाना दर्शनीय है।

वास्तव में दक्षिण भारत की नैसर्गिक, आध्यात्मिक धार्मिक व सामाजिक भावनाओं से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं अतैव इस पाठ से इस पुस्तक का सम्बन्ध न होते हुए भी लिखने के लोभ को नहीं रोक सका हूं अतः पाठक मुझे क्षमा करें।

॥ श्री ॥

पजाब केसरो आ० मा० श्री वल्लभसूरी के पट्टधर आ० मा० श्री १००८ श्री समुद्रविजयजी का

आशीर्वाद !

घमलाभ साथ विदित किया जाता है कि महात्मा फतेहचन्दजी, स्वर्गवासी गुरुदेव पजाब केसरी युगवीर आचाय श्री १००८ श्रीमद विजय वल्लभसूरीश्वरजी महाराज के गुणानुरागी और आत्मानन्द जैन गुरुकुल गुजरानवाला पजाब के विद्यार्थी ह। इन्हाने गुरुकुल में रहकर धार्मिक अभ्यास अच्छा किया है य श्रद्धालु व क्रिया प्रिय ह, एवम् इनमें धार्मिक सस्कार होने से जन साहित्य के प्रति अच्छा रस लेते ह और आगे भी साहित्य की सेवा करत रह एसा हमारा आशीर्वाद है।

इन्हाने कई पुस्तकें भी लिखी ह जो मने देखी ह, और अति प्राचीन ग्रथ अध्यात्म कल्पद्रुम का हिन्दी म स्वतन्त्र विवेचन किया है जा सुन्दर, सरल तथा उत्तम शैली स लिखा है।

मन इस 'अध्यात्म कल्पद्रुम' को सुना है जो कि श्रद्धालु के लिए पढने और मनन करने योग्य है, अत इस उत्तम काय में उनको सहायता देकर ज्ञान म वद्धि कर धम की जागृति करे इस पुस्तक की कम से कम एक-एक प्रति तो हरेक घर म अवश्य होनी ही चाहिए।

लि० समुद्रसूरी का घमलाभ

स०२०१५ वसाख कृष्णा ३ गाम चादराई (राज०)

शांतमूर्ति आचार्यदेव श्रीमद विजय समुद्रसूरीश्वरजी म० सा० की आज्ञा से —जनकविजय

॥ जयन्तु वीतरागा ॥

पंजाब केसरी स्व० आ० श्री विजयवल्लभसूरीश्वरजी के विद्वान शिष्य जेसलमेर ज्ञान भंडार के उद्धारक आगम प्रभाकर मुनिजी श्री १०८ श्री पुण्यविजयजी म सा का

आशीर्वाद !

'शुभे यथाशक्ति यतनीयम्' इस महावाक्य को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक मानव को सत्कार्य में प्रवृत्त होना ही चाहिए और यही मानव जीवन की सफलता है, यही मानव जीवन का एक उच्च आदर्श है।

भाई श्री फतहचन्द्रजी श्रीलालजी महात्मा ने अपनी कुछ रचनायें मेरे को दिखलाई हैं। मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ कि वे अपने समय का सदुपयोग अच्छे कार्य में कर रहे हैं। उनका निजी ध्येय आम साधारण जनता को आध्यात्मिक मार्ग का दिग्दर्शन कराने का है और इस विषय में वे यथाशक्ति प्रयत्न भी कर रहे हैं, जो स्तुत्य है। अध्यात्मकल्पद्रुम ग्रन्थ का विवेचन भी उन्होंने किया है जो सामान्यतया जनता को जरूर लाभप्रद होगा ऐसी आशा है।

लि० मुनि पुण्यविजय

स० २०१५ चैत्र शुक्ला एकादशी चन्द्रवार अहमदाबाद

आ मा सा श्री नीतिसूरीश्वरजी के प्रशिष्य आ म
श्री १००८ श्री महेन्द्रसूरीजी का

आशीर्वाद !

महात्मा फतहचन्द भाई ने हिन्दी भाषा में अध्यात्म कल्पद्रुम के उपर जो विवेचन लिखा है वह आवश्यक है। यदि वह छापा जाय तो जनता को बहुत उपयोगी होगा एसा मं मानता हू। उन्होंने हृदय के उत्साह से निःस्वार्थ भाव से यह पुस्तक लिखी है जो उत्साह देने योग्य है। यति हित शिक्षा प्रकरण आदि मंने देखा है।

द० आ० वि० महेन्द्रसूरिम

सं २०१५ चत्र सुद १३ अहमदाबाद

अग्रिम ग्राहकों की ग्रामवार नामावली

निम्नलिखित महानुभाव इस ग्रंथ के प्रथम से ही ग्राहक बने हैं अतः उन्हें मैं ज्ञान रुचि व साहित्य प्रकाशन के प्रति प्रोत्साहन की भावना के लिए धन्यवाद देता हूं।

तखतगढ़ (राजस्थान)

(परम पूज्य प० हर्षविजयजी व भानुविजय के उपदेश से)

पुस्तक संख्या — नाम

२५ सेठ गाकलचन्दजी कपूरचंदजी संघवी
६ ,, गुलाबचन्दजी जवानमलजी
१ अखेचन्दजी जरूपजी

(पादरडी राजस्थान)

२ श्री आत्मानन्द जैन पुस्तकालय
४ सेठ बाबुलालजी तिलोकचन्दजी
१ ,, रिखबचन्दजी वरधीचन्दजी
१ , हीराचन्दजी कस्तुरचन्दजी
१ ,, हजारीमलजी ताराचन्दजी

चांदराई (राजस्थान)

(परम पूज्य मुनिराज श्री भर्षविजय जी के उपदेश से)

पुस्तक संख्या — नाम

१५ सेठ हमराजजी जसराजजी (चेयरमैन)
५ , मोतीजी जवानमलजी संघवी
१ पन्नालालजी कस्तुरचन्दजी

पावा (राजस्थान)

१ सेठ महता जावराजजी तिलोकचंदजी

बापला (डीसा) गुजरात

३ सेठ बीरचन्दजी पूनमचंदजी दलाजी
२ ,, छोगाजी जठाजी
१ , उमेदाजी बाघाजी
१ , ताराजी हीराजी

कडिया वडगाव (राजस्थान)

(बाबुलाल तलकाजी के सौजन्य से)

पुस्तक संख्या — नाम

५ सेठ गुलाबचन्दजी मनरूपजी
५ देवाजी तलकाजी
५ दानाजी जवाजी
३ , मालाजी मनरूपजी
३ ,, ऊकाजी जवाजी
२ , कपूरजी पारख
२ ,, छोगाजी गोदाजी
२ , धूडाजी मगाजी
२ , बाबुलाल चमनाजी
२ ,, मलूकजी मघाजी
१ ,, मूलाजी नगाजी
१ , कस्तूरजी खेताजी
१ ,, पूनमचन्द केसराजी
१ ,, प्रतापजी माणाजी

आजोधर (राजस्थान)

२ सेठ हिंदुजी प्रागाजी

मालवाडा (राजस्थान)

१ श्री रजनविजयजी जैन पुस्तकालय

पाथावाडा (गुजरात)

५ सेठ लखमीचन्दजी धनाजी

पुस्तक संख्या — नाम

२ , मालाजी धर्माजी
२ ,, छगनलालजी कस्तुरचन्दजी
१ सांकलचन्दजी पीथाजी
१ , गोमाजी पाताजी
१ , रूपाजी अजबाजी

अजमेर

२ सेठ गापीचन्दजी धाडीवाल

भीनमाल (राजस्थान)

(सघवी सुखराजजी देवीचदजी, सज्जनराजजी के सौजन्य से)

२ सेठ सुखराजजी जुगराजजी
२ , आबूजी खूमाजी
१ सज्जनराजजी मणसाली
१ देवीचन्दजी छगनलालजी
१ , कपूरचदजी मूलचदजी

जोधपुर (राजस्थान)

६ सेठ पूनमचदजी भूरचदजी
१ मानचन्दजी भडारी

कोसीलाव (राजस्थान)

(परम पूज्य आचार्यश्री समुद्रसूरिजी व जनक विजयजी गणि के उपदेश से)

५ सेठ सरदारमलजी सेंसमलजी

पुस्तक संख्या	नाम
२	सेठ स्वाचन्दजी मिसरीमलजी
२	,, पूनमचंदजी भूराजी
२	,, मेघराजजी दीपचंदजी
२	,, भगवानदासजी जवानमलजी
२	,, सुमाजी जताजी
१	,, अचलदासजी पूनमचन्दजी
१	,, सूरजमलजी भगवानजी लसवानी
१	,, सागरमलजी चोथमलजी

राणी (राजस्थान)

१ सेठ जुवारमलजी पूनचन्दजी
१ श्री शांति सेवा समाज

फालना (राजस्थान)

१ सेठ अमराजजी मलकचन्दजी
१ पुखराजजी गुलाबचन्दजी
१ श्री पार्श्व उम्मेद जैन कॉलेज

सादडी मारवाड (राज०)

(परम पूज्य मुनिराज श्री विनारव विजयजी के उपदेश से)

२ सेठ चदनमलजी पूनमचन्दजी
१ पूनीलालजी तेजमलजी बाफना
१ ,, गमानचन्दजी चूनीलालजी पोरवाल

पुस्तक संख्या	नाम
१	,, हजारीमलजी धरमलजी
१	,, हमीरमलजी सरदारमलजी
१	,, चुनीलालजी सनायचन्दजी पारवाल
१	पुन्नीलालजी वीरचदजी
१	मीलमचन्दजी पृथ्वीराजजी
१	,, फूटरमलजी हिम्मतमलजी
१	हाराचदजी पूनमचदजी

पाली (राजस्थान)

(परमपूज्य आचार्यश्री समुद्रसूरीजी व जनकविजयजी गणि के उपदेश से)

५ सेठ मीठालालजी मानमलजी
१ पन्नालालजी जालोरी
१ राजमलजी कोठारी
१ प्रेमचदजी श्रीश्रीमाल
१ रतनचन्दजी समीरमलजी
१ छोगालालजी मोड़ा मीमववाल

बालोतरा

१ श्री लक्ष्मणदासजी बोथरा एडवोकेट

फालेंद्री (सिरोही)

१० श्री मछालालजी भगवानजी

चित्तौडगढ (राजस्थान)

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ गोकलचदजी मोतीलालजी
१ नाथूलालजी चोपड

उदयपुर

२ सेठ रोशनलालजी चतुर
१ , तेजपालजी गोकलचन्दजी
१ , धालूलालजी मारवाडी

बखतगढ (इन्दौर)

१ सेठ फूलचन्दजी जसराजजी दरडा

नयागाँव जावदरोड
(मध्यप्रदेश)

२ सेठ धामालालजी नानालालजी

जावद (मध्यप्रदेश)

२ सेठ मन्नालालजी शंकरलालजी चोपडा
२ , मन्नालालजी तलेरा

निम्बाहेडा

१ सेठ श्रीनिवासजी शारदा (चयरमेन)
१ ,, बापूलालजी चोरडिया
१ पन्नालालजी चापडा
१ फतेलालजी मार
१ , सोहनलालजी चोधरा

रतलाम

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ हस्तीमलजी समरथमलजी
१ , भवरलालजी चम्पालालजी

विजयनगर (राजस्थान)

६ सेठ हुक्मसिंहजी कोठारी

जयपुर

२ केशवलाल एण्ड कम्पनी

खेरालू वाया महसाणा

१ सेठ शांतिलाल चिमनलाल

महसाणा (गुजरात)

१ सेठ केशवलालजी माणकचन्दजी

पालीताणा

२ सेठ भभूतमलजी रिखबदासजी आरीसा भुवनवाला

खरजा (बारसी-बम्बई)

१ सेठ गुलाबचदजी विशनलालजी कोठारी

कोल्हापुर (बम्बई)

१ सेठ बाबूभाई मानसिंगजी परमार

कोटकपुरा (पंजाब)

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ मघराजजी जैन प्रेसिडेंट मु० कमेटी

कलकत्ता

१० सेठ ठाकुरदास मुरेका-सलकिया
७ श्रीमती तारा कुंवरी श्री हरकचन्द जी कांकरिया की धर्मपत्नि

बम्बई

१ परम पूज्य पंन्यासजी श्री प्रियंकर विजयजी गणि को अर्पणार्थ एक श्रावक
२ सेठ देवचंदजी गोपालजी
१ मोतीलालजी वरदीचंदजी
१ , पुखराजजी गुलचंदजी
१ , मोतीलालजी जठमलजी

रायचूर (करनाटक)

(यति श्री मदनचंदजी चित्तौड़वाले तथा अमोलखचंदजी के सौजन्य से)

५ सेठ बस्तीमलजी नौरतनमलजी
२ ,, कालूरामजी चांदमलजी
२ , राजमलजी खेमराजजी भंडारी
२ दलीचंदजी जसराजजी
२ कालूरामजी हस्तीमलजी
२ ,, तेजमलजी उदेरामजी

पुस्तक संख्या — नाम

१ सेठ चतुरभुजजी तेजकरणजी
१ , बोरा केवलचंदजी मोहनलाल
१ , सानराजजी सपतराजजी मूथा
१ अमोलखचन्दजी मोहनलालजी
१ विनयचंदजी नमीचंदजी दफ्तरी

मद्रास

(श्री रिखबदासजी (स्वामीजी) के सौजन्य से)

२५ सेठ श्री लालचंदजी ढढा-ढढा कंपनी
२० फतहचन्दजी गोमराजजी
२० , ताराचंदजी मांगीलालजी
१५ अमरचन्दजी शोभाचंदजी
११ फौजमलजी रिखबदासजी
११ , रिखबदासजी छगनलालजी
११ , जोधाजी मनीरामजी
१० घमंडीलालजी मन्नालालजी
१० रतनचन्दजी कपूरचंदजी
१० जठमलजी सुकनराजजी
१० जैन मिशन सोसायटी (हस्ते श्री रिखबदासजी)
१० जठमलजी गैनमलजी
१० , भूरमलजी मभूतमलजी
१० , रिखबदासजी भूरमलजी
१० कुंदनमलजी मिसरीमलजी
१० , हरकचंदजी रूपचंदजी

पुस्तक संख्या	नाम
१०	सेठ श्री हजारीमलजी पुखराजजी
७	,, सोनमलजी हस्तीमलजी
७	कस्तुरचदजी तेजराजजी
६	ननमलजी नथमलजी वेदमथा
५	,, देवीचदजी माणकचन्दजी बेताला
५	,, जोधाजी मलेचन्दजी
५	जावतराज एण्ड कम्पनी
५	,, राजपूताना ट्रेडिंग कम्पनी
५	,, भूताजी भमूतमलजी
५	,, मिसरीमलजी मुलतानमलजी
५	,, सिधवा ब्रदस
५	हंसराजजी अमेचदजी
५	सागरमलजी शकरलालजी
३	,, समेरमनजी जेठमलजी
३	बाबूलालजी मनरूपजी
३	रासाजा सांकलचदजी
३	रिखबदासजी पुखराजजी
३	केसरीचदजी मगनमलजी
२	तुलसीरामजी पुखराजजी
२	,, टी के देवराजजी
२	भगाजी सोनमलजी
२	,, शकरजी मूलजी
२	,, बख्तावरमलजी नथमलजी
२	,, जे हजारीमलजी
२	लालचदजी मूलचंदजी

पुस्तक संख्या	नाम
२	सेठ श्री जवेरचदजी मूलचदजी
१	नथमलजी सागरमलजी
१	,, एच चदनमलजी
१	,, सान्चन्जी भीमराजजी
१	,, एच भमूतमलजी
१	बागरेचा एण्ड कम्पनी
१	,, हजारीमलजी रूपचन्दजी

बगलोर सिटी

(पूज्यवर प० श्री यशोभद्र विजयजी गणि के उपदेश तथा श्री सोसमलजी हिन्दुस्तान ज्वेलरीमार्ट के सोजन्य से)

पुस्तक संख्या	नाम
११	सेठ श्री हजारीमलजी जवानमल
७	,, शामूमलजी गगारामजी
५	,, श्री अमीचदजी एण्ड संस
५	देवीचन्जी मिसरीमलघी
५	,, देवीचदजी जेठमलजी
५	,, हीराचदजी फूलचदजी
५	,, मुल्तानमलजी हस्तीमलजी
५	मिसरीमलजी भमूतमलजी एण्ड ब्रदस
५	,, बस्तीमलजी भानाजी एण्ड कम्पनी
५	,, मानमलजी राजाजी एण्ड कम्पनी

पुस्तक सख्या	नाम
४	सेठ श्री देवीचंदजी पन्नाजी
	एण्ड कम्पना
४	गणशमलजी दीपचदजी
३	, माणकचन्जी मिसरीमल्जी
३	हरकचन्जी तिलोकचदजी
३	, बागरेचा एण्ड कम्पनी
३	, जठमलजा हाराचदजी
३	,, मगनाजी मसरीमलजी
२	पारसमलजी मगाजी
	(बालवाडा वाला)
२	चन्नमल्जी जुगराजजी
२	, मिसरीमल्जी छगनराजजा
२	, थालाजी मोतीजी एड कपनी
२	, भूरमलजी फूलचदजी
२	चुनीलालजी चोसाजी
२	, मिश्रीमलजी बछराजजी
	एण्ड वम्पना
२	, दीपचन्दजी जुरमल्जा
२	पुखराजजी पारसमल्जी
२	, मदनचदजा साकलचदजी
२	, मुनीलालजी सुखराजजी
२	दापचदजी चन्नमलजा
२	हिमतमल्जी सरूपचन्दजी
२	, मिसरीमलजी साहनराजजी
	एण्ड सन्स

पुस्तक सख्या	नाम
२	श्री हिन्दुस्तान ज्वेलेरी मार्ट
१	सरेमलजी पूनमचन्जी
१	, जी बाबूलालजी
१	,, चूनागरजी थामूजी
१	जी अनराजजो ममन्डिया
१	, मुथा सँसमल्जी वनराजजी
१	, राजमलजी हस्तीमल्जी
	एण्ड ब्रदस
१	, मखावरमल्जी हुमराजजी
	(वेदामट)
१	, सागरमलजी चम्पालालजी
१	, लक्ष्मीचन्दजी जठमल्जी
	(सलासपालिया)
१	गणेशमलजी जुगराजजी
	(अंबिका)
१	मगराजजो सरेमलजा
१	, हीराचन्जी जवानमलजा
	एण्ड कम्पनी
१	माहनलाल्जी मीठालालजी
१	एम एम जरावाला
१	, के एम कोचटा एण्ड सन्स
१	एस हस्तीमल एण्ड कम्पनी
१	, पूनमचन्दजो भूबाजो

मैसूर

(परम पूज्य प० श्री शांतिसागरजी महाराज के उपदेश से)

पुस्तक संख्या	नाम
२	सेठ श्री जवेरचन्दजी रूपाजी
१	,, बाबूलालजी ऊमाजी
१	,, सेंसमलजी भूरमलजी
१	,, केसरीमलजी पेमाजी
१	,, गुलाबचन्दजी सुमेरमलजी
१	तगराजजी हीराचन्दजी
१	,, पूजमलजी ट्रालचन्दजी
१	सेठ श्री छगनराजजी मगलचन्दजी
१	सूरजमलजी लक्ष्मीचन्दजी
१	,, जसराजजी बादरमलजी
१	,, केसरीमलजी भभूतमलजी
१	गुलाबचन्दजी नेमीचन्दजी
१	,, बाबुलालजी भवरलालजी
१	,, नेमीचन्दजी मिठाजी
१	,, तेजराजजी सजनराजजी
१	,, गणेशमलजी घेवरमलजी
१	,, रिखबचन्दजी मिठालालजी

पुस्तक संख्या	नाम

नीमच (म प्र)

१ सेठ चिमनलालजी टोकरसीभाई

भीलवाडा (राजस्थान)

१ प० श्री मूरालालजी महात्मा

१ श्रीमत नेमीचदजी जन बगुवाले

देलवाडा (राजस्थान)

१ सेठ भवानालजा सिराहिया

करनोल (आंध्र)

१ सेठ कस्तूरचदजी देवाजा

घाणेराव (राजस्थान)

२ श्री हितरक्षक ज्ञान मंदिर

शिकारपुर (शिमोगा मसूर)

१ ,, भवरलालजी चम्पालालजी गदिया

जैनधर्म पर कतिपय सम्मतियां

जैनधर्म अने संस्कृति गौरव

(गुजराती पुस्तक से साभार अनुवादित)

✦

भारत वर्ष में जैन धर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसके अनुयायी साधुओं और आचार्यों में से अनेक जनों ने धर्मोपदेश के साथ ही साथ अपना समस्त जीवन ग्रंथ रचना और ग्रंथसंग्रह में खर्च कर दिया है। बीकानेर जैसलमेर और पाटण आदि स्थानों में गाड़ियों हस्त लिखित पुस्तकें अब भी सुरक्षित पायी जाती हैं। यदि जर्मनी फ्रांस और इंगलैंड के कुछ विद्यानुरागी विशेषज्ञ जनों के धर्म ग्रंथ आदि का आलोचना न करते व यदि उनके कुछ ग्रंथों का प्रकाशन न करते और यदि वे जैनों के प्राचीन लेखों की महत्ता न प्रकट करते तो हम शायद आज भी पूर्ववत ही अज्ञान के अंधकार में ही डूबे रहते।

—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

ब्राह्मण धर्म को जैन धर्म ने ही अहिंसा धर्म बताया। ब्राह्मण व हिंदु धर्म में जैनधर्म के प्रताप से मांस भक्षण व मदिरापान बंद हो गया। पूर्व काल में अनेक ब्राह्मण जैन पंडित जैन धर्म के धुरन्धर विद्वान हो गए हैं।

—लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

यदि किसी ने भी अहिंसा के सिद्धान्त को सम्पूर्ण रूप से विकसित किया हो जीवन में उतारा हो तो वह भगवत महावीर स्वामी ही थे। परन्तु वर्तमान जनसमूह भगवत के इस सिद्धान्त का अनुसरण करता हुआ नजर नहीं आता है। मैं भगवत महावीर के शिक्षा वचनों को समझने की अपील करता हूं और भारपूर्वक कहता हूं कि इस सिद्धान्त का बराबर विचार करो और इसे जीवन में उतारो।

—महात्मा गांधी (राष्ट्रपिता)

जनों का महान संस्कृत साहित्य यदि अलग कर दिया जाय, तो म नहीं कह सकता कि संस्कृत साहित्य की फिर क्या दशा हो। जैसे २ म इस साहित्य को विशेष रूप से जानता जाता हूँ वैसे वैसे मेरा आनन्द बढ़ता जाता है इसको विशेष रूप से जानने की इच्छा होती जाती है।

—डा० हटल जमन विद्वान

महावीर ने १२ वष क तप और त्याग के पीछे अहिंसा का खूब सदेश दिया। उस समय देश में खूब हिंसा होती थी। हरक घर में यज्ञ होता था। अगर उन्होंने अहिंसा का उपदेश न दिया होता तो आज हिन्दुस्तान में अहिंसा का नाम भी न लिया जाता।

—धर्मानन्द कौसाम्बी

ई० स० पूव के प्रथम सैके में जनों के प्रथम तीथकर श्री ऋषभदेव की पूजा करने वाले लोग थे एसी प्रतीति होती है। इसमें संदेह नहीं कि श्री वधमान अथवा श्री पार्श्वनाथ के पहले भी जनधम प्रचलता था यजुर्वेद में इन तीन तीर्थंकरों के नाम आते ह। श्री ऋषभदेव, श्री अजितनाथ, और श्री अरिष्टनेमि। भागवत पुराण में उल्लेख है कि जन धर्म के आद्यस्थापक श्री ऋषभदेव थ।

—डा० सर्वपल्ली राधाकृष्ण

मैं अपने देश वासियों को दिखाऊंगा कि कसे उत्तम नियम और ऊंचे विचार जन धर्म और जनाचार्यों में हैं। जन का साहित्य बौद्धों से बहुत बढ़कर है और ज्यों २ मैं जनधम और उसके साहित्य को समझता हूं त्यों त्यों उनको अधिक पसंद करता हूं। जनधम में व्याप्त मान हुए सुदृढ़नीति प्रमाणिकता के मूल तत्व शील और सब प्राणियों पर प्रेम रखना—इन गुणों की मैं बहुत प्रशंसा करता हूं। जैन पुस्तकों में जिस अहिंसा धर्म की सिफारिश की और शिक्षा दी है उसे म यथार्थ में श्लाघनीय समझता हूं।

—डा० जोहनेस हटल, जर्मनी

भूमिका

बधुवर फतहचन्दजी ने जब इस पुस्तक की भूमिका लिखने का बार-बार आग्रह किया तो मै बडी दुविधा में पड गया कारण कि एक तो मै अपने को इस काम के लिए अधिकारी नही मानता दूसरे, मुझे इस प्रकार के ग्रथ के लिए किसी भी 'प्रशस्ति अथवा प्रमाण-पत्र' का औचित्य नही जान पडता फिर भी मै उनके अनुरोध को नहीं टाल सका। आज के भौतिकता—परायण युग में ऐसे ग्रथो का प्रकाशन करना, जिनके पीछे आर्थिक लाभ की सकीर्ण दृष्टि न होकर लोकहित की उदात्त भावना हो, यज्ञ करने के समान है और भारतीय सस्कृति की अपेक्षा है कि हमें यज्ञो में अपना योगदान देना ही चाहिए।

प्राचीन काल से हमारा देश धर्मपरायण देश माना जाता रहा है। एक समय था, जब कि इसकी सस्कृति और आध्यात्मिकता ने अन्य देशो को भी प्रभावित किया था और यह तब की बात है जबकि यातायात की सुविधाएं नही थी और एक देश का दूसरे के साथ सम्पर्क स्थापित करना बहुत ही कठिन था, लेकिन इस भूमि की विशेषता थी कि उन बाधाओ को पार कर उसका सदेश बाहर पहुचा और अनेक देशों के निवासियो की विचार धारा पर अपना असर डाला।

लेकिन अब स्थिति भिन्न है। विज्ञान की कृपा और याता-यात के साधनो के विकास से आज दुनिया बहुत ही छोटी हो गई है और कोई भी राष्ट्र अपने आप में सीमित होकर नही रह सकता।

मानना होगा कि पारस्परिक सम्पर्कों से हमारे देश को एक ओर अपने विकास का लाभ मिला तो दूसरी ओर एक हानि भी हुई। उसका झुकाव पश्चिमी विचार-धारा की ओर हो गया और वह जीवन की सफलता का मूल्याकन सांसारिक उपलब्धियों के आधार पर करने लगा। शायद यह स्वाभाविक था, क्योकि लम्बी दासता के कारण भारत की चेतना कुठित हो गई थी और वह भूल गया था कि उसकी भूमि ने भौति कता को उपासिका योग प्रधान संस्कृति को कभी महत्व नही दिया, बल्कि सदा उसके विरुद्ध ही अपना स्वर ऊंचा किया।

इसमें कोई सदेह नही कि अब हम पिछले जमाने मे नही जा सकते। आज परिस्थितिया बदल गई है और नये मूल्यो से एकदम इन्कार नही किया जा सकता, लेकिन साथ ही हमें यह नही भूलना चाहिए कि यदि हम अपनी विशेषताओं को छोड देगे तो हम उसी पंक्ति में जा खड़े होगे, जिसमें आज के पश्चिमी देश खड़े है और बड़ी अशाति अनुभव कर रहे है।

आज जब कि भौतिक आकर्षण उत्तरोत्तर बढ रहा है और हमारा जीवन अधिकाधिक बहिर्मुखी होता जा रहा है,

एमे साहित्य का प्रसार अत्यन्त आवश्यक है, जा जीवन का सही दृष्टिकाण प्रस्तुत कर सके और जो लोगो को बता सके कि हम किस माग पर चल कर अपने जीवन को धन्य और कृताथ बना सकते ह, उस परमानन्द को प्राप्त कर सकते हं, जिसके सम्मुख ससार के मारे आनन्द फीके हो उठते ह।

इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक एक अभिनन्दनीय प्रकाशन है। उसकी रचना विक्रम सवत १४७५ से १५०० के बीच हुई थी। उसके रचयिता मुनिवर सुन्दरसूरिजी उच्च कोटि के अध्यात्म यागी और विद्वान पुरुष थ। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित हाकर देश के महान् पण्डितो ने उन्हें काली सरस्वती' का विरुद प्रदान किया था। वह सहस्रावधानी थे। इस पुस्तक की रचना उन्होंने श्लोको में की है और उसके सोलह अध्याया में विभिन्न विषया का सविस्तर प्रतिपादन किया है। सबसे पहले अध्याय म उन्होंने 'समता' पर प्रकाश डाला है, क्योकि वह 'समस्त गुणों का बीज है जिसका फल मोक्ष है" वस्तुत चित्त का सम रखना आध्यात्मिक जीवन की प्रारम्भिक भूमिका है। अत विद्वान लेखक ने शुरू के ७३ पृष्ठों में उसीकी व्यापक रूप से चर्चा की है। बाद के चार अध्याया म उन्होंने क्रमश स्त्री, सतान, धन तथा देह के ममत्व की बाधाओ तथा उनके निवारण की दृष्टि प्रदान की है। मानव का सबसे बडा शत्रु प्रमाद है। उसके तथा विभिन्न कषाया के त्याग का विचार छठे और सातवें अध्यायो में किया गया है। मन शुद्धि को स्थायी रूप देने के लिए शास्त्रो

का अभ्यास आवश्यक है, इस विषय पर आठवे अध्याय में प्रकाश डाला गया है। मनुष्य का मन बडा चचल होता है, बिना उस पर नियन्त्रण किये साधना-माग पर एक पग भी आगे नही बढा जा सकता। नव अध्याय म बताया गया है कि मन को किस प्रकार वश में किया जा सकता है। दसव अध्याय में दिखाया गया है कि सासारिक वस्तुओ के पीछे पडना और अपने अह, महत्वाकाक्षा आदि की तुष्टि के लिए भटकना सारहीन है, उनकी ओर से चित्त को हटा कर वास्तविक साधना में लगाना इष्टकर ह। बाद के तीन अध्यायो मे धम शुद्धि, गुरु शुद्धि तथा यति-शिक्षा की चर्चा है। चौदहवें अध्याय में मन वचन और काय की दुष्प्रवत्ति का निरोध कर उन्ह सुमाग पर प्रवत्त करने का उपदेश है। जीवन को उत्तरोत्तर निखारने के लिए धार्मिक आचरण, तपस्या स्वाध्याय, आत्म निरीक्षण तथा शुद्ध वृत्ति अत्यावश्यक है उनका विवेचन पद्रहवें अध्याय में किया गया है। अतिम अध्याय में अविद्या त्याग, समता धारण सुख दुख की मूल-ममता का परित्याग आदि आदि बातें बताई गइ ह, अन्त में परिशिष्ट में वराग्य के कुछ दोहे, भगवान् की वाणी तथा कतिपय जीवनोपयोगी पद दिये गये ह।

प्रत्येक अध्याय में पहले सस्कृत का मूल श्लोक दिया गयाहै, फिर उसका अर्थ, अनतर उसका विवेचन, इस प्रकार मूल पुस्तक के विचारो को अधिक से अधिक सरल एव बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया है।

मूल पुस्तक का विवेचन गुजराती में बम्बई निवासी श्री मोतीचन्द भाई गिरधर भाई ने पचास वर्ष पूर्व किया था, उसीके आधार पर हिन्दी में यह विवेचन श्री फतहचन्दजी महात्मा ने किया है। 'महात्मा' प्राचीन माहण का अपभ्रंश है। माहण जाति जैनधर्मावलम्बी है और उत्तर तथा दक्षिण भारत में अनेक स्थानों मे फैली हुई है। उत्तर भारत के माहण महात्मा कहलाते हैं दक्षिण भारत के जैन उपाध्याय। इस जाति का मुख्य कार्य पठन पाठन, पूजा प्रतिष्ठा आदि है। मुझे इस बात की बडी प्रसन्नता है कि श्री फतेहचन्दजी ने अपनी जाति की परम्परा को जारी रखते हुए इस लोक हितकारी पुस्तक को बड़े परिश्रम से हिन्दी के पाठकों के लिए सुलभ किया है। उसके विवेचन में व्यक्त किये गये मत से कहीं २ असहमति की गुंजायश हो सकती है, कहीं कहीं मूल लेखक के विचार अखर सकते हैं, विशेषकर स्त्री, संतान धन आदि के ममत्व विसर्जन वाले अध्यायों में, लेकिन इसमें संदेह नही कि पुस्तक बडी ही लाभदायक है। सारी पुस्तक में विचार रत्न जगह-जगह पर बिखरे पड़े हैं, कुछ की बानगी देखिए।

जिसका न कोई मित्र है, न कोई शत्रु ही है जिसका न कोई अपना है न पराया ही है जिसका मन कषायरहित होकर इन्द्रियों के विषयों में रमण नहीं करता है वही परम योगी है।" (पृष्ठ २८)

इस संसार में वही पुरुष सुज्ञ है जो सुन्दर परिणामवाली तथा चिर स्थायी वस्तु विचार कर ग्रहण करते हैं।' (पृष्ठ ४७)

जस फासी की सजा पाये हुए चोर की अथवा वध स्थल पर से जाते हुए पशु का मृत्यु धीरे धीरे नजदीक आता जाती है, उसी प्रकार से सब की मृत्यु नजदीक आती जा रही है तो फिर प्रमाद क्या ? '
(पृष्ठ १२५ २६)

'कषायों ने तुझ पर कौन सा उपकार किया है और कब किया है जिससे तू हमेशा उनका सेवन करता रहता है ?"
(पृष्ठ १३७)

' जिस प्राणी का चित्त दुर्विकल्पों से मारा गया है उसको जप, तप आदि धर्म अपना फल नहीं देते ।"
(पृष्ठ १८८)

दूसरे मनुष्य के द्वारा की गई अपनी प्रशंसा सुन कर जिस तरह तू प्रसन्न होता है, वैसे ही प्रसन्नता यदि शत्रु की प्रशंसा सुन कर होती हो एवं जैसे स्वयं की निन्दा सुन कर तुझे दुःख होता है, वैसे ही शत्रु की निन्दा सुन कर तुझे दुःख होता हो तो वास्तव में तू विद्वान है"
(पृष्ठ २४२)

'एक छोटा सा दीपक भी अंधकार का नाश करता है, अमृत की एक बून्द भी अनेक रोगों को हर लेती है, अग्नि की एक चिनगारी भी घास के ढेर को भस्म कर देती है उसी प्रकार धर्म का अल्प अंश भी यदि शुद्ध हो तो पाप का नाश कर देता है"
(पृष्ठ २५०)

इस प्रकार की विचार मुक्ताओं से यह पुस्तक भरी पड़ी है।

हमें विश्वास है कि इस उपयोगी पुस्तक का सर्वत्र स्वागत होगा और इसके पठन-पाठन से पाठक अपने को लाभान्वित करेंगे।

७/८, दरियागंज, दिल्ली
१५ अक्तूबर १९५८

—यशपाल जैन

दो शब्द

(ग्रन्थ एव 'माहण जाति' विषयक)

ससार सब प्रकार के रसो और अनेक प्रकार के सुखो से भरपूर होने पर भी हमारे प्राचीन महात्माओ ने इन स्वादु रसो को कुरस और इन मधुर सुखो को क्षणिक कहा है।

ससार को बादल नगरी जैसा और सुखो को इन्द्रधनुष जैसा अन्तरगी कहा है। उन्होने पृथ्वी का एक पुल की उपमा दी है और मनुष्य को मुसाफिर कहा है। क्षणिक सुख में लुब्ध होने का अर्थ है मुसाफिर का पुल पर मकान बनाने का विचार करना। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को जैसे बने वैसे सावधानी से जरा भी थके बिना या डरे बिना, पुल को पार करके अपने मजल मकसूद पर पहुचना चाहिए।

पुल अनेक प्रकार के हो, मुसाफिर भी अनेक प्रकार के हो, इसी प्रकार से अनेक धर्म, मजहब, सम्प्रदाय और फिरके मौजूद हो, परन्तु इनके द्वारा भिन्न रुचि वाला मनुष्य ससार सरिता को पार कर जाय। चतुर मनुष्य कभी कच्चा पुल पसद न करे, अविश्वस्त पुल पर विश्वास न करे यह तो सब मान्य है। जिसने ससार रूप दुस्तर सरिता को पार करने के लिए सुन्दर और विश्वस्त पुल पसद किया है उसे धन्यवाद है।

विमान के इस युग में, एटमबम के इस जमाने में भौतिक सिद्धियो पर मगरूर रहने वाले लोग हसकर उस पुल पर से पार होने वाले लोगा की मजाक करते ह। वे कहते हैं कि आज ये तुम्हारे पुल और तुम्हारी मुसाफिरी की य झझट निकम्मी ह। देखो! हमार विमान देखो!

ये कहते ह कि छोडो ये तुम्हारी आत्मा की अध्यात्म की व अगम्यवाद की बातें। ससार ता मिष्टता का मधुकुज है और इसी मधु की तुम निंदा करते हो? स्वग, स्वग करते हो! तो फिर स्वग जसी इस पृथ्वी का ही स्वीकार करो न। पृथ्वी के सुख में ही वृद्धि करा न।

ये कहते हैं पृथ्वी पर धान्य के ढेर ह, दूध है, दही है, पय है, दूसरी झझट छोडकर उठो न! भोगा जितना अपना।

ये कहते ह धरती पर महल है, भवन है। नसीब से धन-दौलत, दास-दासी, स्वजन कुटुम्बी मिले ह। मौज करो बदे। रात को, विलास पूण निद्रा से और दिन को मौज से बिताओ।

जवानी है, नसो में उत्साह है, उमगो की लहरें उठती हं। हाथ आकाश को बाथ में भरने के लिए और पर पृथ्वी को नापने के लिए आतुर हो रहे ह। जीवन की बसत लूट लो। रोने पीटने के लिए बुढापा कहा नहीं है?

तुम भय, भय करते हो, परन्तु मनुष्य के सिर पर धन का, यौवन का, समाज का, राज का, बलवान का भय क्या नही है? डरते हुऐ को अधिक डराने की यह जरूरत कसी?

पुल से डरो नही, सरिता स चमको नही, आग बढ़ो। भौतिकवाद ने जगत को साधनो से, आराधना से व सुखा से परिपूर्ण कर दिया है।

परन्तु प्राचीनकाल का पुजारी आत्मा कहता है नही, नही, इसमे ससार म दु खा का उदभव हुवा है। विमान हं, फिर भी अभी तक समय पर न पहुचने का असतोष है। धन है फिर भी दरिद्रता दिन का जकड कर बठी है। सुख है, फिर भी वह दु ख के बीज जमा है। समस्त ससार तुम्हारी भौतिक यामता (देना) से त्रस्त हो उठा है। प्रतिस्पर्धा, हिंसा, वमनस्य, एक दूसरे के साथ छीना झपटी की नोयत घर करके बठ गई है। मनुष्य मनुष्य का विरोधी बना हुवा है। देश पक्षो में विभक्त हो गया है। कलह के मूल इसीमे अकुरित हुए ह। विश्व अपनी और पराई मृगजल सभी छलवृत्ति में पड गया है युद्ध के दरवाजे खटखटा रहा है। ससार का साहित्य पढ़ो समाचार पत्र देखो, भाषण सुनो द्वेष, ईर्षा और युद्ध की चिनगारिया मानो इसमें से झरती रहती हं, चारो तरफ मानो मुर्दे पडे ह और मातम पोश (अग्नि सस्कार करने वाले) इनको हाय हाय पुकार रह हं।

ससार समय समय पर भूल भुलया में पडता है और समय समय पर इसे जगाने के लिए महा गुरू आते ह। आज भौतिकवाद का पुजारी जमाना फिर से नई भूलभुलया में पडा है।

इस वक्त हमें एक प्राचीन आवाज सुनाई देती है —

आहार निद्रा, भय मैथुन च
सामान्य मेतत्पशुभिनराणाम् ।
धर्मोऽहि तेषामधिको विशेष
धर्मेण हीना पशुभि समाना ॥

खाना-पीना और खेलना, मौज करना, आराम करना और स्वर विहार करना, इसमें मानव जैसे मानव की बडाई नहीं है कारण वि जानवर भी इसी कम को आवरते है और मौज करते हैं। अर्थात मूनन पशु जसा मनुष्य पशु से मात्र धम के कारण से ही अलग पडता है। यदि धम न हो तो पशु और मनुष्य में कुछ भी फव नहीं है।

यह धम क्या है ? यह इस प्रस्तुत ग्रन्थ, "अध्यात्म-कल्पद्रुम" में बताया गया है। धम का रूप क्या है, इसका स्वरूप क्या है, मनुष्य किस प्रकार से इसका आचार कर सकता है और जीव इस भयकर पृथ्वी पर सतोषी और सुखी कसे हो सकता है? इसका इस ग्रथ में विशदता से वणन किया गया है। हम आस्वादन कर इसका स्वाद पाठको को चखावे इसकी अपेक्षा पाठक स्वय इसका आस्वादन कर यही पथ्य एव उत्तम है।

यह ग्रन्थ वास्तव में वतमान युग के सतप्त प्राणी के लिए शाति देने वाली और विवेक जागृत करने वाली शीतल प्याऊ है। सरस्वती के साक्षात अवतारसम श्री मुनि सुन्दर सूरिजी की यह कृति है। श्री मुनि सुदरसूरिजी सुप्रसिद्ध 'संतिकर स्तवन' के कर्त्ता के रूप में ख्याति प्राप्त हैं। यह कृति भी मंत्राक्षर जैसी प्रभावशाली है।

ग्र'थ और ग्र'थ कर्त्ता के विषय में इतना लिखने के पश्चात इस ग्र'थ को देव नागरी भाषा म लिखकर सवजन सुगम करने वाले श्री फतेहच'दजी महा'मा के विषय में भी थोडा सा उल्लेख करना आवश्यक है। आप जा ह साथ में 'माहण' हं। माहण का शुद्ध अथ है ब्राह्मण। इस 'ब्द के साथ ही इस जाति की उत्पत्ति का इतिहास मुभे याद आता है जिसका उल्लेख मन अपने सद्य प्रकाशित उप'याम "चक्रवर्ती भरतदेव' भाग दो में किया है।

घटना ऐसे है कि चक्रवर्ती बनन पर भी भरतदव का हृदय योगी का था। हमारे अनुभव की बात है कि राज्य करण अच्छे २ मनुष्यो का लक्षबिन्दु भुला देता है, करने का भूला जाता है और न करन का करा उठता है।

इस विषय में अपनी सतत जागत रह अत चक्रवर्ती भरतदव ने राज्य के अत तप करने वाले भोगकुली विद्वाना को बुलाया और उनसे कहा कि आज से आप मेरे उपदशक। आप मुझे सदा, कहा करें कि—

जितोभवान वद्धते भय तस्मात।
माहन माहन ॥

हिंसा न करो, न करो, भय बढरहा है।

हिंसा किसकी ? जगत की ? नही! नही स्वय के आत्मा की और भय कोई पर राष्ट्र की चढाई का नही आत्मा की लघुता का।

यह वग तब से "माहण" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस

माहण शब्द का विशेष उल्लेख चरम श्रुत केवली श्री भद्र बाहुस्वामी विरचित 'कल्पसूत्र' में उपलब्ध है, जहां कुल गुरू भगवान व उनकी माता को सूय चन्द्र के दर्शन कराने की विधि कराते हैं।

माहण जाति ने जन समाज को प्राचीन काल में कई विद्वान् मुनि पुगव व राज्यकार्य कर्त्ता भी अर्पण किए थे। कल्पक, शकटार, स्थूलिभद्र श्रीयक, यक्षा, यक्ष दिन्ना, सेणा वेणा, रेणा, आदि इतिहास प्रसिद्ध हैं। वर्तमान में भी कन्नड के कवि पप के लिए आपने धर्मयुग अंक २६, जुलाई ५६ में पढा ही होगा।

श्री लक्ष्मीप्रधानजी गणि ने रत्नसागर पृष्ट ६ तथा आचार रत्नाकर पृष्ट २३ म इस विषय का, प्रतिपादन विस्तृत रुप से किया है। इसम चार जन वेद उनके अधिकारी जैन-ब्राह्मणों का आचार विचार, उनके कर्त्तव्य, उनके द्वारा कराये जाने वाले एव षोडष सस्कार आदि का वर्णन इसमें है।

श्री आत्मारामजी महाराज साहब कृत जन तत्त्वादर्श भाग दो पृष्ट ३८४ में भी इस विषय का प्रतिपादन है। उत्तर भारत में प्राय इनके ५०० और दक्षिण भारत में लगभग १००० घर हैं जो माहन, गृहस्थगुरु, गुलगुरू, महात्मा, वुड्ढ सावय कहलाते हैं। प्राचीन काल से इनको प्रतिष्ठा कई राजा महाराजा अपने गुरु तरीके से करते आये हैं जिनके कई ताम्रपत्र उपलब्ध हैं। मैसूर में जन ब्राह्मण छात्रालय एक आदर्श सस्था है।

इस प्रकार से माहण गोत्र का जैन धर्म में खूब महत्व है और इन्हीं महाणा लोगों ने ही अहिंसा-सत्य के प्रचार में सदा साथ दिया है। समाज इनकी तरफ लक्ष्य दे तो ये बहुत उपयोगी हो सकते हैं। जैन पण्डितों का निर्माण हो सकता है विवाह की विधि कराने के लिए जैनेतर पण्डितों का मुंह न ताकना पड़े, यह इन्हीं का आधार है।

यह सब तो प्रसंगोपात्त निर्देश हुआ, परन्तु श्री चन्द्रचन्दजी महात्मा ने इस उपकारी ग्रन्थ का अपने विवेचन द्वारा समाज में सरल और सर्व सुलभ बनाया है अतः वह धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है कि भविष्य में वह ऐसा ही साहित्य समाज के समक्ष रखते रहेंगे और अपने "माहण" पद को उज्ज्वल करते रहेंगे।

२७-६ ५८
पद्मनगर सोसायटी
अहमदाबाद ७

जयभिक्खु

अध्यात्म कल्पद्रुम

ग्रन्थ तथा ग्रन्थकर्ता

जैसे कल्पवृक्ष वांछित फल का दाता है वैसे ही यह ग्रन्थ भी आध्यात्मिक वांछित फल–मोक्ष का दाता है। इसमें ऐसे विषय क्रमशः लिए हैं जो आत्मा में उत्तरोत्तर शांति प्रदान करते हुए ध्येय की तरफ ले जाते हैं। आत्मा का विषय कठिन होने से प्रायः मनुष्यों की मनोवृत्ति इससे दूर रहने की रहती है, परन्तु एक बार इस ग्रन्थ को मन लगाकर अवलोकन करना प्रारंभ करने से इसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है। मानव को अपनी वास्तविकता का भान होने लगता है और उसे अपने विषय में विचारने का अवसर प्राप्त होता है, उस पर छाए हुए कुटुम्ब व संसार के लुभावने बादल फटने लगते हैं और वह ज्ञान सूर्य की पतली सी किरण द्वारा शरीर के अन्दर रहे हुए स्वामी को देखने का अनुभव करने लगता है। ज्यों ज्यों वह इस ग्रन्थ को पढ़ता है त्यों त्यों उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है और वह आत्म जागृति की ओर बढ़ता है, यही इस ग्रन्थ की सार्थकता है।

यह ग्रन्थ आत्मा से सम्बन्धित है अतः इसमें किसी भी तरह का धार्मिक पक्षपात या जातीय वर्गीकरण नहीं है, सब जीवों के समान हित की दृष्टि से यह लिखा गया है। इसकी

रचना विक्रम सवत १४७५ से लेकर १५०० तक होने की सभावना श्री मोतीचन्दजी भाई ने लिखी है जिसको पाच सौ वप से ऊपर हो चुके ह।

ग्रथ स्वय ही चिन्तामणि रत्न स्वरूप है। सस्कृत के विद्वानो के लिए श्लोक ही पर्याप्त ह केवल हिन्दी के ज्ञाताम्रो के लिए ग्रथ उपयुक्त है लेकिन सवसाधारण के लाभ के लिए विवेचन भी हितकर हो सकता है।

ग्रथ के कर्ता—श्री मुनि सुन्दरसूरीश्वर

आपका ज म वि० स० १४३६ में हुवा। ज मस्थान माता पिता आदि का वणन उपलब्ध नही है। मात्र ७ वप की आयु में सवत १४४३ में आपने जन धम की दीक्षा ली थी। स० १४६६ में उपाध्याय पदवी तथा स० १४७८ में सूरि पदवी श्री सघ न अपण की। आप, श्री सोमसुन्दर सूरिजी के पट्टधर बने। दीक्षागुरु श्री देव सुन्दरसूरि थे या श्री सोम-सुन्दरसूरि थे यह अभी तक निर्विवाद सिद्ध नही हुआ है। श्री देवसुन्दर सूरि उग्र पुण्य प्रकृति वाले थ जिनको वि० स० १४४२ मे आचायपद मिला और स० १४५७ में काल धम पाए जोकि सुधमास्वामी से पचासवें गच्छाधिपति थे। इनके पाट पर श्री सोमसुन्दर सूरि बठ। श्री सोमसुन्दर सूरि का स्वगगमन वि० स० १४९९ में हुवा और श्री मुनि सुन्दसूरि पाट पर बठे। आपका स्वगगमन वि० स० १५०३ में हुआ। इस विपय की विशेप जानकारी "सोमसौभाग्य काव्य" से करें।

आप श्री म तीन शक्तिया एक साथ विद्यमान थी, यह एक असाधारण बात है। स्मरण शक्ति, कल्पना शक्ति, और न्याय शक्ति। इन तीनो का एक साथ होना प्राय अनहोनी बात है। आज कल कई मुनिराज अवधान के प्रयोग करते हैं जिसकी सीमा १०० तक होती है और वे शतावधानी कहलाते हैं, परन्तु श्री मुनि सुदरसूरीश्वरजी तो सहस्त्रावधानी थे। इसे स्मरण शक्ति की प्रबलता की पराकाष्ठा ही समझें। दक्षिण देश के अन्य धाम के विद्वानो ने "काली सरस्वती" का पद (विरुद) अपण किया था जो कवित्व शक्ति का अदभुत चतुरता का द्योतक है। तर्क-न्याय की निपुणता के लिए मुज्फ-फर खान बादशाह ने, "वादीगुलपढ" का विरुद अपण किया था। ऐसे महान् विद्वान, व आत्मज्ञानी के द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया है अत यह कितना उत्तम व हितकर है यह तो पाठक स्वय ही सोच लेंगे।

सतिकर स्तवन—जैनस माज में नवस्मरण का बहुत महत्व है। प्रत्येक धार्मिक काय म इसका पाठ होता है, कोई २ पुण्य शाली तो प्रति दिन इनका पाठ करते हैं। इन नौ में से तीसरा स्मरण, "सतिकर" है। इस स्तवन की रचना भी आप श्री ने ही देवकुलपाटक म की थी।

देलवाडा—देलवाडा (मेवाड-राजस्थान) या देवकुलपाटक नगर म सघ में अकस्मात मरकी के उपद्रव से पीडित लोगो को देख कर अत्यत करुणा वाले महा मा मुनि सुदर सूरीश्वर जी ने सूरि मत्र की आम्नाय वाला श्री शान्तिनाथ जिनका

स्तोत्र रचकर मरकी की उपशांति की।

यह गाव देलवाडा, उदयपुर से नाथद्वारा जाते समय बीच में १७ मील की दूरी पर है। दिन म १०-१२ मोटरें आती जाती ह। पहले यहा ३०० जन मदिर थ, नगरी बहुत रमणीय या धमध्वजाओं की शोभा अपूर्व था। इसका पूरा इतिहास विजययमसूरीश्वर न लिखा है। अब वहा ४ जन मन्दिर ह। गाव में प्रवेश करते ही पहले श्री पाश्वनाथ प्रभु का, समीप ही श्री महावीर स्वामी का मदिर है। बाजार स सीधे राजमहल की तरफ जाने आदिनाथ प्रभु का मदिर आता है, और बाजार को पार करके चौथा भी श्री आदिनाथ प्रभु का मदिर आता है। इन चारों में से श्री महावीर स्वामी का मदिर उपाश्रय म है, बाकी के तीनों मदिर बावन जिनालय के गगनचुम्बी शिखरा वाले ह। श्री आदिनाथ प्रभु के सब से बड़े मदिर को खरतर वसही कहते ह। यह मदिर बहुत ही भव्य, रमणीय व विशाल है। मूलनायकजी की प्रतिमाजी इतनी मनोहर है कि जिसका वणन लेखिनी नही कर सकती। परिकर की रचना श्री केशरियाजी के मदिर के मूलनायकजी के सदृश है। श्वेतपाषाण की यह प्राचीन प्रतिमा आजाद है। श्री पाश्वनाथ जनालय की रचना भी वसी है, प्रवेशद्वार के दाए तरफ ऊपर एक छोटा मदिर और है जिसमें भी मूल नायक श्री पाश्वनाथजी ही ह। इस मदिर के नीचे एक भायरा है जिसमें बहुत ही प्राचीन विशाल श्वेत पाषण की १६ प्रतिमाजी ह। राज महल के समीप वाला मदिर भी ऐसा ही विशाल है। हाय! काल के विकराल काल से कौन बच सकता है, किसी समय

यह नगरी नदनवन समी देव पुरी या अमरपुरी सदृश थी आज *मूर्ति विरोधी समाज के प्रभाव से यह धर्म विहोणी हो रही* है। मदिरा की दुदशा है, देवरिया प्राय खाली पडी है, उनकी मतिया वहा के सघ ने बाहर नक्रे पर देकर भव्य स्थानका की रचना की है, सेवा पूजा करने वालो के अभाव से पुजारियो के भरासे भगवान रह रहे ह, शिखरा पर ध्वजाए नही ह, कोई २ प्रतिमाजी खण्डित हं। देव पूजक नरा के *अभाव म वानर व चामचिडिया को प्रभुत्व है। यह दशा इस* समय इस प्राचीन नगरी की है। हे पुण्यशाली दानवीरो धम वीरो और धम गुरुओ इस तरफ आप लक्ष दो आपसे यह प्राथना है। *श्री सोमसुदर सूरि व श्री मुनिसुन्दर सूरि की विहार* भूमि, निंब, विसल, साहण जैसे श्रावको की जन्मभमि, दयजी, रतनजी, मियाचन्दजी जैसे प्रभावशाली जन ब्राह्मणा (माहण-*महात्मा) की पवित्र जन्मभूमि इस देलवाडे की दुदशा पर* आज खेद होता है। यही पुण्य पवित्र व धम नगरी मेरी भी जन्मभूमि है। इस नगरी के राज्य गुरु राज्यज्योति श्रोलालजी महात्मा मेरे पिताजी हं। मेरे घर पर एक अंबिका माता की मूर्ति है जिसके मस्तक पर श्री नमिनाथ प्रभु की छोटी सी मूर्ति बनी है उस पर वि० स० १४७६ में प्रतिष्ठित होने का लेख है।

इस प्रान्त में प्राचीन माहण जाति के लगभग ४०० घर ह जो *धर्म से जन व वण से ब्राह्मण हं जिन्ह आज "महात्मा"* कहते हैं। ये शुद्ध देश विरतिधर वृद्ध श्रावक हैं। श्री लक्ष्मी-प्रधानजी *गणि ने रत्नसागर पृष्ट ६ व* आचार रत्नाकर पष्ट

२३ पर इनकी उत्पत्ति, इनका आचार, क्रिया, कर्म आदि का वर्णन किया है। इनके पूर्वज भरत राजा को चेतन करते रहते थे कि, "जितोभवान वर्द्धते भय, माहण माहणति" इसीलिए इस जाति का नाम माहण या महात्मा कहलाया। विशेष जानकारी के लिए मेरे द्वारा प्रकाशित पुस्तकें (१) आत्म-मार्गदर्शिका, (२) पार्श्वनाथ चरित्र (३) जैन तीर्थ मित्र—राजस्थान व मध्यप्रदेश के जैन तीर्थों की मार्गदर्शिका (४) श्री केशरियाजी जैन गुरुकुल भजनावली देखें। कल्पक, शकटाल, स्थूलिभद्र, श्रीयक, चाणक्य आदि जैन माहण महात्मा थे।

देलवाड़ में एक जैन धर्मशाला है मूर्तिपूजक श्रावक के घर कम हैं। स्थानकवासी भाइयों के करीब १०० है जो प्रति दिन दर्शन करते हैं। पास में नागदा प्राचीन नगरी है जहां शांतिनाथ प्रभु का मंदिर है। जैन तीर्थ मित्र में यह सब वर्णित हैं।

श्री मुनिसुंदर सूरीश्वर ने अनेक शास्त्रों की रचना की जिनमें से कुछ का उल्लेख श्री मोतीचन्द भाई ने किया है वह निम्नलिखित है—

(१) त्रिदश तरंगिणी—इसमें चौवीस तीर्थंकरों का चरित्र और सुधर्मा स्वामी से मूलपाट पर बैठे हुए आचार्यों का, नाम निर्देश है।

(२) उपदेश रत्नाकर—इसमें उपदेश देने की विधि, उपदेश ग्रहण करने वाले की योग्यता अयोग्यता के लक्षण आदि हैं।

(३) अध्यात्म कल्पद्रुम—यह ग्रन्थ स्वयं।

(४) स्तोत्र रत्न कोष—सूरिजी के बनाए हुए स्तोत्रों का संग्रह।

(५) मित्रचतुष्क कथा—चार मित्रों की उपदेशप्रद कथा का ग्रन्थ।

(६) शाँतिकर स्तोत्र—इसका वर्णन पीछे दिया है।

(७) पाक्षिक सित्तरी—यह लगभग २२ गाथा का छोटा प्रकरण है जिसमें पाक्षिक पर्व चतुर्दशी के दिन करना चाहिए यह बताया है।

(८) अंगुल सित्तरी—ऊपर के जैसा यह भी छोटा सा प्रकरण है।

(९) वनस्पति सित्तरी—ऊपर के जैसा यह भी छोटा सा प्रकरण है। इसमें प्रत्येक व साधारण वनस्पति के लक्षणादि का वर्णन संभव है।

(१०) तपागच्छ पट्टावली—तपागच्छ की पट्टावली के सम्बन्ध में।

(११) शांतरस रास—गुजराती भाषा में शांतरस का यह रास है।

श्लोकों की परिभाषा

अनुष्टुप या अनुष्टुभ–प्रत्यक पद में आठ अक्षर होते ह। दूसरे तथा चौथे पद का सातवा अक्षर ह्रस्व होना है। पहले तथा तीसरे पद का सातवा अक्षर दीर्घ होता है।

स्वागता वृत्त–११ अक्षर। स्वागता रनभगगुरुणा च। (३ ८)

आर्यावृत्त–चार चरण होत ह। अनुक्रम म १२, १८, १२-१५ मात्रा होती ह।

उपेन्द्रवज्रा–११ अक्षर। उपेंद्रवज्रा पथमे लघौसा। (४ ६)

वंशस्थ या वंशस्थविल वृत्त–प्रत्यक चरण में १२ अक्षर होते ह। वदंति वंशस्थविल जतौजरौ। (५ ७)

उपजाति–प्रत्येक चरण में ११ अक्षर होते हैं। इद्रवज्रा और उपेंद्रवज्रा के एक ही श्लोक में मिलन से यह छद बनता है।

वसंततिलका–चौदह अक्षर होते ह। उक्ता वसंततिलका तभजा जगौग (८ ६)

शार्दूलविक्रीडित–इसमें १६ अक्षर हात ह। म स, ज, स, त, त तथा ग। सूया श्वैयदिम सजौस ततगा शार्दूलविक्रीडितम।

मृदग–इसम १५ अक्षर होते ह। त, भ, ज, ज, त्भौ जौ रा मृदग

आर्यागीति–चारो पदो म अनुक्रम स १२, २०, २२, २० मात्राए होती ह।

सर्वोपयोगी पुस्तकों के लेखन व प्रकाशन का लाभ देकर कृतार्थ करें।

अभी सुलभ कुल पुस्तकें —

आत्म मार्गदर्शिका — मूल्य ७५ नए पैसे
श्री के० जैन गुरुकुल भजनावली — ७५ „
श्री पार्श्वनाथ चरित्र एवं पौषदशमी कथा „ — २५ „
श्री जैन तीर्थ मित्र (मध्यप्रदेश व राजस्थान के जैन तीर्थों की गाइड) — ३७ „
श्री अध्यात्म कल्पद्रुम — पांच रु ५) रु०
(मात्र २५० प्रतियां शेष हैं)

पुस्तकें मिलने का पता —
फतहचन्द महात्मा
मैनेजर

(१) श्री सातवीसदेवरी जैन मंदिर किला चित्तौडगढ़ (राज) (२) श्री जैन धर्मशाला स्टेशन चित्तौडगढ़
(३) दी महात्मा मोटर स्टोर्स, हाथीपोल बाहर, उदयपुर
(४) श्री मेघजी हीरजी गोडीजी चाल, गुलालवाडी नाका, बम्बई २
(५) हिन्दी साहित्य मंदिर ब्रह्मपुरी, अजमेर
(६) जोब प्रिंटिंग प्रेस, ब्रह्मपुरी, अजमेर

॥ ओ३म् अर्हम् ॥

ओ३म् परमात्मने नम

अध्यात्मकल्पद्रुमाभिधान ग्रंथ:

सविवरणः प्रारभ्यते

अथ प्रथम समताधिकार

अथायं श्रीमान शातनामा रसाधिराज सकलागमादिसु शास्त्राणवोपनिषदभूतसुधारसायमान ऐहिकामुष्मिकानतानद सदोहसाधनतया पारमार्थिकोपदेश्यतया सर्वरससारभूतत्वाच्च शांतरसभावनाध्यात्मकल्पद्रुमाभिधानग्रथातरग्रथननिपुणेन पद्य सदर्भेण भाव्यते ॥

अर्थ - सब आगम आदि सुशास्त्र रूप समुद्र के सारभूत अमृत समान रसाधिराज शात रस का जो कि इस लोक और परलोक सबधी अनत आनद समूह की प्राप्ति का साधन है पारमार्थिक उपदेश देने म योग्य होने से एव सब रसो म सारभूत होने से शात रस की भावना वाले अध्यात्मकल्पद्रुम

अथ मगलाचरण-शांतरस-समताधिकार

जयश्रीरातरारीणा लेभे येन प्रशातित ।
त श्री वीर जिन नत्वा, रस शातो विभाव्यते ॥१॥

अर्थ—जिन श्री वीर प्रभु न, उत्कृष्ट शान्ति द्वारा अतरग शत्रुग्रो को जीतकर मुक्ति रूप विजयलक्ष्मी प्राप्त की उन श्री वीर परमात्मा को नमस्कार कर शात रस की भावना भाता हूँ ॥ १ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—सगमदेव के एक रात्रि म २० उपसग सहन वाले, चडकौशिक जसे दष्टि विषधर सप द्वारा डसे जाने वाले, शूलपाणि के पूरी रात्रि के विकट उपसर्गो को सहने वाले गोशालक के तेजोलेश्या क उपसग का सहन वाले महावीर प्रभु कस गभीर व शात चित्त थे यह तो कल्पना करन स ही प्रतीत हो सकता है । अति असहनीय कष्ट देन वाले पर भी अखड शान्ति रखने का आन्तरिक मनोबल कितना दढ है जिसकी तुलना नही की जा सकती है। अत ऐसे वीर परमात्मा का नाम स्मरण कर शात रस भावना भाने का प्रयत्न किया गया है ।

किसी भी शब्द मात्र को ग्रहण कर उसपर पूरा प्रयोग करने को निरुक्ति कहते ह अत कितन ही शब्दो का व्युत्पत्ति से अर्थ न होकर प्रयोग से ही होता है। वीर शब्द के लिए निरुक्ति करते हुए विद्वान कहते ह —

विदारयति यत्कम, तपसा च विराजते ।
तपो वीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृत ॥

अर्थात जो कम का नाश करता है, तपस्या द्वारा शाभित

नाम के प्रकरण में उस भावना का व्यक्त करने म निपुण पद्य बध के द्वारा वणन करता हूँ ।

विवेचन—सभी आगम आदि सत् शास्त्रा के सारमय नवनीत समतत्त्व का शात रस की उपमा दी है, वह अमृत समान है एव रसाधिराज है । मधु, तिक्तादि पौदगलिक रस तो नष्ट हो जाते ह जब कि शातरस अमरत्व को प्राप्त करता है अत इसे अमृत की उपमा दी है । यह रस इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख का पद होने से अध्यात्मकल्पद्रुम नाम के ग्रथ के अन्तगत ममता नामक अधिकार में बहुत गभीर शब्दा में पद्यबध रचना क द्वारा इसका (श्लोको में) वणन किया है । इसके लिए इसी ग्रथ के लेखक फरमाते ह ।

स्वग सुखानिपरोक्षण्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्ष प्रशमसुख न परवश न च व्ययप्राप्तम् ॥

अर्थात स्वग का सुख परोक्ष है और मोक्ष का सुख तो इससे भी अधिक परोक्ष है । प्रथम सुख (शाति का सुख) प्रत्यक्ष है, और इसे प्राप्त करने में एक पसे का भी खच नही होता है और वह परवश भी नही है ।

चार पुरुषार्थों में मोक्ष परम पुरुषाथ है और उसके अधिकारी सहस्रावधानी, प्रत्यक्ष सरस्वतीरूप सोमसुदर सुरि के पट्टधर 'काली सरस्वती' बिरुद धारक युगप्रधान तपगच्छ नायक सतिकर स्तोत्र क रचयिता मुनि सुन्दरसूरि ने इस ग्रथ की रचना की है ।

अथ मगलाचरण-शांतरस-समताधिकार

जयश्रीरांतरारीणां लेभे येन प्रशान्तित ।
तं श्री वीर जिन नत्वा, रस शातो विभाव्यते ॥१॥

अर्थ—जिन श्री वीर प्रभु ने, उत्कृष्ट शांति द्वारा अतरग शत्रुओं को जीतकर मुक्ति रूप विजयलक्ष्मी प्राप्त की उन श्री वीर परमात्मा को नमस्कार कर शात रस की भावना भाता हूँ ॥ १ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—सगमदेव के एक रात्रि म २० उपसर्ग सहन वाले, चडकौशिक जैसे दृष्टि विषधर सर्प द्वारा डस जाने वाले, शूलपाणि के पूरी रात्रि के विकट उपसर्गों को सहन वाले, गोशालक के तेजोलेश्या के उपसर्ग को सहन वाले महावीर प्रभु कैसे गभीर व शात चित्त थे यह तो कल्पना करने में ही प्रतीत हो सकता है। अति असहनीय कष्ट देने वाले पर भी असंड शांति रखने का आतरिक मनोबल कितना दृढ है जिसकी तुलना नहीं की जा सकती है। अत ऐसे वीर परमात्मा का नाम स्मरण कर शात रस भावना भाने का प्रयत्न किया गया है।

किसी भी शब्द मात्र को ग्रहण कर उसपर पूरा प्रयोग करने को निरुक्ति कहते हैं, अत कितने ही शब्दों की व्युत्पत्ति से अर्थ न होकर प्रयोग से ही होता है। वीर शब्द के लिए निरुक्ति करते हुए विद्वान कहते हैं—

विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजते ।
तपो वीर्येण युक्तश्च, तस्माद्वीर इति स्मृत ॥

अर्थात जो कर्म का नाश करता है, तपस्या द्वारा शोभित

है। तप और वीर्य सहित होने से 'वीर' कहलाता है। व्युत्पत्ति से भी देखें कि—*विशेषेण ईरयति प्रेरयति कर्माणीति वीरः।* अर्थात् जो कर्मों को प्रेरित करता है, धक्का मारता है, आत्मा से अलग करके उन्हें निकाल फेंकता है वह 'वीर' है। ऐसे श्री वीर परमात्मा को नमस्कार करके मंगलाचरण किया है।

आज हम अपने व्यवहारिक जीवन में प्रत्यक्ष देख रहे हैं और भुगत रहे हैं कि हमारे शत्रु और मित्र किस तरह कार्य कर रहे हैं। भौतिक कारणों द्वारा दंड शिक्षा या सजा द्वारा जीते हुए शत्रु बढ़ते हैं, घटते नहीं हैं। *अग्नि से अग्नि* बढ़ती है अर्थात् क्रोध मान माया लोभ आदि के द्वारा शत्रुओं की वृद्धि होती है, कमी नहीं होती, परन्तु जिस प्रकार जल द्वारा अग्नि शांत होती है उसी प्रकार शांतरस के द्वारा, समता द्वारा बाहर के व अंदर के शत्रु जीते जा सकते हैं। उसी शांतिरस द्वारा महावीर प्रभु ने आत्मशत्रुओं को, कषाय तथा अष्ट कर्मों को जीता, अतः उनको नमस्कार कर उनका अनुकरण करना चाहिए जिससे शांतरस की प्राप्ति हो।

महावीर स्वामी—महावीर प्रभु आज से २५५५ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला १३ के दिन बिहार की वैशाली नगरी में सिद्धार्थ राजा के घर त्रिशलारानी की कुक्षी से जन्मे। यशोदा से विवाह हुआ। एक पुत्री प्रियदर्शना नामक हुई। जन्म से दयालु व वैराग्यवान थे। यज्ञ हवन में धर्म के नाम पर होते हुए मूक पशुओं के बलिदानों ने उन्हें संसार के कल्याण के लिए ३० वर्ष में ही गृह त्याग करने को विवश किया। १२ वर्ष तक अनेक कष्ट सहन कर तप किया। इतने बड़े समय में उन्होंने

३४६ दिन भोजन किया एव ४८ मिनट ही (एक मुहूर्त तक) नींद ली। तप सयम द्वारा, आत्म मनन कर केवल ज्ञान प्राप्त कर दुखी जीवों को सच्चा मार्ग बताया। तपस्या काल में, किसी ने उनके पैरों पर खीर पकाई, कानों में कीले गाड, साँपों ने काटा, चोरों ने मारा, देवों ने अनेक उत्पात किए, हथौडा की चोट सिर पर मारी, सिंह, हाथी आदि ने कष्ट दिया। सबको शाति से सहन किया। तभी सब कर्मों से मुक्त हुए। पश्चात ही करुणाकारी प्रभु ने भव में भटकते हुए, भान भूले हुए, पापरत प्राणियों को बोध दिया, "आत्म-शक्ति को पहचानो", "कर्मों के ससर्ग से आए हुए मल को दूर कर सच्चा सुख प्राप्त करो, प्रत्येक प्राणि में अनत शक्ति है उसे पहचान कर उपयोग में लाओ। परम सुख मिलेगा।" ७२ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर कार्तिक कृष्णा अमावस्या दीपमालिका को सब बधनों से मुक्त हो पावापुरी में मोक्ष गामी हुए। तर गए और तार गए।

अनुपम सुख के कारण भूत शातरस का उपदेश

सर्वमगलनिधौ हृदि यस्मिन्, सगते निरुपम सुखमेति।
मुक्तिशर्म च वशीभवति द्राक् त बुधा भजत शातरसेद्रम् ॥२॥

अर्थ—'जिसके हृदय में सब मगलों के निधान (खजाना) जैसा शातरस प्राप्त हो जाता है वह अकथनीय सुख प्राप्त करता है एव मोक्ष के सुख का वह अधिकारी (स्वामी) हो जाता है। मोक्ष उसके वश में हो जाता है। हे पडितो! आप उस शातरस का पान करो। उसे भजो-सेवो भावो'॥२॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—अनेक शास्त्रो को पढ़ने में, डिगरिया हासिल करने में, भाषण देने में या वादविवाद करने में ही पाडित्य नही है कारण कि इससे आत्मा का वास्तविक हित नही होता है। सच्चा पडित तो वही है जो भाषा ज्ञान या शास्त्राध्ययन द्वारा आतरिक शक्ति को पहचानने का प्रयत्न करता है व शातरस का पान करता है।

इस ग्रथ के सोलह द्वार

समतैकलीनचित्तो, ललनापत्यस्वदेहममतामुक् ।
विषयकषायाद्यवश शास्त्रगुणैर्दमित चेतस्क ॥३॥
वैराग्य शुद्ध धर्मा, देवादि सतत्त्वविद्विरतिधारी ।
सवरवान शुभवृत्ति साम्यरहस्य भज शिवार्थिन ॥४॥ युग्मम् ॥

अर्थ—"हे मोक्षार्थी प्राणी ! तू समता पर लवलीन चित्त वाला बन, स्त्री पुत्र, धन और शरीर की ममता छोड दे, वर्ण, गध, रस, स्पर्श आदि इन्द्रियो के विषय और क्रोध, मान माया, लोभ इन कषायो के वश में मत रह, शास्त्ररूपी लगाम के द्वारा मनरूपी अश्व को वश में रख, वैराग्य द्वारा शुद्ध निष्कलक धर्मात्मा बन, देव गुरु धर्म के शुद्ध स्वरूप को जानने वाला बन, सभी प्रकार के सावद्य योगो से (पापकारी कार्यों से) निवृत्तिरूप विरति धारण कर, सवर वाला बन, अपनी वृत्तियो को शुद्ध रख और समता के रहस्य को जान।
॥ ३ । ४ ॥

आर्यावृत्त

विवेचन—इन दोनो श्लोकों में इस ग्रंथ के सोलह अध्यायों का नाम निर्देश कर उपदेश दिया है जो प्रत्येक अध्याय में विवेचन सहित आप पढ़ेंगे। सोलह अध्याय वही हैं जो विषय सूचि में हैं।

समता अधिकार—भावनाभाने के लिए मन को उपदेश

चित्त बालक मा त्याक्षी रजस्र भावनौषधी।
यत्त्वां दुर्ध्यानभूता, छलयंति छलान्विषः ॥५॥

अर्थ— हे चित्तरूप बालक! तू भावनारूपी औषधि को अपने पास से कभी दूर मत करना जिससे दुर्ध्यानरूपी भूत पिशाच जो सदा छल को खोजते रहते हैं, तुझे नहीं छल सकेंगे ॥ ५ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—समता आदि आध्यात्मिक विषय में यह आत्मा अभी बहुत पीछे है अत उसके मन को बालक कहा गया है। लौकिक रूढी को मानने वाले जिस प्रकार गले में मन्त्रित (ताबीज) मादलिया पहनकर यह मानते हैं कि देव दोष दूर हो गया और अब दुबारा वह न होगा इसी रूपक को लेकर यहां कहा गया है कि उत्तम भावना सदा मन में रखने से आर्त्त रौद्र ध्यान आदि का असर न होगा। परम शांति चित्त में रहेगी। चित्त का असंतुलन, व अस्थिरता, दूर होगी। भावनाओं का वर्णन आगे आएगा। समता का अर्थ है प्रत्येक दशा में चित्त को शांत रखना सुख-दु ख, हानि-लाभ मान अपमान, संयोग वियोग, सौभाग्य-दुर्भाग्य, इष्ट अनिष्ट,

आदि की दशा में चित्त का सन्तुलन बनाए रखना। एवं
सुखी या दुखी, प्रफुल्ल या ग्लान, (राजी या नाराज)
होकर चित्त को सम स्वभाव में बना रखना।

इन्द्रियों के सुख—समता के सुख

यदिंद्रियार्थैः सकलैः सुखं स्यान्नरेंद्रचक्रित्रिदशाधिपानाम्
तद्‌बिंदवत्येव पुरो हि साम्यसुधांबुधेस्तेन तमाद्रियस्व ॥६॥

अर्थ—समता के सुखरूप समुद्र के सामने इन्द्रिय जनि
राजा, चक्रवर्ती और देवेन्द्र का सब प्रकार का सुख
वास्तव में एक बिंदु के बराबर है अतः समता के सुख क
ग्रहण कर ॥ ६ ॥ उपजावृत्त

विवेचन—संसार में सभी सुख चाहते हैं, परन्तु सुख क
स्वरूप नहीं जानते हैं। इन्द्रियों के विषयों की तृप्ति को ह
हम सुख मान बैठे हैं। एक वस्तु अभी सुखकर प्रतीत हो रह
है वही कुछ समय पश्चात् दुखकर हो जाती है जैसे का
आदमी किसी स्वादिष्ट वस्तु को सुखकर मानकर अधि
मात्रा में खा लेता है जिससे उसे अजीर्ण आदि रोग हो जात
हैं और वह दुखी हो जाता है। एक मनुष्य विषय भोग
सुख मानकर सदा काल उसी में तत्पर रहता है जिससे क्षय
आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं और वह अकाल मृत्यु द्वार
काल का कवलित बनता है।

हमारे सुख, वैभव एक दूसरे से न्यूनाधिक मात्रा में होने
से हमें खेद एवं प्रसन्नता पहुंचाते हैं लेकिन जब उनका प्रमाण

जब अपने से कम ज्यादा नजर आता है तब उस दशा को भी स्थिर नहीं रहने देते है। ईर्ष्या या असतोष का भाव पैदा कर देते हैं। एक धनवान को देखकर दूसरा धनवान जलता है।

अत इन्द्रिय जनित सुख दुखदायी एव अस्थिर है क्योकि इन्द्रिया शरीर के साथ ही नष्ट होने वाली है अत समता का सुख जो आत्मा का गुण है वही सच्चा सुख है। राजा तक के सुख भी नष्ट हो जाते है यह तो प्रत्यक्ष है ही। जिनके महलो में अनेक नौकर रहते थे वे स्वय ही आज दूसरो के नौकर है जिनके यहा हाथी चिघाडते और घोडे हिनहिनाते थे वे आज स्वय सडको पर अकेले चल रहे हैं।

"तीन बेर खाती थी सो तीन बेर खाती है"
"बीन बीन खाती थी सो बीन बीन खाती है" ।

चक्रवर्ती एव इन्द्र देव के सुख भी आयुष्य समाप्त होने हो समाप्त हो जाते है। अत अमर आत्मा का समतारूपी सुख ही स्थायी एव सच्चा सुख है।

सासारिक जीवन के सुख व यति के सुख

प्रवदन्त्यविच्छिन्नजगज्जन, विविचित्रकर्मोदयवाग् विसरवपुसे।
उदासवृत्तिस्थितचित्तवृत्तय, सुख श्रयन्ते यतय क्षतार्तय ॥७॥

अर्थ—'जब कि जगत के प्राणी पुण्य पाप के वैचित्र्य के आधीन है, एव अनेक प्रकार के शरीर के कार्यों मन के कार्यों व वचन के कार्यों (व्यापार) से अस्वस्थ (अस्थिर) है तब वे यति जिनके चित्त की वृत्ति माध्यस्थ है (निरक्त है) और

जिनके मन की आधियां (पीड़ाए) नाश हो गई हैं वे सच्चे सुख को भोगते हैं ॥ ७ ॥ वंशस्थवृत्त

विवेचन—समता या उदासीनता आए बिना सुख की प्राप्ति नहीं होती है। पूर्वभव के पुण्योदय से ऐहिक सुख प्राप्त होते हैं तब प्राणी आनंद में विभोर रहता है। उसे धन का नशा छाया रहता है या अधिकार का मद रहता है, जिसके द्वारा वह अपने आपको भूल जाता है और उस मिले हुए धन या अधिकार से नए पापों का क्रम चलाता है। पाप उदय होते ही वे सब सुख-धन-अधिकार बादल की छाया की तरह नष्ट हो जाते हैं तब वह दुःखी होता है। कर्माधीनता से प्राणी संसारचक्र में फिरता है। अतः वास्तव में सुखी वही है जिसे इस संसार के खेल तमाशा का भान हो जाय और इन घटते बढ़ते पदार्थों की वास्तविकता का बोध हो जाय।

भर्तृहरि राजर्षि ने भी कहा है कि —

> मही रम्या शय्या विपुल मुपधान भुजलता,
> वितान चाकाश व्यजनमनुकूलोयमनिल ।
> स्फुरद्दीपश्चन्द्रो विरतिवनितासंगमुदित,
> सुख शांत शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव ॥

अर्थात् जिसके लिए पृथ्वी ही सुखकर शय्या है लता सदृश भुजा ही सिराना है, आकाश ही चादर है अनुकूल हवा ही पंखा है, चन्द्र ही देदीप्यमान दीपक है, विरति ही आनन्द देने वाली स्त्री है ऐसे मुनि शरीर पर भस्म लगाकर उसी प्रकार

सुख से सोते ह जिस प्रकार राजा सब साधना स घिरा हुआ सुख शय्या में सोता है।

समता के सुख को अनुभव करने का उपदेश

विश्वजन्तुषु यदि क्षणमेक, साम्यतो भजसि मानस मैत्रीम।
तत्सुख परममत्र परत्राप्यश्नुष न यदभूत्तव जातु ॥ ८॥

अर्थ—"हे मन ! यदि तू एक क्षण के लिए भी सब प्राणिया पर समता से मैत्री भाव रखेगा तो वह सुख ऐसा होगा जिसका तूने कभी भी अनुभव नही किया होगा' ॥ ८॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—बिना अनुभव के समता के सुख का मूल्य प्रतीत नही होता है। हे मन ! तूने अनेक प्रकार के सासारिक सुखो का अनुभव किया है और तुझे उनसे खेद भी मिला है अत परहित चितन के सहित, मैत्रीभाव से सब प्राणियो की तरफ शुभ भावना रखकर देख तो सही कि कैसा अनिर्वचनीय अपूर्व अनन्त आनद मिलता है। समता रखना बहुत ही कठिन है इसका उपदेश देना या लिखना आसान है परन्तु जब स्वय पर बीतती है उस वक्त मन ममता से परे हो जाता है अत मन को वश में करने के लिए ही समता धारण करने की अत्यत आवश्यकता है। क्रोधरूपी बलवान योद्धा कमजोर समता को जल्दी पछाड देता है लेकिन बलवान-स्थायी समता क्रोध को पराजित करती है वही वास्तविक आनद है।

समता की भावना—उसका दर्शन

न यस्य मित्र न च कोऽपि शत्रुर्निज परो वापि न यस्यनास्ते।
न चेंद्रियार्थेषु रमेत चेत, कषायमुक्त परम स योगी ॥ ६ ॥

अर्थ—"जिसका न कोई मित्र है, न कोई शत्रु ही है, जिसका न कोई अपना है, न पराया ही है, जिसका मन कषाय रहित होकर इन्द्रियो के विषयो म रमण नही करता है वही परम योगी है ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—जिस प्रकार रगरेज कपडे को रगने से पहले उसका पहले का रग धो डालता है, उसे उकालकर साफ करता है तभी उस पर इच्छित रग चढा सकता है, उसी प्रकार हम सब जो परमात्मा के रग म रगना चाहते ह उनका कर्त्तव्य है कि हमारे मन जो कि अनेक आधि-व्याधिरूप रगो से रग हुए हं उनको तपाग्नि में तपाकर साफ कर ल अर्थात मन-वस्त्र का जो वास्तविक रग है उसे प्राप्त कर।

वैसे भी सयोग वश न उपस्थित हो कोई चाहे किसी भी तरह विचलित करना चाहता हो, मर्म स्थानो पर शारीरिक पीडा करता हो, या मार्मिक शब्दो द्वारा मन को आवेश में लाना चाहता हो फिर भी जो सम परिणामो म रहता है वही सच्चा उपासक या परम भक्त योगी है। नमि राजर्षि का दृष्टात अत्यन्त उपयोगी होने से उत्तराध्ययन सूत्र म सक्षिप्त उद्धरित किया है—

मिथिला नगरी के राजा नमि को एक बार दाह ज्वर हुआ। उसकी शाति के लिए लेप करने के लिए उसकी ५००

रानियां चदन घिस रही थी जिनक कगना की रुनभन न उसकी पीडा और भा बढा टी जिसम रानिया न सब कगन खोलकर मात्र एक एक हाथ में रखा। वातावरण शात हुवा जिसके कारण को जानकर राजा न सोचा कि जिस प्रकार इतन कगन एक साथ रहन मे भनभनाहट होता थी और केवल एक ही रहन म शाति हुई एक से दो हो तो वज, अकेला वज किसम। यह साधारण घटना उसके जीवन का पलटन वाली हुई। उसन निश्चय किया कि इतन सारे परिवार की अपेक्षा अकेले में अधिक सुख है। जब यह रोग मिटगा तो म भी अकेला बन जाऊगा। उसी रात को रोग शात हो गया और प्रात वह सवस्व का त्यागकर वन म चला गया। सवगी हुवा। वीतराग का उपासक बना। वहा राजा इद्र आकर कहना है कि —हे राजा अग्नि और वायु क प्रकोप स तेरा घर जल रहा है, भयभीत हुई तरा रानियो की तरफ तू क्यो नहीं देखता है ?

राजर्षि नमि —जिसका अपना कोई नही है एसा म सुख से रहता हूँ और जीता हूँ। यदि पूरी मिथिला भी जल जाय तो भी मेरा कोई नही जलता है। स्त्री पुत्र का त्याग कर निर्व्यापार भिक्षु के लिए प्रिय भी कुछ नहीं है और अप्रिय भी कुछ नहीं है। म अकेला हूँ मेरा कोई नहीं है एसा जानने वाले और सब बधनो से छूटे हुए गृहत्यागी भिक्षु को अपार शाति है।

देवेंद्र —हे राजा! तू क्षत्रिय है! तुझे तो अपने नगर

के चारो तरफ किला, दरवाजे, बुरज, खाइया, शतघ्नी य त्र, तयार कराने चाहिए और नगर की रक्षा करनी चाहिए।

नमि —"श्रद्धारूपी नगरी का क्षमारूपी मजबूत किला बनाकर तप-सयमरूपी भागल (रोक) लगा रखी है, मन, वचन और काया का नियमन क्रमश बुरज, खाई व शताघ्नी यन्त्र ह। इनसे वह किला सुरक्षित व अजय है। पराक्रमरूपी धनुष्य पर सदाचाररूपी प्रत्यचा चढाकर धति (धय) रूपी मूठ से उस धनुष्य को पकडकर, सत्य द्वारा उसे खीचकर, तपरूपी बाण से कमरूपी कवच को भेदकर म उस सग्राम का अत लाता हूँ अर्थात समार स मुक्त होने का प्रयत्न करता हूँ।

समता के अग—चार भावना

भजस्व मत्रीं जगदगिराशिषु, प्रमोदमात्मन गुणिषु त्वशपत ।
भवार्तिदीनेषु कृपारस सदा-प्युदासवृत्ति खलु निगुणष्वपि ॥१०॥

अथ—हे आत्मा! जगत के समस्त जीवो पर मैत्री भाव रख, गुणि जनो पर प्रमोद रख, सतप्त (समार से दु खी) पर करुणा कर एव निगुणी जीवो पर उदासीनता—उपेक्षा रख॥ १० ॥			वशस्थवृत्त

विवेचन—शास्त्रो म कहा है, "भावना भवनाशिनी"। ससार के तमाम जीवो को एक ही समान प्रेम से देखना चाहिए। कोई भी जीव किसी भी योनि या जाति का हो, हम उसके निस्पृह मित्र ह, यह पहली मत्री भावना है। दूसरी भावना में गुणवान के प्रति आदर होने से विशेष प्रसन्नता होती है, यह प्रमोद भावना है। दु खी जीव को देखकर हमारे

मन में उसके प्रति दया उत्पन्न होती है वही करुणा भावना है। गरीब, अंधा, लगड़ा अपाहिज भिखारी इन पर यथा शक्ति दया पूर्ण नजर रखकर उनकी सहायता करना चाहिए। इसमें पात्र कुपात्र का प्रश्न नहीं है छोटे से लेकर बड़े जीवों पर करुणा करना चाहिए जैसे कि मार्ग में चलते हुए कीड़े, मकोड़े, मेंढक, अलसिए को बचाना पशु पक्षी को घास दाना डालना, उनका पैर या पंख टूट गया हो तो दवा का प्रबंध करना गरीब या पीड़ित मनुष्य की आवश्यकता पूरी करना। दवा कराना। जाति पाँति का भेदभाव छोड़कर उनकी भूख तरस मिटाना, सर्दी गर्मी का यथाशक्ति बचाव करना। जिसका कोई सबंधी न हो उस दीन-हीन असहाय का बंधु बन कर उसको संतुष्ट करना यह करुणा भावना है। उदासीन भावना वह है कि कोई अपनी उत्तम बात को न मानकर भी अपनी कुमति से प्राणियों का बध करता हो चोरी करता हो अनेक प्रकार के कुकर्म कर समाज में व धर्म का अहित करता हो फिर भी अकड़ कर फिरता हो अत अपने वश की बात न हो वहां उस पर मध्यस्थ भाव रखना चाहिए। अच्छा भी नहीं और बुरा भी नहीं। उसका किया वह भोगेगा क्योंकि हमारा उस पर कोई जोर नहीं है। वह सुनता ही नहीं, धर्म को मानता ही नहीं या उसका मित्र समूह प्रबल होने से उसे सन्मार्ग की अपेक्षा कुमार्ग पर ले जा रहा है इसलिए विवशता है। अपने आपको धर्माचार्य, ऋषि मुनि, संत साधु, तपस्वी मानने वाले कई लोग अनेक भोले व अनभिज्ञ लोगों को बातों की चतुराई से अपना अनुयायी बनाकर अपनी रूढ़ी का उपासक

बनाकर तथा मनोरंजन द्वारा उनका धन व समय नष्ट करते हैं। सांसारिक भूल भुलैया में डालते हैं, पथ के बाडे में घेर लेते हैं, तत्त्व तो बतावें कहां से, क्योंकि वे खुद ही नहीं जानते, अन्य निस्सत्त्व मनोरंजनों से ढाल-चौपाइयां गीतों से उन्हें प्रसन्न रख वाह वाह की पुकार कराते हैं और अपना चित्र देखकर या जय जय सुनकर प्रसन्न होते हैं। उन जैसे विचारे जीवों पर करुणा तो आती है परन्तु वे बाड में बंध हैं, हमारा जोर न चलने से उदासीनवृत्ति रखनी पडती है यही माध्यस्थ भावना या उपेक्षावृत्ति है।

चारों भावनाओं का संक्षिप्त स्वरूप

मैत्री परस्मिन् हितधीः समग्रे, भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः ।
कृपा भवार्त्ते प्रतिकर्तुमीहोपेक्षैव माध्यस्थ्यमवार्यदोषे । ११॥

अर्थ—दूसरे समस्त प्राणियों पर हित बुद्धि मैत्री भावना गुण का पक्षपात होना प्रमोद भावना, भवरूपी व्याधि से पीडित प्राणियों का भाव और औषधि से अच्छा करने की भावना, करुणा भावना, अनिवार्य दोषवाले प्राणियों पर उदासीनता माध्यस्थ भावना। उपजाति

चारों भावनाओं का हरिभद्र सूरिरचित स्वरूप

परहितचिंता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा ।
परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥ १२ ॥

अर्थ—अपनी आत्मा के सिवाय अन्य आत्माओं की चिंता करना मैत्री, दूसरों के दुःखों का नाश करने की चिंता करुणा दूसरों को सुखी देखकर प्रसन्न होना प्रमोद पराए दोषों का

रखकर उदासीन रहना, (न प्रशंसा न निंदा) माध्यस्थवृत्ति में रहना, उपेक्षा है। आर्यावृत्त

मैत्री भावना का स्वरूप

मा कार्षीत्कोपि पापानि, माचाभूत्कोपि दुःखितः ।
मुच्यतां जगदप्येषा, मतिर्मैत्री निगद्यते ॥ १३ ॥

अर्थ—कोई प्राणी पाप न करे, कोई दुःखी न हो, इस जगत में जीव कर्म रहित होकर मुक्त हो, ऐसा बुद्धि सब प्राणियों के प्रति होना मैत्री है। अनुष्टुपवृत्त

अष्टादशपुराणानां, सारात्सारं समुद्धृतं ।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनं ॥

विवेचन—लौकिक दृष्टि से आज संसार स्वार्थी होता जाता है किसी को दूसरे की परवाह नहीं है, सब अपने अपने हाल में मग्न हैं परन्तु यह सब उलटा हो रहा है। आज हम स्वार्थी (स्व अर्थी) न होकर परमार्थी (परम् अर्थी) हो रहे हैं अर्थात् स्व का, आत्मा का हित न चाहते हुए पर (संसार की नाशवान वस्तुओं) का हित चाह रहे हैं। सांसारिक सुख वैभव को संभाले हुए हैं जब कि आत्मा का विचार भी नहीं करते हैं। अतः हम अपना मित्र बन कर वैसी ही मित्रता सब जीवों की तरफ रखनी चाहिए।

प्रमोद भावना का स्वरूप

अपास्ताशेषदोषाणां, वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो यः, स प्रमोदः प्रकीर्तितः ॥१४॥

अर्थ—जिन्होंने सब दोषों को दूर किया है और वस्तु

तत्व को जो देखते हैं उनके इन गुणों पर जो पक्षपात करना है वह प्रमोद कहा जाता है ॥ १४ ॥ अनुष्टुवृत्त

विवेचन—गुणी जनों की तरफ स्वयं श्रद्धा हो जाती है और उनका बहुमान होता है इसी का नाम प्रमोद है। यहां, "सर्वेगुणाकांचनमाश्रयते" से तात्पर्य नहीं है। क्षमा धैर्य, सेवा, सत्य आदि जो आत्मिक भाव हैं वे ही गुण हैं। श्रीकृष्ण महाराज के छोटे भाई गज सुकुमाल, जो वैराग्य युक्त होकर स्मशान में ध्यान कर रहे थे उनके भावी श्वसुर ने अपनी पुत्री का सांसारिक अहित समझ कर गीली मिट्टी का घेरा बनाकर उनके सिर पर रख दिया व उसमें धधकते हुए अंगारे रखकर यह संतोष माना कि मैंने इससे बदला ले लिया है। परन्तु क्षमा के अवतार गजसुकुमाल मन में यह सोच रहे थे कि, "अहो मेरे भावी श्वसुर को धन्य है जिन्होंने स्थायी पगड़ी बांधकर मेरा मोक्ष मार्ग साफ कर दिया है, यदि मैं विवाह करता तो वह कपड़े की पगड़ी देते जो फट जाती, परन्तु यह पगड़ी तो मेरी अग्नि परीक्षा है कि मैं ध्यान में कितना निश्चल रह सकता हूँ"। परिणामतः सिर फट गया, व साथ ही उनके कर्मों का पर्दा भी फट गया। केवल ज्ञान सूर्य का उदय हुआ और पुनरागमन रूप तम का नाश हुआ अर्थात् मोक्ष हुआ। यह क्षमा गुण है जिसके लिए प्रमोद करना चाहिए। "उत्तम ना गुण गावतां गुण आवे निज अंगे।" ये शब्द भी प्रमोद की पुष्टि करते हैं।

करुणा भावना का स्वरूप

दीनेष्वार्त्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम ।
प्रतिकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते ॥ १५ ॥

अर्थ—दीनो पर, आर्तो पर भयभीत हुआ पर, जीवन की भिक्षा मागने वालो पर जो उपकार बुद्धि है, उनको दुख से छुड़ाने की जो बुद्धि है वही करुणा कहलाती है ॥ १५ ॥

अनुष्टुभ

विवेचन—दीन-हीन बिचारा गरीब प्राणी अन्न के लिए वस्त्र के लिए या बीमारी के समय दवा के लिए दुखी होता है उसे सहायता देना करुणा है। मूक (बिना बोलने वाले) प्राणी मनुष्य की अपेक्षा भी अधिक करुणा के पात्र हैं। वे कुछ भी कहकर अपना दुख प्रकट नही कर सकते हैं अत उन पर अवश्य दया दृष्टि रखनी चाहिए। इनसे भी अधिक तो कीड़े मकोड़े मेंढक आदि उन छोटे २ जन्तुओं पर करुणा करना चाहिए जिन्हे हम अधेरे में या उजले में पैरो नीचे कुचलते जाते हैं। वे निरपराध प्राणी हम काटते नही हैं, हमारा कुछ बिगाड़ते नहीं है इसीलिए हम उनसे डरते नही हैं और बेपरवाही से चलकर या मिठाई खाकर दूना रास्ते में डालकर उन्हें खाने को बुलाते है और कुत्ता द्वारा चटवाते हैं या आख सहित मूरदासो से कुचलवा देते हैं। मीठी वस्तु में सुगध है जिस कारण से वे आते हैं और हम उन्हें प्रत्यक्ष या परोक्षरीति से मार डालते हैं अत गन्ना, सीताफल, रायण, आम या मिठाई खाकर उसके छिलके व दूने ऐसी जगह

डालने चाहिए जहा जन्तु न पहुच पावे, उन्हे राख से या मिट्टी से ढाक दें या जला दे या एकात घास में डाल दें जहा जीवो के मारे जाने की सभावना न हो। यही करुणा भावना है। सबसे ज्यादा करुणा के पात्र वे हैं जो आधुनिक भौतिक शिक्षा सम्पन्न, आत्मा परमात्मा को नही मानने वाले मौज शौक करने वाले बाबू लोग है या साधुता के बाने से अपने आपको ढककर शब्द जाल से भोले जीवो को उन्मार्ग मे ले जाने वाले बाबा लोग हैं तथा जो धनी हैं या पदाधिकारी हैं। धन का भूत उन्हे आत्मा की तरफ देखने नही देता है वे अपने हाल म मस्त होकर या ओहदे के नशे म बे परवाह हो रहे है। उनका आत्ममार्ग बताने वाला मनुष्य सच्चा करुणा का अवतार है। वे किसी का उपदेश सुनना नही चाहते, सत्शास्त्रो का अभ्यास करना नहीं चाहते, सत्सग म दूर रहते है फिर उनम जीवो पर करुणा करने की भावना कैसे पैदा हो सकती है? अत वे सबसे अधिक करुणा के पात्र है। जब जब भी अवसर मिले उन तक सदविचार पहुचाने चाहिए—बातचीत कर उन्हें सत समागम या सत्शास्त्रो की तरफ प्रेरित करना चाहिए। उनमे दीन दुखी पर करुणा करने की भावना पैदा करना चाहिए। उनके धन का सदुपयोग कराना भी करुणा भावना है। यह उत्कृष्ट श्रेणी की करुणा है। अभय दान देना अर्थात् किसी को मरने से बचाना, उसे निर्भय करना यह करुणा भावना है। प्रत्येक मनुष्य में सदबुद्धि पैदा कर उसे धर्म में लगा कर उसका कल्याण करना भी करुणा भावना है।

माध्यस्थ भावना का स्वरूप

क्रूरकर्मसु निःशंकं, देवतागुरुनिन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा, तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥ १६ ॥

अर्थ—निःशंक होकर क्रूर कर्म करने वाले देव गुरु की निन्दा करने वाले अपनी प्रशंसा आप ही करने वाले प्राणियों की तरफ उपेक्षा रखना माध्यस्थ्य भावना है ॥ १६ ॥

अनुष्टुभ

विवेचन—राख की ढेरी के नीचे आग जिस प्रकार छुप जाती है बुझती नहीं है उसी प्रकार से कर्मों के आवरण में आत्मा अपना भान भूल जाता है, अस्तित्व तो मौजूद है। बस भान शून्य आत्मा कितने ही प्रकार के क्रूर कर्म करते हैं। बकरों, गायों, भैंसों आदि को कसाई खाने में ढकेल आने वाले खटीक, उन्हें काटने वाले कसाई, चिड़ीमार, शिकारी आदि के कर्म कितने क्रूर हैं? मालगाड़ी के डब्बे बकरे बकरियों से भरे देखकर आंखों में आंसू आते हैं हमारा वश नहीं चलता है अतः उन मारे जाने वाले प्राणियों के प्रति करुणा और उन मारने वाले या मांसाहार या मांसाहकों के प्रति उपेक्षा रखना ही माध्यस्थ भावना है। सच्चे देव और सच्चे गुरु की निन्दा करने वाले तथा अपनी प्रशंसा आप करने वाले प्राणी भी उपेक्षा के पात्र हैं। यहां यह तात्पर्य नहीं है कि ढोंगी, दिखावटी, बक भगत अन्दर कपटी गुरुओं के करणी का अनुमोदन करें। उनकी परीक्षा कर वास्तविक स्थिति की पहचानने के पश्चात ही उनमें श्रद्धा करें। कहा है कि, 'गुरु कीजे

जानकर पानी पीज छानकर"। आत्मश्लाघा के दृष्टान्त तो चुनाव के समय हमारे सम्मुख ही उपस्थित होते है। उपधान, धर्म शास्त्रपारायण, ओली या पर्यूषण आराधन की कुंकुम पत्रिकाओं को देखिए, प्रायः आधा मेटर तो अयोग्य पदवियों से उनके स्वयं के द्वारा ही लिखा हुआ होता है यह भी आत्मश्लाघा का प्रत्यक्ष उदाहरण है। जीवन भर धर्म के कार्य न किए हो, येन केन प्रकारेण द्रव्योपार्जन कर उस पाप को धोने के लिए किन्ही आचार्य का पल्ला पकड़ कर कहीं प्रतिष्ठा या उपधान या शास्त्र प्रकाशन में द्रव्य की सहायता कर अपना जीवन चरित्र (सिद्ध और साधक का) प्रकाशित करवाना भी आत्मश्लाघा है। जिन शास्त्रों का एक श्लोक भी न पढा हो उन शास्त्रों के ढेर को आस पास रख अपना फोटो चित्र बनवा कर अपने नाम से या उपदेश से चलती हुई संस्थाओं में लगवाना भी आत्मश्लाघा है। इन सब प्राणियों पर उपेक्षा रखना माध्यस्थ भावना है। श्रीमद् यशोविजयजी के शब्दों को जरा पढिए, "रागधरी जे जिहां गुण लहिये निर्गुण ऊपर समचित रहिए।" कितना प्रभाविक विचार उपेक्षितो पर है। श्रीविनयविजयजी महाराज का नमूना भी देखिए "माध्यस्थ भावना सांसारिक प्राणियों के लिए विश्राम लेने का स्थान है"। कई विचारे प्राणी विपरीत मार्ग में लगे हुए है उनको समझाने का प्रयत्न करते हुए भी वे मोहांध हो रहे है, पापकारी व्यापार (हाथीदांत लाख, रस मेदा, विष आदि) करते हैं उनका हित चाहते हुए सच्ची सलाह भी दी जाती है परन्तु कर्मों के वशीभूत होने से उनका मन नहीं

बन सकता है। अब उस पर उपेक्षा रखने के सिवाय और क्या किया जा सकता है।

इन्द्रिय विषय पर समता

अतनुरगतत्पतिलितेषु, रूपगन्धरवजरसेषु ।
साम्यमेष्यसि यदा तदपेत्य, पाणिग शिवसुखं हि तदात्मन् ॥१७॥

अर्थ—हे आत्मा ! जब तेरा चित्त सब छोड़कर, मनोज्ञ पदार्थों में रहे हुए स्पर्श, रूप, शब्द, गंध और रसों में समभाव हो जाएगा तब मोक्ष सुख अपने हाथ में आया हुआ ही जानना ॥ १७ ॥ स्वागतावृत्त

इस लोक में मनुष्य प्रथम इन्द्रियों का दास बनता है। वैसे ही इस संसार में सबसे प्रबल, दुर्जय जो पाँच इन्द्रियाँ हैं वे हैं इन्द्रियाँ कहलाती हैं। इनको जीतना अत्यंत कठिन है। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय इन पाँचों इन्द्रियों के विषय हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द। मुलायम बिस्तर, रेशमी वस्त्र, ऋतुओं के अनुकूल परिधान (पोशाक) मालिश, शरीर व स्पर्शनेन्द्रिय को प्रिय हैं; स्वादिष्ट भोजन, आधुनिक पेय, चटपटी चटनियाँ विभिन्न द्रव्यों की मिठाइयाँ, (चाहे वे सस्ते हों या न हों) अनेक प्रकार के रस, पेय ये रसनेन्द्रिय को प्रिय हैं। सुगंध से महक उठने वाली अगरबत्तियाँ, इत्र, सेंट, पुष्प, गुलदस्ते घ्राणेन्द्रिय को प्रिय हैं, सुन्दर चित्र, आधुनिक नवीनतम परिधानों से परिष्कृत अप्सरा, नागिन के सदृश वेणी जो एक आगे और एक पीछे लटकती हो, पाउडर से मुखाकृति दीप्त हो

हाठ लाल हो, भुजाए मूसल सदृश घूमती हो, अग अग
आता हो, यह चक्षुरिन्द्रिय का प्रिय है, नवीनतम राग
निया, सिनेमा तरज के अश्ली गाने जो २-३ वर्ष की आ
बच्चे भी गुनगुनाते रहते है कर्णेन्द्रिय को प्रिय है। यदि
पाचो विषयो के विपरीत विषय आत्मा ग्रहण करना चाह
ता ये देवियां नाग की तरह फुकारा करती है, मन महा
से शिकायत कर आत्मा को शान्त रा नही मानने देती
अत जो जड चेतन के विषयो म समभाव हो जाता है अनु
प्रतिकूल विषयो की वास्तविकता का समझ कर उ
नियत्रण रखता है, फिर मोक्ष तो उसके हाथो म ही है।
शक्तिशाली घोडे लगाम द्वारा वश में किये जाते ह
मानव को अत्यत उपयोगी होते है वैसे ही शक्तिशाली इ
का भी वश में रखकर अपना भला किया जा सकता है।
रीत इसके जिस तरह अनियंत्रित घोडे रथ को खड्ड म
चकनाचूर कर देते है, सवारियो को प्राण भय उपजाते
एव सकटापन्न स्थिति उपस्थित कर देते है वसे ही अनिय
प्रबल इन्द्रिया भी आत्मा को कुमार्ग पर ले जाकर नरका
पहुचा देता है, भव परम्परा को बढाती है। अत निय
आवश्यक है। शरीर सुख लोलुपी हाथी स्पर्शनेन्द्रिय क व
होकर हथिनी के पीछे खड्ड में गिर कर प्राण देता है,
लालुपी भवरा, कमल के कारागार में बद्ध होकर हाथी के
मे चला जाता है, सुगध के आकर्षण मे कीडिया मकोडे
तल में डूब मरते है या दूध दही म गिर कर प्राण देते

अग्नि में भस्म हो जाते हैं, हरिण व सर्प कर्णपटु शब्दों से छर जाते हैं एवं बंधन व वध को पाते हैं। अहो! पांचों इंद्रियों के २३ विषय न केवल मनुष्य को ही दुःखी करते हैं वरन कीट व पशुओं को भी नहीं छोड़ते हैं। इंद्रियों को वश में किए बिना सब त्याग, वैराग्य, तप जप का वही परिणाम होता है, जो राख में घी डालने से होता है।

समता प्राप्ति का सातवां साधन

के गुणास्तव यत स्तुतिमिच्छस्यद्भुत किमकृथा मदवान यत्।
कगता नरकभी सुकृतस्ते, किं जित पितपतिर्यदचिन्त ॥१८॥

अर्थ—तुझमें ऐसे कौन से गुण हैं कि जिनके द्वारा तू अपनी स्तुति की इच्छा रखता है, तूने ऐसा कौन सा आश्चर्यकारी महान् कर्म किया है जिसके लिए तू अहंकार करता है? तेरे ऐसे कौन से सुकृत्य हैं जिनसे तुझे नरक का डर मिट गया है? क्या तू ने यमराज को जीत लिया है जिससे निश्चिन्त हो गया है ॥ १८ ॥ स्वागतावृत्त

विवेचन समताप्राप्ति का सातवां साधन वस्तु स्वरूप एवं आत्मस्वरूप का विचार है। प्रत्येक आत्मा अपनी स्थिति का विचारे कि तू कौन है? पुद्गलों के संसर्ग से तेरी क्या स्थिति हो गई है, अब भी तू क्या नहीं चेतता है। इतना ही नहीं, निर्गुणी होकर भी स्तुति की इच्छा रखता है, व अपनी बड़ाई चाहता है! जिस महा पुरुष की खाल उतरे से सुनारी जा रही है खून के फव्वारे बह रहे हैं फिर भी ध्यान तो आत्मा और परमात्मा का ही है, क्या उन स्कंधक मुनि जैसी क्षमा तेरे में है?

जन्म से मेहतर परन्तु पालन पोषण सेठ के यहां होकर राजपुत्र अभय कुमार के साथ शिक्षा प्राप्त कर मेतारज कुमार आठ कन्याओं के साथ विवाह करने जाता है उसी समय, बरात में ही राजा महाराजा व उन कन्याओं के समक्ष ही अपने जन्म का भेद जन्मदाता माता पिता द्वारा प्रकट किया जाता है अतः उसका पराभव होता है। फिर भी वह उस स्थिति को सहन कर उत्कृष्ट धर्य का परिचय देता है, एवं पाणीग्रहण के लिए मना करने वाली कन्याओं को श्रणिक राजा भी अपनी कन्या को देकर सतुष्ट करता है। क्या राजा जैसा उच्च वर्ण वाला क्षत्रिय एवं मेहतर को कन्या देकर छूत छात को ताडन वाला अग्रगण्य गुणवान नहीं है? क्या सेठ की लडकियां मेहतर से विवाहित होकर सहनशीलता का परिचय नहीं देती हैं? इन सबसे बढकर वहां भुक्त भोगी मेतार्यकुमार जब दीक्षित होकर एक सोनी के घर भिक्षा मागने जाता है तब एक कौच पक्षी स्वर्ण के जव को अन्न समझ कर चुग जाता है। मेतार्य साधु वह देख रहा है परन्तु स्वर्णकार की दृष्टि नहीं है। वह तो भिक्षा लेने घर के अंदर जाता है। भिक्षा लेकर साधु बाहर निकलता है। स्वर्ण न पाकर स्वर्णकार शका करता है कि अवश्य ही वह साधु जव ले गया है, कारण कि और तो यहाँ कोई आया ही नहीं था। साधु को वापस बुला कर उसके निरुत्तर होने पर सोनी सिर पर ढोर का गीला चर्म बांध देता है, पश्चात मुनि को धूप में खड़ा करता है। गीला चर्म सूखता है साथ में ही उसके सिर की तमाम नसें खिचती है, शरीर में अत्यंत पीडा होती है परंतु वाह रे महात्मा! धन्य है तुझे!

यह तो अपने ही पूर्व कर्मों का दोष विचार रहा है, सोचता है कि, 'जिस तरह मघक मुनि ने एक काचरे की खाल (खोरा का छिलका) हसते हसते खुश होकर उतारी थी जिसका परिणाम उनके ही बहनोई (जो काचरे का जीव था) ने उनकी खाल उस्तरे से उतराई फिर भी वे आत्मरमण करते रहे वैसे ही मुझे भी ध्यान में रहना चाहिए यही तो तपस्वी का परीक्षा का समय है। इस प्रकार विचारते विचारते साधु को केवल ज्ञान होता है व शरीर निष्प्राण हो जाता है उनका मोक्ष होता है। धन्य है ऐसे मुनियों को। क्या ऐसा क्षमागुण तेरे में है जिसके लिए तू अभिमान कर रहा है? प्रभु महावीर जैसी तपस्या, श्रीपाल राजा जैसी दाक्षिण्यता विजय सेठ विजया सेठानी तथा स्थूलि भद्र महाराणा जैसा ब्रह्मचर्य बाहुबली जैसा मन्त्याग, हेमचंद्राचार्य हरिभद्र सूरि तथा यशोविजयजी जैसा श्रुत ज्ञान, महाराजा कुमार पाल जैसा श्रावक धर्म पालन, क्या तेरे में है जिसके लिए तू अभिमान करता है? धर्म तराजू से अपने आपको तोल और देख कि वास्तव में तेरा वजन (गुण) कितना है?

ज्ञानी का लक्षण

गुणस्तवर्यो गुणिना परेषामाक्रोशनिंदाभिरात्मनश्च ।
मन सम शीलति मोदते वा, खिद्येत च व्यत्ययतः स वेत्ता ॥१६॥

अर्थ—ज्ञानी वही है जो अन्य गुणवानों की प्रशंसा सुनकर या दूसरों द्वारा स्वयं पर किए गए आक्रोश के (गाधावेग) समय या स्वयं की निंदा सुनकर अपने मन को वश में रखता

है (मन की शांति गा न खोकर) प्रसन्न होता है, एव विपरीत अवस्थायें (परगुण निंदा व आत्मप्रशसा के समय) खेद पाता है ॥ १६ ॥ उपजाति

विवेचन—किसी मीटिंग के अध्यक्ष निर्वाचन के समय यदि अपने से कम गुणवान को चुना जाता हो अथवा राजनैतिक चुनावों के समय गुण होते हुए भी हमें न चुना जाता हो, उस वक्त अपने मन की क्या स्थिति होती है ? किसी ज्ञानी, विद्वान, कवि, कोकिलकण्ठ, दानश्वरी या वभव-शाली की प्रशसा होती हो और हमारा नाम भी कोई न लेता हो उस वक्त हमारे मन की क्या स्थिति होती है ? यदि उस वक्त हमें ईर्षा होती हो, जलन होती हो तो समझना चाहिए कि हम जो अपने आपको ज्ञानी, पडित आदि समझ बैठे हैं वह भूल है। अभी हमारा स्तर बहुत नीचा है।

सकारण या अकारण हम पर कोई क्रोध करता है, अपने अपराध को हम पर ढोलता है सदेह द्वारा हमें आवेश में अप शब्द कहता है, निंदा करता है अपनी साधारण हानि या अपमान के लिए हमें दोषी ठहरा कर विपरीत आचरण करता है उस समय हम उस पर क्रोध न कर मन को वश में रखें, मन की शांति को बनाए हुए रखें तो हम ज्ञानी हैं नहीं तो उस सन्मुख व्यक्ति से भी निम्न श्रेणी के हैं, कारण कि वह तो अज्ञान से ऐसा कह रहा है जब कि हम ज्ञानी कहलाते हुए भी उसका प्रतिकार उसी की तरह कर रहे हैं।

सच्चा ज्ञानी तो वही है जो आत्मप्रशसा सुनकर या

परनिंदा सुनकर वह स्थान छोड देता है, या बात बदल देता है या अप्रसन्न होता है। आज हम किस स्थिति में हैं। गुण न होने पर भी गुणवान, ज्ञान न होने पर भी ज्ञानी, विद्या न होने पर भी विद्वान केवल शब्द रचना करके कवि, छोटे पद पर होते हुए भी अफसर कहलाना चाहते हैं। यदि कोई वैसा नहीं कहता है तो हम अपनी वास्तविक स्थिति में आ जाते हैं अर्थात् लडने लगते हैं या अप्रसन्न होकर उससे बदला लेना चाहते हैं और अपनी वास्तविक स्थिति को प्रकट कर देते हैं। अत ज्ञानी वही है जो आत्म निंदा पर गुण प्रशंसा, क्रोध–आवेश के समय शीतल स्वभावी रहता है।

परगुणपरमाणून पर्वतीकृत्य नित्य,
निजहृदि विकसन्त सति सन्त कियन्त ॥

अणु जैसे छोटे से पराए गुणों को पर्वत जैसा महान मानकर जो निरंतर अपने हृदय में उदार भावना रखते हैं वैसे सत पुरुष कोई विरले ही होते हैं।

अपना पराया पहचानने का उपदेश

न वेत्सि शत्रून् सुहृदश्च नैव, हिताहिते स्व न पर च जन्तो ।
दु ख द्विषन वांछसि शमचैत न्निदानमूढ कथमाप्स्यसीप्टम ॥२०॥

अर्थ—हे मूर्ख ! तू अपने शत्रु मित्र द्वेषी हितैषी, स्वकीय-परकीय को नहीं पहचानता है। तू दुख पर द्वेष करता है और सुख को चाहता है परन्तु उसके कारण को न जानने से इष्ट वस्तु कैसे प्राप्त कर सकेगा ॥ २० ॥

उपेन्द्रवज्रावृत्त

विवेचन—हे भव परम्परा में पड़े हुए आत्मा ! तू जरा ठण्डे दिमाग से सोच तो सही कि तेरे शत्रु तथा मित्र कौन है ? राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद ये तेरे शत्रु हैं। उपशम (शांति) विवेक संवर तेरे मित्र हैं। इनको पहचान और अपना कल्याण करने वाले मित्रों के संपर्क में रहकर आत्म कल्याण कर ले। सच्चा ज्ञान दर्शन, चारित्र, सच्चे देव गुरु धर्म तेरे हितैषी हैं। अज्ञानता शंका, अत्याग, कुदेव, ढोंगीगुरु व अधर्म तेरे अहितकर या द्वेषी हैं। तेरा स्वकीय तू स्वयं है, तेरा दूसरा कोई अपना नहीं है। तू सत् चित्त आनन्दमय (सच्चिदानंद) है। ये लक्षण संसार की समस्त वस्तुओं में से किसी में नहीं है अतः तेरा कोई नहीं है। ये सब नाशवान हैं। ये तुझे जकड़ के रखना चाहती हैं। घर जमीन जेवर वस्त्र पात्र मोटर सब पराए हैं। कुटुम्ब का कोई व्यक्ति तेरा नहीं है। स्वार्थ के वशीभूत हुए ये सब जब तक तुझमें शक्ति है, धन है, बुद्धि है, शारीरिक बल है तब तक तेरे हैं परन्तु शरीर थक जाने पर वृद्धावस्था आने पर, या निर्धन होने पर ये सब उसी प्रकार छोड़ देंगे जिस प्रकार फलहीन वृक्ष को पक्षी, तेल रहित तिलों की खल को तेली छोड़ देते हैं। जैसे रस निकालने के बाद हम आम के छिलके और गुठली को छोड़ देते हैं या कोल्हू में पीसकर रस निकालने के पश्चात् गन्ने के छिलके का किसान छोड़ देता है वैसे ही परिवार वाले भी हमें छोड़ देंगे। मात्र तू ही तेरा मित्र है, हितैषी है और स्वकीय है। अतः मृत्यु आने से पूर्व अपना हित कर ले, फालतू चापलूसों की संगति से भव

परपरा न बन्ना। बरना पछतावेगा। ज्वरग्रस्त दशा में मिठाई या अचार खिलाने वाला वैद्य प्रत्यक्ष मित्र नजर आता हुआ भी घातक शत्रु है वैसे ही मीठी लगने वाली वस्तुएं भी विपरीत फल देगी। अत हित शिक्षा रूप औषध को क्वीनेन की तरह ग्रहण करके भव ताप को दूर कर। आत्म रोगों को तेरे सम्मुख प्रकट करने वाला आत्म नाडी परीक्षक वैद्य ही सच्चा हितैषी है अत अपना भला बुरा पहचान कर योग्य समय में योग्य कर ले।

वस्तु ग्रहण के पूर्व विचार

कृती हि सर्व परिणामरम्य, विचार्य गृह्णाति चिरस्थितीह।
भवान्तरेऽनन्त सुखाप्तये तदात्मन्! किमाचारमिम जहासि?॥२१॥

अर्थ—इस ससार में वही पुण्य पुरुष है जो सुन्दर परिणाम वाली तथा चिरस्थायी वस्तु, विचार कर ग्रहण करते हैं। परभव में अनत सुख प्राप्त करने के लिए (उसके कारणभूत) इस धार्मिक आचार को तू हे आत्मा! क्यो छोड रहा है?

उपजाति

विवेचन—यदि किसी देव की कृपा से कोई मनुष्य ऐसे जगल में पहुच जाय जहा हीरे-माणक मोती-सोना, चादी तावा, पीतल, लोहा, सीसा खूब प्रचुर मात्रा में पडा हुआ हो, जहा नजर जाए वहा ऐसे ही ढेर नजर आते हो उस समय वह मनुष्य यदि लोहार है तो लोहा ग्रहण करता है ठठेरा है तो तावा पीतल ग्रहण करता है सोनार है तो सोना चादी ग्रहण करता है लेकिन कीमती हीरे माणिक-मोती को

छूता भी नही है क्योकि ऐसी कीमती वस्तुओ से वह अनभिज्ञ है, इसी प्रकार आज इस बीसवी सदी में यही सूत्र प्राय बहुतो ने अपना रखा है, "खाओ पियो और मौज करो ।" चिरस्थायी, पुण्यकारी परभव को सुधारने वाली धार्मिक वत्तियो मे वे दूर रहते हैं। धार्मिक बात सुनकर वे कहते हैं कि ये तो हमारे दादाजी या पिताजी के लिए है, हम तो अभी बालक है! आश्चर्य है!! यह जवानी जो कुछ काल म ढलने वाली है, यह धन जो कुछ वर्षों के बाद हमारे पुत्र के या अन्य के अधिकार में जाने वाला है, यह मकान जो कि अस्तव्यस्त होने वाला है यह परिवार जो बिछुड़ने वाला है, इन अस्थायी वस्तुओ का ग्रहण करने व सभालन में ही हम अपनी अमूल्य आयुष्य व्यतीत कर रहे हैं। इन पौदगलिक (नाशवान) वस्तुओ का ग्रहण करते करते एक दिन हम थक जाते हैं। वृद्धावस्था में आराम से रहने के लिए जीवन भर उन्मादी की तरह व्यस्त रहते हैं घडी के काँटा की तरह निरतर घूमते रहते हैं। एक एक वस्तु किसी न किसी निमित्त से सग्रहित करते ही रहते हैं। लेकिन हाय! उस सुख की घडी के आने से पूर्व ही हम चल बसते हैं। ये सब वस्तुए हमारी हसी उड़ाती हैं कि "अरे जरा ठहरो, हम तो आपके भोग की राह देख रही हैं! एक दिन भी आपने हमारा भोग नहीं किया हम ज्यों की त्यों पड़ी हैं।" कायर बुद्धि से ताकता हुआ वह प्राणी आंखो में आंसू भरकर निःश्वास डालता है और सोचता है कि अरे मन की अभिलाषाएं मन म ही रह

गई। न उपयोग कर सका न योग (धर्मध्यान) कर सका। सिकन्दर बादशाह के शब्दों में कहिए तो—

ज बाहुबल थी मेलव्यु ते भोगवी पण न शक्यो।
अब्जोनी मिलकत आपना पण ए सिकन्दर न बच्यो॥

अर्थात् जो भुजबल से प्राप्त किया वह बिना भोग ही रह गया। अरबों रुपए देते हुए भी म मौत से बच नहीं रहा हूं। हाय मैं मर रहा हूं।

हे भद्र आत्माओ! इन सांसारिक पदार्थों के मोह को छोड़कर उस चिरस्थायी आनन्दायी, शान्तिमय सद्धर्म की आराधना करो। जिससे इस जीवन में भी आनन्द प्राप्त हो व परलोक भी सुधर जाय।

राग द्वेष के किए हुए विभाग पर विचार

निज परोवेति कृतो विभागो, रोगादिभिस्ते स्वरयस्तवात्मन्।
चतुर्गतिक्लेश विधानतस्तान्, प्रमाणयन्नस्यरिनिर्मित किम्॥२२॥

अर्थ—हे आत्मन्! अपना और पराया विभाग राग द्वेष द्वारा किया गया है। चारों गतियों में (अनेक प्रकार के) कष्ट दिलाने वाले राग द्वेष तो तेरे शत्रु हैं। तो फिर शत्रुओं द्वारा बनाए गए विभाग को तू क्या स्वीकार करता है?

उपजाति

विवेचन—राग द्वेष के द्वारा ही हम सब प्राणियों को मित्र या शत्रु समझते हैं। अपना पराया का भेद भी इसी कारण से है। चारों गतियों में (देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक)

भटकाने वाले भी रागद्वेष ही है अत इन शत्रुओ के द्वारा बनाए हुए नियमो को हे आत्मा तू क्या मानता है अथवा राग द्वेष को छोडने का उपाय त क्यो नही करता है ? राग तो मोहमयी मदिरा है जिसके सेवन से प्रमत्त हुआ जीव विवेक रहित हो जाता है। द्वेष भी आत्मरूपी दावानल है जिसकी लपटो में सब पुण्य भस्म हो जाता है। मोह या राग मीठी छुरी है जो क्षणिक मधुरता का आस्वादन कराती हुई जीभ को काटती है। द्वेष दृष्टि विषधर है जो दृष्टि म ही घात करता है। इन दोनो के कारण ही प्रभु का मार्ग दुर्गम हो रहा है। जिस प्रकार शत्रु विपरीत सम्मति देकर हानि करता है, उसी प्रकार य दोनो भी आत्मा को भव जजाल म से निकलने नही देते है। ये लुटेरे तमाम आत्मधन को लूट कर नग्न कर देते है अर्थात पुण्य छीन कर आत्मा को भवकूप म ढकेल देते है। हे कल्याण के इच्छुक भाई ! इन दोनो शत्रुओ को पहचानकर इनसे दूर रह वरना भव म भटकना बद न होगा। देवगति में विरह दु ख तथा परोत्कर्ष दु ख, मनुष्यगति म आजिविका का दु ख एव सयोग वियोग का दु ख तिर्यच गति म मूकस्थिति, सर्दी गर्मी भूख प्यास सहने का दु ख एव नरकगति शारीरिक-मानसिक एव अनेक प्रकार के दु ख राग द्वेष के कारण ही जीव को सहन पडते है। अत इन दु खों के कारणभूत इन दोनो से दूर रहकर आत्महित करो। बिना पहचान वालो से हम रागद्वेष कम करते है जब कि अपने परिवार में माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र या नौकर के साथ तो पद पद पर इन दोनो म से एक या दोनो का व्यवहार

निरतर होता ही रहता है अत वहा विशेष सावधान रहना चाहिए, वसे प्रसगो से दूर रहना चाहिए ।

आत्मा और अन्य वस्तुओं के सबध पर विचार

अनादिरात्मा न निज परो वा, कस्यापि कश्चिन्न रिपु सुहृद्वा ।
स्थिरा न देहाकृतयोऽणवश्च तथापि साम्य किमुपषि नषु ॥२३॥

अर्थ—आत्मा अनादि है इसका स्वय का कोई नही है तथा पराया भी कोई नही है, न यह किसी का शत्रु है न किसी का मित्र है, देह की आकृति तथा उसमें रहे हुए परमाणु भी स्थिर नही है फिर भी तू इनमें समता क्यो नही रखता है ? ॥ २३ ॥ उपजाति

विवेचन—आत्मा के विषय में ससार म बडी भिन्नता है कोई कुछ मानता है कोई कुछ। परन्तु वास्तव में आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो कभी नष्ट नही हो सकता । द्रव्य रूप से वह ध्रुव है पर्यायरूप से यह बदलती है, पुदगल के ससग से विचित्र जाति, नाम, शरीर धारण करती है । जिस प्रकार स्वण एक पदाथ है उसके तरहतरह के आभूषण बनवाना पर्याय है, उसमें चादी तावा पीतल के मिला देने से रग में अन्तर पड जाता है इतना होने हुए भी स्वण स्वण ही रहता है । उसी प्रकार आत्मा सदा अमर व ध्रुव है। आत्मा का लक्षण श्री लोकप्रकाश (द्रव्यलोक द्वितीयसग श्लोक ४३ ७३) के अनुसार इस प्रकार से है, "जीव का सामान्य लक्षण चेतना है, विशेष स्वरूप पाच ज्ञान तीन अज्ञान तथा चार दशन ये बारह उपयोग है। सब जीवो का अक्षर का अनतवा भाग तो

भटकाने वाले भी रागद्वेष ही है अत इन शत्रुओ के द्वारा बनाए हुए नियमो का हे आत्मा तू क्या मानता है अर्थात राग-द्वेष को छोडने का उपाय तू क्या नही करता है ? राग तो मोहमयी मदिरा है जिसके सेवन से प्रमत्त हुआ जीव विवेक रहित हो जाता है। द्वेष भी क्रोधरूपी दावानल है जिसकी लपटो में सब पुण्य भस्म हो जाता है। मोह या राग मीठी छुरी है जो क्षणिक मधुरता का आस्वादन कराती हुई जीभ को काटती है। द्वेष दृष्टि विषधर है जो दृष्टि म ही घात करता है। इन दोनो के कारण ही प्रभु का मार्ग दुर्गम हो रहा है। जिस प्रकार शत्रु विपरीत सम्मति देकर हानि करता है, उसी प्रकार ये दोनो भी आत्मा को भव जजाल म से निकलने नही देते ह। ये लुटेरे तमाम आत्मधन को लूट कर नगे कर देते ह अथवा पुण्य छीन कर आत्मा को भवकूप म धकेल देते ह। हे कल्याण के इच्छुक भाई ! इन दोनो शत्रुओ को पहचानकर इनसे दूर रह वरना भव म भटकना बद न होगा। देवगति म विरह दुख तथा परातप दुख, मनुष्यगति में आजिविका का दुख एव सयोग वियोग का दुख, तिर्यच गति में मूकस्थिति, सर्दी गर्मी भूख प्यास सहने का दुख एव नरकगति शारीरिक मानसिक एव अनेक प्रकार के दुख राग द्वेष के कारण ही जीव को सहने पडते ह। अत इन दुखो के कारणभूत इन दोनो से दूर रहकर आत्महित करो। बिना पहचान वालो से हम रागद्वेष कम करते ह जब कि अपने परिवार में माता, पिता, स्त्री, पुत्र, मित्र या नौकर के साथ तो पद पद पर इन दोनो में से एक या दोनो का व्यवहार

निरंतर होना ही रहता है अतः वहां विशेष सावधान रहना चाहिए, उस प्रसंग से दूर रहना चाहिए।

आत्मा और अन्य वस्तुओं के संबंध पर विचार

अनादिरात्मा न निजः परो वा, कस्यापि कश्चिन्न रिपुः सुहृद्वा।
स्थिरा न देहाकृतयोऽणवश्च तथापि साम्यं किमुपैषि नैषु ॥२३॥

अर्थ—आत्मा अनादि है इसका स्वयं का कोई नहीं है तथा पराया भी कोई नहीं है न यह किसी का शत्रु है न किसी का मित्र है, देह की आकृति तथा उसमें रहे हुए परमाणु भी स्थिर नहीं हैं, फिर भी तू इनमें ममता क्यों नहीं रखता है?
॥ २३ ॥ उपजाति

विवेचन—आत्मा के विषय में संसार में बड़ी भिन्नता है कोई कुछ मानता है कोई कुछ। परन्तु वास्तव में आत्मा एक ऐसी वस्तु है जो कभी नष्ट नहीं हो सकती। द्रव्य रूप में वह ध्रुव है पर्यायरूप में वह बदलता है पुद्गल के संसर्ग से विविध जाति, नाम शरीर धारण करती है। जिस प्रकार स्वर्ण एक पदार्थ है उसके तरह तरह के आभूषण बनवाना पर्याय है, उसमें चांदी तांबा पीतल के मिला देने से रंग में अन्तर पड़ जाता है इतना होते हुए भी स्वर्ण स्वर्ण ही रहता है। उसी प्रकार आत्मा सदा अमर व ध्रुव है। आत्मा का लक्षण श्री लोकप्रकाश (द्रव्यलोक द्वितीयसर्ग, श्लोक ८३ ७३) के अनुसार इस प्रकार से है "जीव का सामान्य लक्षण चेतना है, विशेष स्वरूप पांच ज्ञान तीन अज्ञान तथा चार दर्शन ये बारह उपयोग हैं। सब जीवों का अक्षर का अनंतवां भाग तो

खुला ही रहता है, अत उपयोग बिना का कोई जीव तीनलोक में नही है। चाहे जसे आवरण करने वाल, (ढकने वाले) कम हो तो भी यह अक्षर का अनन्तवा भाग तो ढका ही नही जा सकता है। अक्षर का अथ है ज्ञान व दशन का उपयोग। जसे सूय पर बादलो का समूह छाया हुआ हो फिर भी कुछ न कुछ भाग तो खुला रहता ही है उसी प्रकार आत्मा का अनत ज्ञान ढक जाने पर भी जरा सा भाग तो खुला रहता ही है अत जिस कारण से दिन, रात्रि से भिन्न माना जाता है वसे ही आत्मा भी इसी लक्षण से अजीव से भिन्न होता है। यद्यपि आत्मा का लक्षण ज्ञान है फिर भी कम से ढके रहने स वह प्रकट प्रतीत नही होता है। खान में रहे हुए सोने में भी जसे शुद्ध काचनत्व है वसे ही आत्मा में भी अनत ज्ञान सवदा रहता ही है मात्र उस पर पर्दे पड हुए ह। व्यक्त अव्यक्त रूप से जब आत्मा को क्षयोपशम होता है तब शक्ति और काय के रूप में ज्ञान उत्पन्न होता है फिर जब वह बल (वीय) चला जाता है तब जसे मिट्टी दपण को ढक लेती है वसे ही कम आत्मा को ढक लेते हैं परन्तु यदि बहुत प्रयत्न करके सब मिट्टी दूर की जाय तो अनादि शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। आत्मा का स्वरूप एक ही है परन्तु कर्मावृत्त होने से वह त्रिविध रूप धारण करता है'।

ऐसे इस अनादिकाल से अविरत स्वरूपवाले (सदाकाल अज्ञान से भटकने वाले) आत्मा का कोई अपना नही है, पराया भी कोई नही है, इसके लिए तो सब बराबर है। जसे वक्ष के फल एक ही जगह उत्पन्न होते हुए भी, एक साथ रहते हुए भी

कोई किसी के नही ह वसे ही हम भी ससार वक्ष क फल ह ग्रौर समय ग्रान पर ग्रलग होग । जसे किसी फल पर सूय की किरणें सीधी पडती ह वह जल्दी पक जाता है ग्रौर खानवाले क नजर पडकर ग्रपना नाश कराता है बाकी के फलो का भी नबर क्रमश ग्राता ही है किसी का जल्दो किसी का देर से वस ही हमारा भी काल ग्रा रहा है । यदि तपरूपी सूय की सीधी किरणें हम पर पड जाव तो इस शरीररूप ग्राकार का नाश कर ग्रपना कल्याण साध लें बाकी पवन पर गिरना तो पडेगा ही। ग्रत जसे उन फलो में कोई किसी का ग्रपना नही व पराया भी नही वसी ही स्थिति हमारी भी है । कई बार जन्मे ह ग्रौर कई बार मरे हं, वतमान परिवार के जीवो के समग में भी कई भवा तक ग्राए ह ग्रत हमारा न कोई मित्र है न कोई शत्रु है। शरीर का ग्राकार भी बदलता रहता है। "चलती फिरती बादल छाया, मूरख इसमें क्यों भरमाया"। खलते कूदते भोला व स्वतत्र बचपन बीत गया दीवानी जवानी के बन को स्त्री व परिवार ने हरण कर लिया, चिंता व ग्राशाग्रो न जवानी व बुढापा एक ही साथ ला दिया, ग्रौर फिर तो "ग्रग गलित पलित मुण्ड दन्त विहीन जात तुण्ड, वृद्धोयाति गृहीत्वा दण्ड तदपि न मुचति ग्राशा पिण्डम"। यह दशा उपस्थित हो जायगी। हे कालवन म भटकने वाले मानव, जिस किसी ग्रनजान न तुझ जो भी माग बताया उसी पर चलता हुवा तू ग्रौर ग्रधिक घमता हुवा वही का वही ग्राकर खडा हो गया तेरा सब परिश्रम व्यथ गया। तेली कॉ बल सुबह से शाम तक घूमा परन्तु वही का वही। हे सुज्ञ !

जरा इस ससार चक्र को देख और तू किसी के प्रति कोई भी तरह का भेद भाव न समझ। तूही तेरा मित्र शत्रु सगा सबधी सब है। शरीर के अदर रहे हुए पदार्थ धीरे धीरे सूखते जाएग एव तुझे यह चोला छोडने को विवश करगे अत इसका विश्वास न कर। इससे पूरी मजूरी ले ले। इसे खिलाता भी बहुत है अत धर्म भी बहुत करा ले।

माता पिता आदि के सबध

यथा विदा लेप्यमया न तत्त्वात्, सुखाय मातापितृपुत्रदारा ।
तथा परेऽपीह, विशीणतत्तदाकारमेतद्धि सम समग्रम ॥२४॥

अर्थ जसे समझदार मनुष्य को चित्रित माता, पिता पुत्र, स्त्री तात्विक सुख नही देते ह उसी प्रकार इस ससार म रहे हुए प्रत्यक्ष माता पिता आदि भी सुख नही देते ह। आकार के नष्ट होने पर दोनो बराबर हो जाते ह ॥ २४ ॥

उपजाति

विवेचन—भौतिक प्रगति के इस युग में बहुत कम एसे मनुष्य होंगे जो चलचित्र (सिनमा) से अपरिचित होंगे, उसे देखने की कितनी उत्कठा रहती है ? शो (दृश्य) शुरू होने के पूर्व उसे देखने की तीव्र उत्सुकता एव समाप्त होने पर क्षणिक विचार मन को घेरे रहता है। चालू शो में चित्त की एकाग्रता रहती है, दिखाए जाने वाले दृश्यों का प्रभाव मन को उथल पुथल करता है परन्तु घर आने पर उसका कोई असर नही रहता। चित्र में देखे गए पात्र अपनी अपनी रुचि के अनुसार

भच्छे, बुरे साहसी, चमत्कार, भ्रनन भ्रनघ, नजर आते है। कुछ समय या दिन तक उनके विचार भी ध्यान रहते है परन्तु दूसरा पिक्चर (चित्र) सामने आते ही पहले के सब विचार उड जाते है। ठीक यही स्थिति हमारे पूरे परिवार की है। जीवन में कितने ही प्रसंग ऐसे आते है जो हमे दुःख देने वाले होते हैं व चाहे हमारे पिता माता स्त्री, भाई या भोजाई की तरफ से या स्वयं हमारी तरफ से उत्पन्न किए गए हों। पारिवारिक संबधो को मधुर बनाये रखने की भावना होने हुए भी विचार व स्वभाव की भिन्नता से कई मनभेद व मनभेद उपस्थित हो जाते है जिससे पूरा वातावरण कटु सतप्त व असहनीय हो जाता है। कभी कभी तो अपने कहलाने वाले भी अपना पराए लोग सहयोगी, व मददगार हो जाते है। यहा तात्पर्य इस बात का है कि इन सब संबधो का गहराई से विचार कर मोह दशा को दूर करें। प्रत्येक प्राणी का प्रत्येक प्राणी के साथ सबसे बड़ा प्रेम संबध है व पारिवारिक धर्म है उसे निभाते रहना चाहिए। मात्र सासारिक सबधो का वास्तविक स्वरूप समझाने के लिए शास्त्रकारों का उपरोक्त आशय है। पारिवारिक गूढ संबध (पिता पुत्र, माता पुत्र, भाई भाई भाई बहिन, पति पत्नि) होते हुए भी कई घटनाए ऐसी बनी हैं जो मोहत्याग के ज्वलन्त उदाहरण है। एक ने दूसरे का घात किया है। श्रेणिक-कोणिक, ब्रह्मदत्त-चुलणा, रावण विभीषण, बाली-सुग्रीव आदि। मृत्यु के पश्चात् धीरे २ सबको भुला दिया जाता है। नए संबधो से मोह उत्पन्न होता है वह भी मिटता है। यह क्रम बना ही रहता है।

समता के पहचानने वालों की संख्या

जानन्ति कमानिखिला: ससंज्ञा,
अर्थं नरा केऽपि च केऽपि धर्मम् ।
जैनं च केचिद् गुरुदेवशुद्धं
केचित् शिवं केऽपि च केऽपि साम्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ—सब संज्ञा वाले प्राणी 'काम' को जानते हैं, उनमें से कुछ ही 'अर्थ' (धन प्राप्ति) को जानते हैं, और उनमें से भी कुछ ही 'धर्म' को जानते हैं, उनमें से कुछ ही जैनधर्म को जानते हैं और उनमें से बहुत ही कम शुद्ध देव गुरुयुक्त जैनधर्म को जानते हैं, परन्तु बहुत थोड़े प्राणी मोक्ष को पहचानते हैं और उनमें से भी बहुत कम प्राणी समता को पहचानते हैं ।

विवेचन—काम की अभिलाषा सभी प्राणियों को होती है । देव, मनुष्य, पशु पक्षी, आदि को तो वह होती है परन्तु आश्चर्य तो यह है कि एकेन्द्रिय वृक्षों तक को होता है —

पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः,
शोकं जहाति बकुलो मधुसिंधुसिक्तः ।
आलिंगितः कुरुबकः कुरुते विकासम्
मालोकितस्तिलक उत्कलिको विभाति ॥

अर्थात् स्त्री के पादप्रहार से अशोक वृक्ष विकसित होता है, उसके द्वारा शराब का कुल्ला थूकने से बकुल वृक्ष शोक रहित होता है, स्त्री के आलिंगन से कुरुबक वृक्ष विकास

करता है, निरन्तर वश वे तो मात्र स्त्री के स्पर्शन से ही कलिया आती है तथा वह कुसुमित होता है।

एकेन्द्रिय वृक्ष तथा छोटे छोटे जीव जन्तु पशु पक्षी आदि जो कम सना वाले ह वे भी मथुन करते हं। जीव के साथ मथुन की भावना परपरा म लगी हुई है। इन सबसे अधिक सना वाले या ज्ञान वाले हम मनुष्य मथुन (काम भोग) में कितने लिप्त ह यह तो हम स्वय ही जान रहे ह। चार पुरुषार्थों (काम, अर्थ धर्म मोक्ष) में से पहला पुरुषार्थ तो सभी कर रहे ह। अब दूसरा पुरुषार्थ अर्थ धन प्राप्ति तो केवल मनुष्य ही करता है। धन प्राप्ति के लिए कितना कष्ट, उठाना पड़ता है । झूठ-पाप अन्याय क्रूरता निर्दयता अपमान उलाहना आदि तो धन के सहयोगी ह ही परन्तु इनमे भी बढकर है आत्मग्लानी, पराभव, खुशामद अमहनीय, कटु वचन श्रवण, अप्रिय, दुराचारी, कामी क्रोधी अफसर या मालिक सेठ का आज्ञा पालन। सर्दी गर्मी भूख प्यास तथा मुसाफिरी का कष्ट सहते हुए भी मनुष्य इस पुरुषार्थ को करते ह। काम पुरुषार्थ करने वालो की अपेक्षा अर्थ पुरुषार्थ करने वाले कम ह। इनसे भी कम धर्म पुरुषार्थ करने वाले हं। सुबह से शाम तक धन की माला जपने वाले, धन के पीछे निद्रा या भोजन की भी परवाह न करने वाले व धन को आराध्यदेव समझने वाले मनुष्यों को धर्म के लिए अवकाश कहा है ? जिधर भी देखेंगे चलचित्र की केवल धन के लिए ही फिर रहे हैं, लोग धर्म

पुरुषार्थ को करते हैं। धर्म शब्द की व्याख्या करना उपयुक्त होगा। धर्म का शब्दार्थ है—धायते इति धर्म अर्थात् जीवों को दुर्गति में गिरने से जो रोकता है, उन्हें सत्पथ में धारण करता रहता है वह धर्म है। अब जैन धर्म का स्वरूप जानना भी आवश्यक है। जित् का अर्थ है जीतना। जिसने जीत लिया है अतरंग शत्रुओं को उसे जिन कहते हैं। उस जिनकी आज्ञा को मानने वाले जैन कहलाते हैं। अतरंग शत्रुओं से तात्पर्य है क्रोध मान, माया लोभ, राग द्वेष, मत्सर तथा आठ कर्म आदि। अतः अन्य धर्मों को जानने वाला की अपेक्षा जैन धर्म को जानने वाले कम हैं और उनसे भी कम तो वे हैं जो जैन धर्म को शुद्ध रीति से पालते हैं। शुद्धदेव जो अठारह दोषों का दूर करने के पश्चात् ही जिन कहलाते हैं। उनका स्वरूप जानने वाले विरले हैं। अठारह दोष ये हैं।
(१) दानांतराय, (२) लाभांतराय, (३) भोगांतराय, (४) उपभोगांतराय, (५) वीर्यांतराय, (६) हास्य, (७) रति, (८) अरति, (९) भय, (१०) शोक, (११) जुगुप्सा (निंदा) (१२) काम, (१३) मिथ्यात्व, (१४) अज्ञान, (१५) निद्रा, (१६) अविरति (१७) राग, (१८) द्वेष।
सच्चे गुरु जो साधु अवस्था में २७ गुण के धारक होते हैं, उपाध्याय बनने पर २५ गुण धारक और आचार्य बनने पर ३६ गुण धारक होते हैं। ऐसे देव गुरु और धर्म के स्वरूप को जानकर जैन धर्म पालने वाले बहुत कम हैं। इन प्राणियों में से भी बहुत कम ऐसे हैं जो मोक्ष के स्वरूप को समझते हैं। मोक्ष अर्थात्—आत्मा का सर्व बंधनों से मुक्त होकर, शुद्ध

होकर अपने स्वरूप को पाना। फिर से जन्म या मृत्यु नही होकर शाश्वत सुख का अनुभव करते हुए जीव का सिद्ध शिला पर रहना। इस स्वरूप को समझने वालो की अपेक्षा भी बहुत ही कम ऐसे होगे जो समता के स्वरूप को पहचानते है।

सुज्ञ मानव प्राणियो ! इस प्रकार से चारो पुरुषार्थों का स्वरूप जानकर हमें धर्म और मोक्ष इन दो पुरुषार्थों में ही शक्ति लगाना चाहिए कारण कि मानव भव को खोने के पश्चात हमें किसी भी भव में विवेक प्राप्त न होगा। हम अन्य जीवो की अपेक्षा अधिक ज्ञानवान है अत हमें सज्ञी पचेन्द्रिय प्राणी कहा जाता है। यदि हम अपना हित नही साधते है तो फिर पशु और हममें अन्तर ही क्या है? क्योंकि 'आहार निद्रा भय मैथुन च सामान्यमेतत्पशुभि नराणाम्'। केवल विषय वासना में चित्त रहना हो तो कामी कुत्ते को देखो, उसकी क्या दुर्दशा होती है केवल धन में चित्त रहना हो तो मर कर सर्प बन उस पर चौकी करनी पडेगी। यदि अपने वैभव में चित्त रहना हो तो मर कर नद मणियार की तरह अपनी ही बनाई हुई बावडी में मेंढक बनना पडेगा आदि। अत चारो पुरुषार्थों में से धर्म, व मोक्ष इन दो को आराधो और साथ ही समता को पहचानो। सारे दिन वृथा बातो से दूर रहकर जितना अधिक समय मिले अपना विचार करो। निरर्थक बातो से कोई परिणाम न निकलेगा विपरीत खेद होगा। मोक्ष प्राप्ति का साधन समता है। यह ज्ञान व क्रिया में निरूपण है। ऐसा स्वरूप जानने पर ही वास्तविक सुख का अनुभव होगा।

सबन्धियों का स्नेह स्वार्थ पूर्ण है अत अपना स्वार्थ साधो

स्निह्यन्ति तावद्धि निजा निजेषु, पश्यन्ति यावन्निजमर्थमेभ्य ।
इमां भवेऽत्रापि समीक्ष्य रीतिं, स्वार्थे न क प्रेत्यहिते यतेत ॥२६॥

अर्थ—सगे सबधी, जहा तक अपने सबधियो में कुछ भी अपना स्वार्थ देखते हैं वही तक उन पर स्नेह रखते हैं। इस भव की इस रीति को देखकर परभव के हितकारी 'स्वार्थ' के लिए ऐसा कौन होगा जो यत्न नही करेगा ॥ २६ ॥

उपजाति

विवेचन—पख आने पर पक्षी माता को छोड देते है, चारा दाना पचाने की शक्ति आने पर पशु अपनी माता का सबध छोड देते हैं, जब तक दूध पीते थे तब ही तक उसमे स्नेह था, पश्चात युवावस्था में भान भूलकर उसीसे मैथुन करते हैं। मनुष्य भी जब तक बालक होता है, अशक्त होता है तब तक माता पिता के आधार पर रहता है, उनके द्रव्य से पलता है व विद्याभ्यास करता है पश्चात युवावस्था में विवाह कर उनसे अलग हो जाता है, उनकी अवहेलना करता है, उसको माता पिता की अपेक्षा स्त्री व सतान अधिक प्रिय लगते हैं। सब ही स्नेहीवर्ग की यही दशा है। जब तक जिसका जिससे स्नेह है या स्वार्थ है तब ही तक उसके रहते हैं। धन और शक्ति के क्षीण होने पर स्त्री पुत्र आदि भी मनुष्य को छोड देते हैं। वृद्ध पुरुषो की वही दशा होती है, जो कि हाडपिंजर दुग्धहीन गाय भैंस की या जर्जरित अस्थि पिंजर घोडे की होती है। दुनिया का बडा भाग स्वार्थ परायण

ही है। स्नेह मे भी स्वाथ है और रुदन में भी स्वाथ है। अशक्त और रोगी नौकर को सेठ निकाल देता है, प्रमाणिक व स्वामीभक्त सेवक को वृद्धावस्था में राजा छोड देता है। धनहीन मनुष्य को मित्र, सबधी, स्नेही, भाई, बहिन, सभी हीन दृष्टि से देखते है। अत ससार की इस रीति को देखकर बुद्धिमान पुरुष का कर्त्तव्य है कि परभव के हितकारी 'स्वाथ' को स्व (आत्मा) व अथ (हित) का साध ले। ऐसा कौन बुद्धिमान है कि स्वार्थी ससार को देखकर स्वय स्वार्थी (स्वहितपी) नही बनगा।

स्वप्न दृष्टान्त

स्वप्नेंद्रजालादिषु यद्वदाप्तैरोपश्च तोपश्च मुधा पदार्थे ।
तथा भवेऽस्मिन् विषय समस्तैरेव विभाव्यात्मलयेऽवधेहि ॥२७॥

अथ—इस भव में प्राप्त हुए समस्त विषयो व पदार्थों पर रोप या तोष करना उसी प्रकार निरथक है जिस प्रकार स्वप्न में या इन्द्रजाल में देखे हुए पदार्थों पर रोष (क्रोध) या तोष (सतोष) करना है। अत हे आत्मा ! इस बात का विचार कर एव आत्मभाव में लवलीन हो जा। (समाधि में तत्पर हो) ॥ २७ ॥ उपजाति

विवेचन—यदि स्वप्न में कोई गरीब मनुष्य राजा या सेठ हो जाता है या सुख सामग्री वाला हो जाता है परन्तु स्वप्न दूर होने पर वह अपने टूट फूट घर व सामान को देखकर स्वप्न की कल्पना करके दुखी होता है, परतु उसकी कल्पना निरथक है। कोई बाजीगर या इन्द्रजालिया रुपयो का ढेर कर

देता है, वह जेब म से, टोपी म से या हाथ में से रुपए निकालता है या आम लगा देता है परन्तु परिणाम कुछ नहीं होता है। सुलसासती की परीक्षा के लिए अबड परिव्राजक ने, क्रमश ब्रह्मा, विष्णु, महेश व जिनका स्वरूप इन्द्र जाल से बनाया परन्तु सुलसा सम्यक्त्व से डिगी नही। अत जैसे इन्द्रजाल व स्वप्न के पदाथ निरथक ह वस ही ये दिखते हुए सासारिक पदाथ एव विषय भी निरथक ह। अत हे आत्मा समाधि में (आत्मभाव में) लवलीन बना रह।

मत्यु का विचार—ममत्व का स्वरूप

एष मे जनयिता जननीय, बधव पुनरिमे स्वजनाश्च।
द्रव्यमेतदिति जातममत्वो, नव पश्यसि कृतातवशत्यम ॥२८॥

अर्थ—यह मेरे पिता हैं, यह मेरी माता है, ये मेर भाई हैं, और ये मेर स्वजन ह, यह मेरा धन है इस प्रकार का तुझे ममत्व हुवा है, परन्तु तू यमराज के वशीभूत हुआ है यह नही देखता है॥ २८॥ स्वागता

विवेचन—यह दुनिया एक बाजीगर का खेल है। इसके संबध मिथ्या हैं, माता पिता, भाई, सबधी और धन इनमें ही तेरा मन लगा हुवा है। इनका ही मात्र अपना मान बठा है और हरदम इनको प्रसन्न करने में, इनके लिए कमाने में या सुख के सामान जुटाने म लगा है परन्तु यह नही देखता है कि तू काल के वश में फसा हुवा है। मृत्यु देवी चेतावनी देकर तेरे पास आ रही है। बालों का सफेद होना, अगों का शिथिल होना, दृष्टि की कमी, कानो का बहरापन, दातों का गिरना

यही ता ममता चेतावनी है। अन इसके आने के पूर्व तैयारी कर रखना चाहिए। यह तब ही हो सकता है जब कि तू ममत्व त्यागकर समता धारण करेगा।

चेतोहरा युवतयः स्वजनोनुकूल सदबांधवा प्रणयगर्भगिरश्च भत्या। वलगन्तिदन्तिवहास्तरलास्तुरगा समीलने नयनयोर्नहि किंचिदस्ति।

अर्थात चित्त को चुराने वाली स्त्रियां, अनुकूल सबंधी, अच्छे भाई बंधु, आज्ञाकारी मधुरभाषी सेवक, भूमते हुए हाथियों का समूह, चपल घोड़े यदि यह सब प्राप्त हों परन्तु आंख मिची कि इनमें से कुछ भी नहीं है।

है भोले जीव! तू बिल्ली की तरह दूध को तो देख रहा है परन्तु मालिक के डण्डे को नहीं देख रहा है। तू उस बालक के समान है जो बारिश में गीली रेती से घरों को बनाता है, लड्डू बनाता है या पुतलियां बनाकर खेल रहा है। उन घरों, लड्डू या पुतलियों को वास्तविक समझ रहा है। यदि कोई उनको तोड़ता है, तो वह रोता है। वैसे ही तू भी इन मिट्टी की पुतलियों को जो आत्मा के कारण चल फिर रही हैं अपना मान बैठा है। मिट्टी के घर को स्थायी रहने का स्थान, एवं पीली मिट्टी को (सोने को) आराध्यदेव मानकर उसकी प्राप्ति के लिए मोह मदिरा के वशीभूत रहता है। जैसे बालक के सब खिलौने थोड़ी देर में टूटने वाले हैं वैसे ही तेरे भी ये सब अपने माने हुए चलते फिरते खिलौने और भवन व धन के ढेर टूटने वाले हैं। या तो ये तुझे छोड़ देंगे या तुझे इनको छोड़

लेना पड़ेगा अतः इनका ममत्व छोड़कर मौत को सिर पर जान कर, इनके वश में से निकलने का प्रयत्न कर।

विषय पर मोह—उसका स्वरूप समता का उपदेश

नो धन परिजनै स्वजनैर्वा, दैवत परिचितैरपि मंत्र ।
रक्ष्यतेऽत्र खलु कोऽपि कृतान्तान्नो विभावयसि मूढ किमेवम् ॥२६॥
तभवेऽपि यदहो सुखमिच्छस्तस्य साधनतया प्रतिभाति ।
मुह्यसि प्रतिकल विषयेषु, प्रीतिमेषि न तु साम्यसतत्त्वे ॥३०॥

अर्थ—धन, नौकर, कुटुम्बी, देवता परिचित मंत्र इनमें से कोई भी तेरी मृत्यु से रक्षा नहीं कर सकता है यह निश्चित ही है। हे मूढ़ तू यह विचार क्यों नहीं करता है। सुख प्राप्ति के साधन स्वरूप दिखते हुए इन सबके द्वारा सुख चाहता हुवा हे भाई! तू प्रति क्षण विषयों में प्रमत्त हो रहा है परन्तु समता स्वरूप वास्तविक रहस्य से प्रीति नहीं कर रहा है ॥२९-३०॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—धन देकर जगत के रिश्वतखोर व शक्तिशाली हाकिमों को प्रसन्न किया जा सकता है, और दण्ड से छूटा जा सकता है। शारीरिक व मानसिक कुछ व्याधियों या चिंताओं को नौकर व कुटुम्बी कुछ समय के लिए दूर कर सकते हैं, सर्प आदि का मंत्र से वश में किया जा सकता है परन्तु ये सब तरकीबें यमराज के सामने नहीं चल सकती हैं। इनमें से कोई भी हमें मृत्यु से नहीं बचा सकता है। बादशाहों का बादशाह सिकन्दर जब सबसे बड़े बादशाह यमराज के दरबार में जाने लगता है उस वक्त वह क्या कहता है—

म्हारा वधावन्ना हवीमान ग्रही बोलावजा
म्हारा जनाजा एज थदा न सभ उपडावजा।
दर दुनिया ना दद न दफनाव नाम ताण छ।
डारी तुटा ग्रायुष्यनी ना साधनाम ताण छ॥
ग्राशा जगत न जीउनाम सत्वपण रहतु रह्य
विकारवनभूपानन नही वाल थी छाडजी नावयु॥

ऊपर के सब माया का वास्तविक स्वरूप समझकर हे भाई! तू सावधान हो जा। तू प्रतिक्षण विषयो में लिप्त हो रहा है, ये तेरा ग्रात्मा का स्वार्थी मित्रो की तरह घर हुए है। वास्तविक सुख दन के ये साधन नही है वषाऋतु मे ग्राकाश में दिखने वाले इन्द्र धनुष की तरह ये दखत ही दखत नष्ट होने वाले है ग्रत प्रमतावस्था को दूर कर ग्रात्मस्वरूप का पहचान और यह निश्चय जान ले कि ग्रायुष्य को कोई वढा नहीं सकेगा। जगत का कोई पदार्थ यमराज के मुह में से तुझ कभी नही छुडा सकता है। क्या सिंह के मुह में से बकरे को छुडाने की शक्ति किसी म है? यमराज, वनराज से भी ग्रधिक बलवान है। ग्रत समता का धारण करके वास्तविकता का पहचान।

कषाय का स्वरूप—उसका त्याग

किं कषायकलुषं कुरुषे स्वं, केषु चिन्मनु मनोऽरिधियात्मन्।
तेऽपि ते हि जनकादिकरूपरिष्टतां दधुरनतभवेषु॥ २१॥

ग्रथ—हे ग्रात्मा! कितने ही प्राणियो पर शत्रु बुद्धि रखकर तू ग्रपने मन को कषाय से क्या मलिन करता है?

(क्योंकि) कितने ही भावों में वे तेरे माता पिता आदि रूप से प्रीति के पात्र रह चुके हैं ॥ ३१ ॥ स्वागता

विवेचन—क्रोध आदि कषाय करना आत्मा को पसंद नहीं है, फिर भी किया ही जाता है। यद्यपि क्रोध आदि का भाव लाना आत्मा का विकृत रूप है, क्रोध से चेहरा लाल हो जाता है, आँखें तन जाती हैं, भवें चढ जाती हैं व चित्त उत्तेजित हो जाता है। मान करते समय आत्म प्रशंसा, दिखावा, न होते हुए गुणों का मानना आदि भाव लाने पड़ते हैं। माया तो कपट बिना हो ही नहीं सकती है, झूठ उसका सहोदर है। लोभ से अपमान, निंदा व असंतोष होता ही है इस प्रकार से चारों कषायों से हे आत्मा ! तू क्या मलिन होता है एवं जिन जीवों पर तू अभी क्रोधादि कर रहा है वे अनंत भावों से तेरे माता पिता आदि कुटुम्बी रह चुके हैं और तेरे प्रीति के भाजन रहे हैं। यह आत्मा चारों गतियों की ८४ लाख योनियों में भटकता हुआ कभी किसी का भाई कभी बहिन, कभी माता कभी पिता, कभी पुत्र, कभी स्त्री, कभी नौकर, कभी दास भी बनता रहता है अतः सब ही तेरे स्वजन हैं अतः किसी भी जीव पर क्रोधावेश में मत आ, हानि तेरी ही होगी।

दोष का स्वरूप—उसका त्याग

यांश्च शोचसि गताः किमिमे मे, स्नेहला इति धिया विधुरात्मा।
तैर्भवेषु निहतस्त्वमनंतेष्वेव तेऽपि निहता भवता च ॥ ३२ ॥

अर्थ—स्नेह बुद्धि से जिनको गया हुआ (मरा हुआ) जान कर तू व्याकुल होकर शोक करता है उनके द्वारा तू

अनंत भव में मारा गया है और तू ने भी उनको अनंत भव में मारा है।

विवेचन—व्यवहारिक रूप में जीव अनंत बार जन्मता है और अनंत बार मरता है अर्थात् पर्याय बदलता है। उस स्थिति में पारस्परिक अनेक प्रकार के संबंध बांधता है किसी के साथ मित्रता करता किसी के साथ शत्रुता के। मित्रता की अपेक्षा शत्रुता बांधने के प्रसंग अधिक आते हैं अतः जिनको आज तू मरा हुआ जानकर शोक कर रहा है उन्होंने भी तुझे मारा है और तू ने भी उन्हें मारा है अतः शोक करने की आवश्यकता नहीं है अथवा समभाव रख। जीवन मरण तो मोक्ष होने तक कभी रुकने वाले नहीं है।

मोह त्याग — समता में प्रवेश

त्रातुं न शक्या भवदुःखतो ये त्वया न ये त्वामपि पातुमीशाः।
ममत्वमेतेषु दधन्मुधात्मन्, पदे पदे किं शुचमेषि मूढ ॥ २३ ॥

अर्थ—तेरे द्वारा जो भव दुःखों से बचाए नहीं जा सकते हैं और जो तुझे ही बचाने में समर्थ हैं, उनमें ममत्व में जलता हुआ हे मूढ़! तू पद पद पर क्या शोक करता है ॥२३॥

उपजाति

विवेचन—संसार के संबंधी हमें शारीरिक दुःखों से किसी दशा में छुड़ा भी सकते हैं लेकिन भव दुःखों से, जन्म-जरा मरण से छुड़ाने में कोई समर्थ नहीं है। हे आत्मा न तू भी किसी को इन दुःखों से छुड़ाने में शक्तिशाली है फिर झूठे ममत्व के

वशीभूत होकर उनके समग रो प्राप्त हुए अनेक प्रसगा पर क्या पद पद पर शोक करता है ।

दनगल देई दवना, मात पिता परिवार,
मरती विरिया जाव का काई न राखनहार ॥

श्रणिक राजा को भी जिसकी ऋद्धि सिद्धि ने आकर्पित व आश्चर्यान्वित किया था, जिसके घर प्रतिदिन वस्त्र अलकार की पटिया उतरती थी, जिसका सुकुमार शरीर श्रणिक राजा के देह की क्षणिक उष्णता का सहन न कर सका था, जिसन कभी घर से बाहिर पैर भी नहीं धरा था, जिसन नगर के राजा श्रणिक का नाम भी न सुना था वही शालिभद्र अपन सिर पर राजा जसी व्यक्ति का आधिपत्य, स्वामित्व जानकर ससार के बधना को तोडने पर उतारू होकर बत्तीस पत्नियो में से एक एक पत्नि को प्रतिदिन त्यागता है । इसस भी बढकर त्याग व वराग्य ता धन्ना सेठ का है जो शालिभद्र का बहनोइ था । स्नान विलेपन कराते वक्त ऊपर बठी हुई सुभद्रा की आंख में से एक उष्ण बूद, सेठ के शीतल शरीर पर गिरती है और वह ऊपर दखता है । अपनी पत्नी की आंखो में पानी देखकर उनका सागरवत वक्षस्थल उथल पुथल होता है । उनका वार्तालाप उनके ही शब्दो में पढिए --

धन्नाजी--गोभद्र सेठनी बेटडी भद्रावाई तारी मावडी ।
सुण सुदरजी तें केम आसु खरीयुजी ॥

सुभद्रा--जगमां एकज भाई माहरे, सयम लेवा मनकरे,
नारी एक एक जी, दिन दिन प्रत्येपरिहरे जी ॥

धन्नाजी—ए ता मित्र कायरू, गु ल सयम, भायरू,
जीभलडीजी, मुख माथाना जुदी जाणवीजी ॥

सुभद्रा—कहवु ता धणु साहिलु, पण करवु अनि दाहिलु ।
सुणा स्वामीजी, ग्रहवी ऋद्धि कु ण परिहरेजा ॥

धन्नाजी—कहेवु ता धणु साहिलु पण करवु अनि दाहिलु
सुण सुन्दरीजी, आजथी त्यागी आठनजी ॥

ओहो महाऽश्चय ! जिसकी ऋद्धि सिद्धि का पार नहीं था जिसके समान सौभाग्यशाली काई नही था, वह धन्ना सेठ उसी क्षण स्नान म विरक्त हा जाता है, उठकर शालिभद्र क घर जाता है स्नान अधूरा ही रहता है। वहा जाकर उस कहता है —

उठो मित्र कायरू सयम लइये भायरू ।
आपण दाय जणाजी सयम शुद्ध आराधीयेजी ॥

कर्मशूरा सो धर्मशूरा । सिंह की पुकार सिंह पहचानता है । सब बधना का छोडकर तथा सुख के साधना को लात मारकर वे दोना—

शालिभद्र वरागिया, गाढ धन्ना अति त्यागिया,
दोनु रागीयाजी, श्री वीर समीपे आवीयाजी ॥

महावीर प्रभु क समीप जाकर दीक्षित होकर अपना कल्याण करते ह ।

हे मूढ आत्मा ! इनकी सपत्ति, सुख व कामलता के सामने, इनके परिवार व दास दासिया के सामने तेरी क्या हस्ती है ? धन, स्त्री, मित्र व राजा कोई भी उहे भवदु खो

से छुडा न सके, अन म त्यागी महापुरुष महावीर हो उन्ह सत्पथ दशक व दु खो के त्राता, जन्म मरण के भयो से मुक्त कराने वाले मिले। इसके सबध में अनाथी मुनि, अषाढ़-भूति, नदिषेण, आर्द्रक कुमार आदि के चरित्र पढन योग्य हं।

आप देखते ह कि जग में कोई किसी का सच्चा रक्षक नहीं है अत हम अपन सबधियो के ममत्व से दूर होकर अपना उद्धार आप कर। उद्धरेत आत्मआत्मानम्। यदि आपके मकान म आग लग गई हो, रात का समय हो, अग्नि आपके व आपके अबोध पुत्र के समीप पहुच गई हो, रास्ता भी जल रहा हो दूसरे सब परिवार के लोग (अशक्त माता पिता स्त्री आदि) भी चीत्कार कर रहे हो उस वक्त कहिए आप अकेले भागेंगे या दूसरो की फिक्र करेंगे ? जरूर ही अपना बचाव पहले होता है। उसी प्रकार से इस ससार की अग्नि स अपना बचाव पहले कीजिए। शोक को त्याग कर अशोक अमर-निरजन निराकार स्वरूप को प्राप्त कीजिए।

उपसहार—राग द्वेष का त्याग

सचेतना पुद्गलपिंडजीवा, अर्था परे चाणुमया द्वयेपि।
दधत्यनतान परिणामभावास्तत्तेषु कस्त्वहति रागरोषौ ॥३४॥

अर्थ—पुदगल पिंड (के आश्रित) जीव सचेतन ह, परमाणु-मय धनादि अचेतन हं। ये दोनो अनत पर्याय भावो को (बदलने के स्वभाव को) पाते रहते हं अत उन पर राग द्वेष करने में कौन योग्य है ? ॥ ३४ ॥   उपजाति

विवेचन—सभी शरीर धारियो का देह पुदगल से बना हुवा है चाहे व मानव हो या पशु पक्षी या कीट पतग। लक्डी पत्थर लाह स्वण आदि य परमाणुमय वस्तुए अचेतन ह। य दोना चेतन अचेतन पदाथ अपने बदलन के स्वभाव के कारण (पर्याय मे) रूपातरित होते रहते ह अत इन पर राग या द्वेष करना अनुचित है अयोग्य है। एक जीव अभी मनुष्य है, सत्कम करके देव शरीर धारण करता है फिर मानव बनकर तीथकर बन जाता है, एक जीव सत्काय तो करता है लेकिन उसे देव की ऋद्धि सिद्धि अच्छी लग रहा है उसकी अभिलाषा भी यही है अत वह वहा पहुच जाता है। एक जीव ससार में मस्त रहकर आत्मा परमात्मा, पुण्य पाप, धम अधर्म कुछ भी नही मानता है अपनी ही इच्छा से मन चाहे सिद्धात बनाकर खुद भी चलता है और दूसरो को भी वसी ही सलाह देता है परिणामत उन सबको लेकर वह नरक या तियच के कष्ट सहन करता है। आत्मा एक है परन्तु कम से इसके पर्याय बदल रहे ह। एक मकान अभी नया बनाया है, कुछ वर्षों के पश्चात वह वर्षा मे या बिजली से क्षत विक्षत हो जाता है और खण्डहर मात्र रह जाता है। नए रेडियो घडी, हारमोनियम, यत्र, कल कारखान मोटरें घर का सारा सामान सभी का यही स्वभाव है। आज जो नया है कल वही टूटी फूटी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, फिर बनता है फिर बिगडता है यह क्रम चलता ही रहता है अत इन पर राग द्वेष करना अयोग्य है।

अथ द्वितीयः स्त्रीममत्व मोचनाधिकारः

समता का रहस्य समझने के पश्चात उस प्राप्त करने के साधनो की तरफ स्वाभाविक लक्ष होता ही है अत प्रथम साधन जो मोहममत्व त्याग का है उसमें भी प्रथम स्थान स्त्रीममत्व के त्याग को दिया है। दूसरा, तीसरा, चौथा व पाचवा इन चारो का परस्पर सबध है।

पुरुष के गले में बंधी हुई शिला

मुह्यसि प्रणयचारुगिरासु, प्रीतित प्रणयिनीषु कृतिं स्त्वम्।
किं न वेत्सि पतता भववार्द्धौ, ता नृणा खलु शिला गलबद्धा ॥१॥

अर्थ—हे विद्वान् जिनकी प्रेमभरी और कर्णप्रिय मधुरवाणी से तू मुग्ध होता है और उनकी प्रीति से तू मोहित होता है परन्तु यह क्या नही जानता है कि वे भव समुद्र में गिरने वाले प्राणियो के लिए गले में बधी हुई शिला के समान है ? ॥१॥

स्वागतावृत्त

विवेचन—जिस प्रकार मीठे बोलने वाले स्वार्थी मित्र एक भोले धनिक पुत्र को अपने शब्द जाल में फसाकर उसके हित का स्वाग भजते हुए उसे तरह तरह के आमोद प्रमोदो से प्रसन्न रखते हैं। वे उसे भग का नशा कराने के पश्चात

सुरापान कराते हैं व वारागना के आवास में ले जाकर रूप सुन्दरियों के मोहजाल में फसाकर उनके रंग में रंग देते हैं। वह मोहमदिरा का पान करता हुआ उनके जाल में ऐसा फस जाता है जैसा कि कोशावेश्या के स्वर्णमय महावत में शकटाल पुत्र जैन ब्राह्मण स्थूलिभद्र फस गया था। फसने के पश्चात् उसका मन उसी रूप लावण्यमयी के चारों तरफ फिरता है उसके अवगुण भी उसे गुण नजर आते हैं, उसकी चितवन उसके चित्तवन को चुरा लेती है वह संपूर्णतया उसके आधीन हो जाता है और ज्ञान भूल जाता है। वह गुम्र उसे संसार वन में सुभ्रमण कराता है। और नारी का वह दास तन स्वयं के तन मन को भी सुध भूल जाता है तो फिर उसे परमात्मा का स्मरण हो ही कैसे सकता है। इस प्रकार से भवरूपी समुद्र में डूबते हुए प्राणी के लिए उस गहर गर्त में ले जाने में सहायभूत नारी उसके गले में बधी हुई जीती जागती शिला है। पत्थर की शिला तो टूट भी सकती है लेकिन इस शिला के मोहरूप अणु ऐसे स्निग्ध व घने हैं जो टूटने में अशक्य है। विवाह करने के पश्चात् मनुष्य गृहस्थ अर्थात् जकड़ा हुवा कहलाता है उसका वह बधन उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। शारीरिक व मानसिक चिन्ता की शृंखलाएं, आशा की जल तरंग बढ़ती शुरु होती है। गृहस्थोपयोगी सामग्री, शृंगार के साधन, मनोरंजन के आधुनिक वाद्य उसके उस घेरे को बढ़ाते जाते हैं। गृहस्थी के फलस्वरूप सतान होने के पश्चात् तो वह आर्द्रक कुमार की तरह कच्चे सूत के तारों से बांध

लिया जाता है। अत भवसमुद्र से निकलने के लिए या मोक्ष-प्राप्ति के लिए स्त्री, गले में बंधी हुई शिला के सदृश्य ही है।

स्त्रियों में स्थित असुंदरता

चर्मास्थिमज्जान्त्रवसास्रमांसामेध्याद्यशुच्यस्थिरपुद्गलानाम्।
स्त्रीदेहपिंडाकृतिसंस्थितेषु, स्कंधेषु किं पश्यसि रम्यमात्मन ॥२॥

अर्थ—स्त्री के शरीर पिंड की आकृति में रहे हुए चमड़ी हड्डी, चरबी, आंतरड़े, मेद, रुधिर, विष्टा आदि अपवित्र और अस्थिर पुद्गलों के समूह में हे आत्मा! तू कौन सा सौंदर्य देखता है? ॥ २ ॥ इंद्रवज्रा

विवेचन—हे आत्मा! क्या तू ने रेल के इंजिन या ट्रक से कटे हुए मानव देह या पशु जानवर को देखा है? नाक मुंह क्यों चढाता है? इन्हीं पदार्थों से तेरी और तेरी प्रिया की देह बनी हुई है। यदि वह मुर्दा कुछ अधिक काल तक वहीं पड़ा रहता है तो उसमें से कैसी असहनीय दुर्गन्ध निकलती है। अरे यही सब तो तेरी उस मोहक नारी के शरीर में रहे हुए अपवित्र व अस्थिर पुद्गलों का स्वरूप है? इन पर मत लुभा। उनके वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उस पर मोह करना छोड दे।

कहा भी है —

दीपे चाम चादर मढ़ी, हाड पिंजरा देह,
भीतर या सम जगत में, अवर नहीं घिनगेह ॥

जो पदार्थ केवल चमड़े से ढके रहने के कारण तुझे सुंदरतम प्रतीत हो रहे हैं, उन्हें जरासा खुला देखकर तुझे

इनसे घृणा हो जाती है कि तू वहा ठहरता भी नहीं है। यह हाडपिंजर वाला शरीर इन्ही घृणित पदार्थों से भरा है फिर तू इन पर क्या लुभाता है ?

अपवित्र पदार्थों की दुर्गंध स्त्री शरीर का सबध

विलोक्य दूरस्थममेध्यमल्प, जुगुप्ससे मोटितनासिकस्त्व ।
भृतेषु तेनव विमूढ योषावपु षु तर्तिक कुरुषेऽभिलाषम ॥३॥

अर्थ—हे मूढ ! जरासा दूर पडी हुई दुर्गंधी वस्तु को देखकर तू नाक सिकोड कर घृणा करता है, तब वैसी ही दुर्गंधी से भरे हुए स्त्रियों के शरीर की तू क्या अभिलाषा करता है ? ॥ ३ ॥ इद्रवज्रा

विवेचन—सार्वजनिक शौचालयों की दुर्गंधी तो प्राय सभी को कष्टकर होती है, दुर्गंध के मारे नाक सिकोडते है, सिर दर्द होने लगता है जितनी जल्दी हो सके दूर हटने का प्रयत्न करते है परन्तु वह दुर्गंध युक्त घृणित वस्तु आई कहा से ? अरे मलमूत्र के धाम ये हमारे शरीर ही तो उनके कोठार है !! ऐसे कोठार से भरे हुए स्त्री शरीर की तू अभिलाषा कर रहा है। इससे बढकर और क्या मूर्खता होगी ?

मल्ली कुमारी ने अपने विवाहोत्सुक छ राजाओ को एक स्वर्णमयी पुतली द्वारा जिसमें से अन्न के सडने की दुर्गंध आ रही थी बोध दिया कि जैसे इस पुतली का रूप ऊपर से स्वर्णमय है व अदर अन्न सड रहा है वैसे ही हे राजाओ मेरा शरीर भी सुन्दर है परन्तु अदर तो ऐसे ही दुर्गंध युक्त पदार्थ है। ये छ राजा जो उसके पिछले भव के आराधक मित्र थे

वैराग्ययुक्त हो गए और कुमारो सहित सातो ने अपना कल्याण किया।

"देखी दुर्गंध दूरथी, तू मोंह मचकोडे माणे रे,
नवि जाणे रे तेणे पुदगले तुज तनुभर्या ए।

हम गदगी से दूर भागते हैं वस्त्र मे नाक ढकते है, उसमें पर पडने पर पैर का धो डालते हं तो भी उसी गदगी युक्त नारी देह का उत्तम जानकर उसे सर्वस्व न्योछावर कर प्रभु को भूल जाते हं।

स्त्री के मोह से इस भव व परभव में होने वाला फल

अमेध्यमांसास्रवसात्मकानि, नारीशरीराणि निषेवमाणा ।
इहाप्यपत्यद्रविणादिचिंतातापान परत्रेयतोदुर्गतीश्च ॥ ४॥

अर्थ—विष्टा, मास, रुधिर और चरबी आदि से भरे हुए स्त्रिया के शरीर को भोगने वाले प्राणी इस भव में धन व पुत्र आदि की चिंता के ताप में तपते हैं और परभव में दुर्गति में पडते हं ॥ ४ ॥ उपजाती

विवेचन—स्त्री के समग में आने के पश्चात परिवार बढता है। पुत्र के लिए लालन पालन की चिंता, आराम के लिए व्यय की चिंता, इन दोनो की चिंता मिटाने के लिए धन की चिंता, धन के लिए नौकरी, व्यापार आदि की चिंता, इस तरह यह क्रम चलता ही रहता है व चिंता भी बढती जाती है। इस अग्नि म जलते हुए प्राणी के लिए औषधी ही नही है। इस तरह यह भव तो दुःख मे जाता है और इस भव में

कपिल मुनि—कौशवी नगरी का काश्यप ब्राह्मण का पुत्र अपनी विधवा माता के उपदेश से श्रावस्ती नगरी में इद्रदत्त नामक पडित के यहा विद्याभ्यास करने को गया। भिक्षावृत्ति द्वारा उदरपोषण करने से अध्ययन के लिए समय कम मिलता था अत एक विधवा ब्राह्मणी के यहा उसके भोजन का प्रबंध किया गया। प्रति दिन के समागम व हास्य आदि से दोनो मार्ग भ्रष्ट हो गृहस्थी बन गए। परस्पर गर्भावस्था मे ब्राह्मणी ने द्रव्य की इच्छा व्यक्त की। उसे दासीपन में भोजन वस्त्र तो मिलता था परन्तु पूजा के लिए नकद की आवश्यकता हुई। चिन्तकत्ता प्रिया ने उपाय बताया कि नगर का राजा सब प्रथम आशीर्वाददाता ब्राह्मण को दो मासा स्वर्ण देता है तुम सब में पहले पहुचो। इस सूचना से कपिल तीन चार दिन तक नित्य वहाँ जाता रहा परन्तु उससे पूर्व भी कई ब्राह्मण पहुच जाते थे। एक दिन अर्धरात्रि को वहा जाते समय मार्ग मे ही नगर रक्षको द्वारा वह पकडा गया और राजा के सन्मुख चोरी के अपराध में उपस्थित किया गया। राजा ने वास्तविकता को जानकर उसे धन मागने को कहा। वह एकान्त स्थान में जाकर सोचता हुवा दो मासे से बढ़कर पूरा राज्य मागने की इच्छा करता है। आह मनोदशा कितनी विचित्र है! वह आगे विचारता है कि राज्य के रक्षा के लिए सेना की चिन्ता, शत्रु राजा से राज्य के रक्षण की चिन्ता यह तो दु खकर है वह फिर नीचे उतरता है और सोचते सोचते वास्तविक स्थिति पर आकर त्यागी बन जाता है। जगल में जाकर तप तपता है। अनुक्रम से केवली बनकर ५०० चोरो को बोध कराता है

कपिल विद्यार्थी हलुकर्मी होने से कपिल केवली बनता है। इसी तरह नट कन्या के लिए १२ वर्ष तक विविध नाटक करता हुवा इलाचीकुमार अपनी माता, पिता परिवार और धन संपत्ति को छोडता है, पश्चात रस्सी पर चौथी बार नाचता हुवा एक त्यागी मुनि को किसी सुन्दर स्त्री के सामने एकान्त-स्थल में, युवावस्था होते हुए भी निर्विकारी देखता है। वह सोचता है कि "मुझको धिक्कार है, जिस नट कन्या के लिए मैं इतना प्रयत्न कर रहा हूं उसे राजा अन्तपुर में रखना चाहता है, उधर वह मुनि धन्य है जो स्त्री के मोह में नहीं फसा है। इस तरह विचारते हुए नाटक करते हुए वह संसार नाटक का अंत लाता है, अर्थात वहीं पर केवली बनकर आयुष्य क्षय होने से मोक्षगामी होता है। इन दोनों दृष्टांतों से स्पष्ट हो गया कि, स्त्री से ही घर है और जब घर है तो सब कुछ अव स्वभावी ही है। यह गहणी न होकर ग्रहणी है अर्थात जैसे चंद्र को राहु या केतु सूर्य को केतु का ग्रहण लगता है वैसे ही पुरुष को स्त्री का ग्रहण लगता है। अत इस बंधन स्वरूप सब संतापों का कारणभूत स्त्री में से आसक्ति हटा ना।

स्त्री के शरीर में क्या है ? यह विचारो

अगपु यपु परिमुह्यसि कामिनीना,
चेत प्रसीद विश च क्षणमतरपा।
सम्यक समीक्ष्य विरमाशुचिपिंडकेभ्य-
स्तेभ्यश्च शुच्यशुचिवस्तुविचारमिच्छत ॥५॥

अर्थ—हे चित्त ! जिन स्त्रियों के अंगों पर तू मोहित होता

है जरा स्वस्थ होकर उन अगो म क्षण के लिए भी प्रवन कर, क्योकि तू पवित्र व अपवित्र वस्तु के विचार की इच्छा रखता है अत सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर उस अशुचि के पिंड स दूर हो जा।

वसततिलका

विवेचन—सती सीताजी के रूप सौंदय पर आकृष्ट होकर रावण ने क्या प्राप्त कर लिया ? कुछ नही यदि उसने उनके शरीर के अगो पर तात्त्विक दृष्टि से विचार किया होता तो उसका व उसके वश का नाश न होता और आज इतने वर्षों क पश्चात भी उस घृणा की दृष्टि से न देखा जाकर उसका दशहरे पर पूतला न जलाया जाता । सुदर कीमती वस्त्र भी विष्टा के एक छीट से अपवित्र हो जाता है तो फिर जिस सुन्दर चर्माच्छादित पिंड में वह अपवित्र पदार्थ भरा हुवा है उसे तू अपवित्र और दूर रहने योग्य क्या नहीं मानता है ? तू पवित्र और अपवित्र के अतर को पहचानना चाहता है अत सूक्ष्म दृष्टि से, अतर दृष्टि से देख और परिणाम पर पहुच । यदि तू इन दु खो स परिचित हो गया है और ससार के कीचड में अभी नही फसा है तो मल्लिनाथजी तथा नमिनाथजी का अनुकरण कर यदि मोहपाश में फस गया है तो स्थूलिभद्र तथा धन्ना-शालिभद्र की तरह म वीरता दिखाकर बाहर निकल । सिद्धर्षि गणिने उपमिति भवप्रपच कथा म तथा अन्य महात्माओ ने भी मोह को राजा की पदवी दी है, अन्य कम उसके मत्री, सिपाही आदि बताए ह । मोह का केन्द्र स्त्री है धन पुत्र आदि उसके आश्रित ह अत स्त्री के मोह को जीत ल।

भविष्य की पीडाओं को विचार कर मोह कम करो

विमुह्यसि स्मेरदृशः सुमुख्या, मुखेक्षणा दीर्यभियीक्षमाण ।
समीक्षसे नो नरकेषु तेषु, मोहोद्भवा भाविकदर्थनास्ता ॥६॥

अर्थ—विकसित नयन वाली, और सुन्दर मुख वाली स्त्रियों के नत्र, मुख आदि देखकर तू मोहित होता है परन्तु उनके द्वारा प्राप्त हुए मोह के कारण भविष्य में होने वाली नरक की यत्रणा को तू क्या नही देखता है ? ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—स्वादिष्ट एव सरल मधु पर मक्खिया भिन भिनाती है, उनकी दृष्टि अभी उस दशा पर नहीं जा रही है जब कि उनके पर व पख उसमें चिपक जावेंगे और थोड़ समय का रसना इन्द्रिय का स्वाद या मधु के प्रति का मोह उनके मृत्यु का कारण बनेगा। हे प्राणी ! तेरी दशा भी उन मकोडो जसी होगी जो कि बासुन्दी (रबडी) या जलेबी के रस का पान करते हुए अपने प्राणो की आहुति दे देते है। जिनके अगो में तू अभी लुभायमान हो रहा है उनके कारण, उनके मोहा-वत में फसने के कारण भावी नरकादि की पीडा का विचार कर और सावधान हो जा। पके हुए, पीले, मधुर रस स भरे हुए आमो को देखकर तू लुभाता है लेकिन रस निकालने के पश्चात छिलके और गुठलियो पर भिनभिनाती हुई मक्खियो से व्याप्त उन आमो पर घृणा करता है। जिनको तू चाह से लाया था निरस होने पर वे त्यागने योग्य हो गई है। हे भोले जीव ! यही दशा तो तेरी सुन्दर श्यामा या गौरी की, प्रिया या अर्द्धांगिनि की होने वाली है यह तू क्या नहीं

विचारता है। तू उसके मोह के वश में रहने से तमाम दिनभर धन आदि के लिए फिरता रहता है, उस प्रसन्न करने के लिए परिश्रम करता है लेकिन इसी एक कारण से तू नरक आदि का साम्राज्य प्राप्त करने वाला है कारण कि तूने अपने आपको भुला दिया है। तू परमात्मा को भूल गया है और परलोक के भय से विस्मृत हो गया है। हे स्वतन्त्र ! क्या परतन्त्र बनता है।

स्त्री का शरीर, स्वभाव और भोग के फल का स्वरूप

अमेध्यभस्त्रा बहुरध्रनिर्यन्, मलाविलोद्यत्कृमिजालकीर्णा।
चापल्यमायानृतवञ्चिका स्त्री, संस्कारमोहान्नरकाय भुक्ता ॥७॥

अर्थ—विष्टा से भरी हुई चमड़े की थैली, बहुत छिद्रों में से निकलते हुए मल (मूत्र विष्टा) से मलीन, (योनि में) उत्पन्न होते हुए कीडों से व्याप्त, चपलता माया और असत्य (माया मृषावाद) से ठगने वाली स्त्रिए पूर्व के संस्कारों के मोह से नरक में ले जाने के लिए ही भोगी जाती हैं।

उपजाति

विवेचन—नगर पालिका की तरफ से मैला ढोने वाली कोठियों या गाड़ियों को देखिए कितनी घृणा होती है ? यदि उनमें छिद्र हों और मैला छन छनकर निकलता हो, या बहता हो तो फिर तो पूछना ही क्या ? इसी प्रकार से सुंदर दिखती हुई स्त्रियों के शरीर में से १२ मार्गों से (छिद्रों से) मैल बहता रहता है तो फिर उससे तुझे घृणा क्यों नहीं होती है ? जैसे मैले की कुण्डियां, गटरों, या गाड़ियों में जीव

उत्पन्न होते ह वसे ही स्त्रियो की योनि में भी जीव उत्पन्न होते रहन ह व मरते रहते ह । चचलता, माया, झूठ आदि स वे पुरुषों को ठगती रहती ह और पूव के कुसस्कारो के कारण ही नरक में ले जाने के लिए उन्हे भोगा जाता है । असत्य, साहस, माया, मूखता, लोभ, अपवित्रता और निदयता य स्त्रिया के स्वाभाविक दोप ह ।

> निर्भूमिविषकन्दली गतदरी व्याघ्री निराव्हो महा
> व्याधिमृत्युरकारणश्च ललनाऽनभ्रा च वज्राशनि ।
> बधुस्नेहविघातसाहसमृषावादादिसतापभू प्रत्यक्षापि
> च राक्षसीति बिरुद ख्याताऽगमे त्यज्यताम ॥८॥

अथ—(स्त्री) भूमि बिना (उत्पन्न हुई) विष की वल है, बिना गुफा की सिहनी है, बिना नाम को बडी व्याधि है, बिना कारण की मृत्यु है, बिना आकाश की बिजली है, सग सबधी एव भाइयो के स्नेह का नाश करने वाली है । साहस झूठ आदि सतापो का उत्पत्ति का स्थान है तथा प्रत्यक्ष राक्षसी है,—ऐसे ऐसे उपनाम स्त्रियो के लिए आगम म दिए गए ह अत इनका त्याग करो ॥ ८ ॥ शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—व्यवहारिक सबधो का, पारस्परिक स्नेह का नाश स्त्रियो के कारण से होता है क्योकि उनका स्वभाव माया सहित झूठ बोलने का होता है । नारी को उस सिहनी की उपमा दी है जो गुफा म न रहकर जगल में स्वच्छद फिरती है । गुफा में रहने पर तो गुफा व उसके आस पास ही भय रहता है लेकिन जो स्वच्छन्द विचरती है उसका भय तो सवत्र बना रहता

है वसे ही स्त्री का भय भी हर समय बना रहता है न मालूम वह किस समय कौनसा भय उपस्थित कर दे। श्रीमद राजचन्द्रजी ने लिखा है —

निरखी न नव यौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठनी पूतली ते भगवान समान॥

अर्थात भगवान के समान बनने वाले को स्त्री से दूर रहना चाहिए। सकडों वीरों को युद्ध में पछाडने वाले शूर वीर नर भी नारी के नयनबाणों से बींध जाते हैं। जो पुरुष सुन्दर स्त्री को देखकर जरा भी विषययुक्त नहीं होता है, जिसकी काम वासना जरा भी जागृत नहीं होती है, जो उस लकडी की पूतली के समान गिनता है वह भगवान के समान है।

स्त्री मीठी छुरी है जो आत्मिक गुणों का घात करती है, सुरिकान्ता नयनावली आदि ने विषयांध होकर अपने पति तक को जहर दे दिया, उस स्थिति को सामने रखकर संसार से विरक्त दशा में विचरने वाले पुरुष को स्त्री से सर्वथा दूर रहने की आवश्यकता है। इस विषय में इन्द्रिय पराजय शतक, उपदेशप्रासाद, शृंगारवैराग्यतरंगिणी पुष्पमाला आदि ग्रंथ देखने चाहिए। भर्तृहरि का वैराग्यशतक भी देखने योग्य है।

स्थूलिभद्रजी जैसे या तुलसीदासजी जैसे विरले ही होते हैं जो उस प्रेम व्याधि से निकलकर आत्म श्रेय करते हैं। बहुत ही कम विष (कुचला आदि) इस तरह के होते हैं जो

शरीर के लिए हितकर होते हं, जिन्हे भी पकाया या मारा जाता है तब ही वे कुछ गुणकारी होते हं। उसी तरह से विरले ही ऐसे महापुरुष या महामतिया होती हं जो विषय कुण्ड से वाहर निकलकर आत्मा का हित करती हं। जैसे प्राय सभी विप शरीर के लिए घातक ह वसे ही प्राय सभी स्त्रिया आत्मा के लिए घातक ह।

हे शाति के इच्छुक जीव! इस विष वेलडी के विषय-जन्य किंपाक फल की तरह दूर रह। जसे किंपाक फल दिखने में सुन्दर, स्वाद में मीठा परन्तु परिणाम में प्राणघातक है वसे ही स्त्री दीखने म सुन्दर, स्वर में मीठी, भोग में लोलुपी परन्तु सम्पक मात्र से आत्मघातक है।

इति स्त्रीममत्व मोचनाधिकार

अथ तृतीयोऽपत्यममत्व मोचनाधिकारः

अध्यात्म ज्ञान के रसिक जीव को समता की जरूरत है और उसके साधना में से ममत्व त्याग की प्रथम आवश्यकता है। स्त्री के ममत्व के बाद प्राणी को पुत्र का ममत्व छोड़ना बहुत कठिन हो जाता है अत संतान के ममत्व का त्याग बताने वाला यह तीसरा अधिकार संक्षेप से लिखते हैं।

संतान बंधन रूप है उसका वर्णन

मा भूरपत्यान्यवलोकमानो मुदाकुलो मोहनृपारिणा यत ।
चिक्षिप्सया नारकचारकेऽसि दृढ निबद्धो निगडरमीभि ॥१॥

अर्थ—तू पुत्र पुत्री को देखकर खुशी से पागल मत होजा, कारण कि मोह राजा नाम के तेरे शत्रु ने तुझे नरकरूप कैदखाने में डालने के लिए जान बूझकर इस (संतानरूप) लोह की बेडी से तुझे मजबूत जकड दिया है। उपजाति

विवेचन—जैसे मदारी डुगडुगी बजाकर तमाशा देखने वालो को आकर्षित करता है बाद में अपनी झोली में से जादू

की वस्तुए निकाल कर उनके मन को अधिक आकर्षित करता है, ठीक वैसे ही मोहराजा सुदर स्त्री के नुपुर की ध्वनि रूप या कोकिलकण्ठा के कण प्रिय स्वर रूप डुगडुगी द्वारा हमें आकर्षित करता है और जादू की पिटारा रूप स्त्री हमारे हाथो मे सौंप देता है, जसे उस पिटारी में से जादू के कबूतर निकल कर हमें मोहित करते हैं ठीक वैसे हो सतान पदा होकर हमें मोहित करती है और भवबधन रूप मोह श्रृखला मजबूत बनाती है। हे आत्मा! तेरा सबसे बडा शत्रु मोह राजा है, उसी ने तुझे ससार में फसाए रखने के लिए सतानरूप बधन, तेरे चारों तरफ लपेट दिए हैं, जिनमें तू खुशी से फस रहा है। जसे बारिश में पतगिए जान बूझकर दीपक में पडते हैं वैसे ही तू भी स्वेच्छा से मोह में पड रहा है।

इन बधनो से निकलना अत्यन्त कठिन है। लोह की जजीर तोडना कभी आसान हो सकता है लेकिन मोह के बारीक बधन तोडना उससे कई गुना कठिन हो जाता है। आर्द्रक कुमार, जो मुनि से गृहस्थी होकर फिर त्यागी बनना चाहते थे वे अबोध पुत्र के द्वारा सूत के तारो से बाध गए थे वैराग्य उत्पन्न होने पर भी १२ वर्ष तक उन्हें बधनो में बधा रहना पडा पश्चात ही उन बधनो को तोड सके। आह, पुत्र पुत्री के मोह के बधन कितने मजबूत होते हैं, जब वैराग्य-वासित आत्मा को भी उनसे दूर होना बडा कठिन हो जाता है तो फिर दूसरों का तो कहना ही क्या ?

पुत्र पुत्री शल्य रूप है

आजीवित जीव भवान्तरेऽपि वा,
शल्यान्यपत्यानि न वेत्सि किं हृदि ।
चलाचलर्यं विविधार्ति दानतो,
ऽनिशं निहन्यत समाधिरात्मन ॥२॥

अर्थ—हे चेतन ! इस भव में और परभव में पुत्र पुत्री शल्य है यह तू अपने मन में क्या नही जानता है ? वे कम या ज्यादा उम्र जीवित रहकर तुझे अनेक प्रकार के कष्ट देते है और तेरी आत्म समाधि का नाश करते है ॥ २ ॥

उपजाति

विवेचन—स्त्रीममत्व के पश्चात पुत्र पुत्री ममत्व का पाश मानव को जकड कर बाधता है। हे आत्मा ! यदि तेरी संतान योग्य है तो तुझे कुछ समय के लिए शांति मिल सकती है परन्तु यदि वह अयोग्य है स्वच्छन्दी है या निरंकुश है तो फिर दुःखो का पार नही है। इतना ही नही, वह यदि अल्पायु है और जन्मते ही या ५-७ वर्ष की उम्र में गुजर जाती है तो अपनी स्मृति छोड जाती है और तुझे वचन करती रहती है यदि वह युवावस्था में मर जाती है तो तुझे अंधे की लकडी की तरह से सहारा टूटने का खेद कराती रहती है, यदि विवाह के पश्चात मरती है तो विधवा पुत्रवधू या विधवा पुत्री के रूप में निराशाकी संतप्त देवी तेरे घर में प्रविष्ट होकर तुझे सदा काल संसार के दुःखो की याद दिलाती रहती है और

तेरा घर श्मशानवत बन जाता है। इस प्रकार से सतान, सुख के बजाय दुखकर अधिक होती है एव आत्मशाति को नष्ट करती रहती है। यदि लक्ष्मी देवी रुष्ट हो और दरिद्र नारायण की कृपा हो तथा घर में सतान पर सतान होती जाती हो और उनमें भी कन्याए ज्यादा हो तब तो पूछना ही क्या? सुख स्वप्नवत हो जाता है।

आत्मद द्वारा पुत्रममत्व के त्याग का उपदेश

कुक्षौ युवत्या कृमयो विचित्रा, अप्यस्रशुक्रप्रभवा भवन्ति ।
न तेषु तस्या न हि तत्पतेश्च, रागस्ततोऽयं किमपत्यकेषु ॥३॥

अर्थ—रज और वीर्य के सयोग से स्त्री की योनि में विचित्र कीडे उत्पन्न होते हैं परन्तु उन कीडो पर उस स्त्री को या उसके पति का राग नही होता है तो फिर पुत्र पुत्री रूप कीडो पर राग क्यो होता है? ॥ ३ ॥　　उपजाति

विवेचन—स्त्री की योनि में अनेक कीड उत्पन्न होते हैं द्वेन्द्रिय के अतिरिक्त समुच्छिम मनुष्य तक वहा होते हैं, यह धर्मशास्त्रो व कामशास्त्रो में प्रसिद्ध है, तो फिर स्थान, समय और सयोगो की एकता होते हुए भी उन कीडो पर राग न होकर केवल संतान पर ही राग क्यो होता है? ग्रंथकार ने संतान पर से ममत्व बुद्धि को दूर करने के लिए मार्मिक शब्दो में उच्चभाव का प्रदर्शन किया है जो कि कटु होते हुए भी हितकर है।

सन्तान पर स्नेह न करने के तीन कारण

श्राणाक्तेरापदि सवधानन्त्यतो मिथोंऽगवताम ।
संदेहाच्चोपकृते, मापत्येषु स्निहो जीव ॥ ४ ॥

अर्थ—आपत्ति के समय पालन करने में अशक्त होने से, प्राणियों का सब प्रकार का सबध अनत बार होने से यह सबध मिथ्या है इस कारण से, और उपकार का बदला मिलने का सदेह होने से हे जीव ! तू पुत्र पुत्री आदि पर स्नेह करने वाला न बन ॥ ४ ॥ आर्या

विवेचन—पहला कारण तो स्पष्ट है कि पुत्र पुत्री कोई भी माता पिता को आपत्ति में से बचा नहीं सकते हैं क्योंकि कर्मों के कारण से शारीरिक या मानसिक आपत्ति आई है अतः वे लाचार हैं। दूसरा कारण यह है कि आज जो पुत्र है वह पिछले भव में पिता था या आगे भव में पिता हो सकता है अतः यह सबध अनेक प्रकार से अनेक बार हुवा है अतः ममत्व करने योग्य नहीं है। तीसरा कारण उपकार का बदला न मिलने का है। बाल्यकाल में माता पिता, पुत्र व पुत्री को बड़े प्यार से पालते पोषते हैं, अनेक प्रकार से उनके लिए खर्च करते हैं एवं स्वयं कष्ट सहन करते हैं, लेकिन युवावस्था प्राप्त होने पर पुत्र अपनी स्त्री और सतान के साथ अलग हो जाता है, जितना कमाता है अपने स्त्री बच्चों के लिए खर्च करता है, वृद्ध माता पिता उसके लिए भाररूप बन जाते हैं। वह उनकी तन मन धन तीनों से बेदरकारी करता है। पुत्री भी अपने पति के घर चली जाती है उसे ही अपना सर्वस्व मानती है। कई

अथ चतुर्थो धनममत्व मोचनाधिकारः

इस प्राणी को ससार म घुमाने वाला यदि कोई है तो वह मोह ही है। अनेक प्रकार के मोह म से धन, और स्त्री पुत्र का मोह विशेष कष्टकर है। स्त्री और पुत्र पुत्री सबधी मोह के पश्चात उनके समान या उनसे भी अधिक प्रबल और अधिक भवभ्रमणकारक जो धन का मोह है वह कैसा है किसका होता है, कैसे होता है, उसका प्रतिकार क्या है, आदि स्वरूप इस चौथे अध्याय में बताया है।

धन पाप का हेतु है

या सुखोपकृतिकृत्वधिया त्वं, मेलयन्नसि रमा ममताभाक्।
पाप्मनोऽधिकरणत्वत एता, हेतवो ददति संसतिपातम ॥१॥

अर्थ—लक्ष्मी के लोभ म फसा हुवा तू (त्व) सुख और उपकार की बुद्धि से जो लक्ष्मी प्राप्त कर रहा है वह अधिकरण होने से पाप की ही हेतु भूत है और ससार-भ्रमण को देने वाली है॥ १॥ स्वगतावृत्त

विवेचन—यद्यपि लक्ष्मी प्राप्त करने में हमारी बुद्धि या भावना उपकार करन की नही होती है एव दान देने के लिए भी कमाई नही की जाती है, परन्तु फिर भी शास्त्रकार

न तो उसी हेतु का मानकर ही यत्न किया है कि जो तू ऊपर की भावना से लक्ष्मी प्राप्त कर रहा है या सुख प्राप्ति के लिए लक्ष्मी का संग्रह कर रहा है वह कर्मागमनी आरंभ समारम्भ युक्त होने से तुझे संसार समुद्र में डुबाने वाली एवं भवों में भ्रमण कराने वाली है अ। इसकी ममता छोड़ दे।

मम्मण सेठ की तरह से धन पर ममता रखने से मनुष्य को जीवन भर कष्ट होता है एवं वह धन स्वयं के भी उपयोग में नहीं आता है। वह सेठ तेल और चवले का भोजन करता था जंगल में जाकर बीनता था। एक बार चौमासे की घोर अंधेरी मध्य रात्रि में वह नदी में से लकड़ी खींच रहा था, श्रेणिक राजा की रानी ने बिजली चमकने से उसे देखकर राजा से उसका दुःख दूर करने को कहा। प्रातः राजा ने उसे इच्छित वस्तु मांगने को कहा तो मम्मण ने कहा कि मुझे एक बैल चाहिए जैसा कि मेरे घर पर है। राजा की गऊशाला के बैल उसने पसंद नहीं किए, अंत में विवश होकर राजा अपने पुत्र अभयकुमार के साथ सेठ के घर पर गया। जब वे उसके विशाल भवन में एक के बाद दूसरे कमरे में प्रवेश करते हुए कितने ही कमरों के पश्चात एक सुन्दर खंड में पहुँचे तो राजा की आँखें चौंधिया गई। वह क्या देखता है कि एक स्वर्ण निर्मित बैल रत्नों से जड़ा हुआ तैयार है जिसकी शोभा देखी भी नहीं जा सकती है। अत्यंत अमूल्य देदीप्यमान रत्नों की प्रभा उसमें से निकल रही थी जो सूर्यकांति के सदृश थी। एक बैल तो पूरा था ही दूसरा भी सोने का बना हुआ था लेकिन

हीरा की जडाई अधूरी थी। आह! राजा के आश्चर्य का पार नहीं रहा। वसा बल वह दे रहा स? उनके राज्य भंडार में भी एसे कीमती रत्न न थ। देखिए, मम्मण सेठ को व बैल क्या काम आए।

जगत में राज्य लिप्सा से खून की नदियां बहती ह, यद्यपि अब मारने के साधनों की एव युद्धों की रीति म अंतर पड गया है तथापि अणु बम व हाईड्रोजन बम स अल्पकाल में व अल्पप्रयास से अनको की हत्या की जा सकती है। आह! धन की कामना न विद्या का उपयोग भी नाश क यत्र बनाने म किया! जो विद्या आत्मकल्याण के लिए थी वह आत्मघातक सिद्ध हो रही है। विज्ञान का तात्पर्य है आत्मा को पहचानकर परमात्मा की तरफ बढना पर तु हो यह रहा है कि इसके द्वारा जाव को नित्य प्रति विनाश की ओर ले जाया जा रहा है। जगत शांति की अपेक्षा अशांति का अनुभव अधिक कर रहा है। यदि धन की ममता दूर हो जाय तो आज का मानव, दानव स देव बन जाय या कम से कम मानव तो बना रहे।

धन ऐहिक और आमुष्मिक दु ख को करने वाला है

यानि द्विषामप्युपकारकाणि, सर्पोन्दुरादिष्वपि यैर्गतिश्च।
शक्या च नापन्मरणामयाद्या, हन्तु धनस्वेषु क एव मोह ॥२॥

अर्थ—जो धन शत्रु का भी उपकार करने वाला हो जाता है, जिस धन क द्वारा सर्प, चूहा आदि में गति होती है, जो धन मृत्यु रोग आदि किसी भी विपत्ति को दूर करने में समर्थ नहीं है, उस धन पर मोह क्या? ॥ २ ॥ इद्रवज्रा

विवेचन—कभी कभी निर्बल के हाथ में रही हुई तलवार स्वयं उसका ही घात कराती है वैसे ही निर्बल के पास रहा हुवा धन भी स्वयं उसका घात कराता है नादिरशाह की लूट इसका प्रमाण है। पहले भी परशुरामजी ने पृथ्वी को क्षत्री रहित कर खूब संहार किया परन्तु उसका भोग सूभूम ने किया। प्रति वासुदेव सदा तीन खंड जीतते हैं और भोगने से पहले ही वासुदेव उनका संहार कर तीनो खण्ड छीन लेते हैं और प्रतिवासुदेव की मृत्यु स्वयं उसके ही चक्र द्वारा होती है। नंद राजा की स्वर्ण की पहाडी भी उसके काम नहीं आई। सिकन्दर बादशाह ने कहा —

जे बाहुबल थी मेलव्युं ते भोगवी पण न शक्यो।
अब्जोनी मिलकत आपता पण ए सिकंदर न बच्यो॥

यह धन किसी को रोग से या मृत्यु से बचा नहीं सकता है अतः इसमें ममता न करो।

धन से सुख की अपेक्षा दुःख ज्यादा होता है

ममत्वमात्रेण मनःप्रसादसुखं धनैरल्पकमल्पकालम्।
आरम्भपापैः सुचिरं तु दुःखं, स्याद्दुर्गतौ दारुणमित्यवेहि॥३॥

अर्थ—अहा यह धन मेरा है, ऐसे विचार मात्र से थोडे समय के लिए मन में आल्हादरूप सुख होता है परन्तु आरम्भ के पाप से दुर्गति में लम्बे समय तक भयंकर दुःख होता है यह तो तू समझ॥ ३॥ उपजाति

विवेचन—तरह तरह के आरंभ समारंभ (पाप कार्यों) से

धन एकत्रित किया जाता है जैसे कि जंगल कटवाना या जलाना, चूना इंट आदि पकाना, पशु भाडे देना या तागे बैल-गाडी रखकर भाडे पर चलाना, खानें खुदवाना, हाथी दांत का व्यापार, लाख का व्यापार, रस, (घी, दूध, तेल पतला गुड आदि) ऊन एव विष का व्यापार करना। इनके अतिरिक्त धान्य का सग्रह कर सडने पर जन्तुओं सहित धूप में डालना। मशीनरी का काय करना, मिलें चलाना, कपास, गन्ने के चर्खिए रखकर व्यवसाय करना आदि पाप के कार्यों से धन सग्रह कर मनुष्य प्रसन्न होता है कि अहो! मेरे पास इतना धन है लेकिन यह नहीं सोचता है कि मने अपने और अपन परिवार के मात्र ५-७ व्यक्तियों के पालन के लिए कितने ही जन्तुओं के प्राण लिए ह। जिन व्यक्तियों के लिए इतना पाप कर्म करके धन सग्रह किया है उनमें से एक भी उन पापो के फलो को भुगतने के लिए तयार न होगा, समय आने पर तुझे भी वाल्मीकि के माता पिता की तरह से परिवार के सब लोग नरक के कष्ट भुगतने के लिए मना कर दगे। अत तू अकेला पाप करके परिवार को तो थोडे समय के लिए सुखी करता है परतु उन कार्यों से अनत भव तक तुझे दुःख उठाना पडेगा यह तू क्या नही जानता है? दुनिया के वृद्धो से पूछो तो वे यही कहगे कि ससार में सुख नही है और सुख का मूल यह धन, वास्तव में दुःख का मूल है। धन में अत्यत व्याधि है सतोष में अत्यन्त सुख है।

क्या धर्म के लिए धन कमाना उचित है ?

द्रव्यस्तवात्मा धनसाधनो न, धर्मोऽपि सारमतयातिशुद्ध ।
नि सगतात्मा स्वनिशुद्धियोगान्मुक्तिश्रियं यच्छति तद्भवेऽपि ।।४।।

अर्थ—धन के साधन से द्रव्यस्तव स्वरूप वाला धर्म साधा जा सकता है, परन्तु वह आरम्भ युक्त होने से अति शुद्ध नहीं है, जब कि निसंगता स्वरूप वाला धर्म अति शुद्ध है और वह उसी भव में मोक्ष भी दे सकता है ॥ ४ ॥

इंद्रवज्रा

विवेचन—शास्त्रकार का उपदेश तो यही है कि वन जितनी साधना से निसंग (अपरिग्रही-संगत रहित) बन जाओ और भाव स्तव द्वारा अति शुद्ध धर्म का आराधन करो जो इस भव में भी मोक्षमार्ग दिलाने में समर्थ है। यह तो रही निसंगी साधुवर्ग की बात। अब गृहस्थवर्ग के लिए विचारना है कि यदि आपके पास पर्याप्त धन है और विविध प्रकार से पूजा, प्रतिमास्थापन, प्रतिष्ठा, स्वामीवात्सल्य, चैत्य निर्माण, उपाश्रय बनवाना आदि द्रव्यस्तव आप करते हैं तो यह अति शुद्ध तो नहीं है कारण कि छः काय की हिंसा होती है फिर भी शुद्ध तो है ही क्योंकि इनके द्वारा आप व अन्य जीव धर्म की आराधना करते हैं। अतः जिनके पास द्रव्य है उनको इस तरह से व्यय करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं कि छः काय की हिंसा करके आप द्रव्य कमावें और बाद में उपरोक्त धर्म के कार्यों में लगावें। इन धर्म कार्यों के निमित्त द्रव्योपार्जन करना और कीचड़ में पैर डालकर बाद में धोना

बराबर है । जरा स्पष्ट देखिए कि यदि कोई खूब पाप व्यापार करके धन कमाता है और सोचता है कि यदि धन मिलेगा तो धर्म में लगाऊंगा । मान लो उसे धन तो मिल गया लेकिन उसकी बुद्धि धर्म की तरफ से बदल गई या सांसारिक कई काम उपस्थित हो गए या मृत्यु हो गई तो वह कमाया हुआ धन तो धर्म में लगा नहीं लेकिन उसे उपार्जन करते हुए वह पाप तो उसके पल्ले पड़ ही गया अतः शास्त्रकारों ने कहा है कि धर्म के लिए पापकारी धन कमाना अनुचित है । इसका अर्थ यह नहीं है कि मंदिर, उपासरे ज्ञानशाला बनाने में पाप है । तात्पर्य तो यह है कि येन केन प्रकारेण धर्म कमाते हुए यह सोचना कि अभी तो चाहे जैसे धन कमा लें, बाद में धर्म कर लेंगे । यदि द्रव्य है तो शुभ कामों में लगाना चाहिए । यद्यपि भावस्तव की अपेक्षा यह अति शुद्ध तो नहीं है फिर भी शुद्ध तो है ही चाहे लव कान में ही हो मोक्ष देने वाला तो है ही । अतः द्रव्यस्तव की अपेक्षा भावस्तव श्रेष्ठ है । गृहस्थ धनवान, सदुपयोग के लिए द्रव्यस्तव करे और भावना सर्व त्याग की रखे व आचरण भी वैसा करे ।

मिले हुए धन का खर्च कहाँ करना चाहिए

क्षेत्रवास्तु धनधान्य गवाश्वैर्मेलित सनिधिभिस्तनुभाजाम ।
क्लेशपाप नरकाभ्यधिक स्यात्को गुणो न यदि धर्म नियोग ॥५॥

अर्थ—खेत (जमीन, खेती) वस्तु (घर आदि वस्तुएं) धन, धान्य, गाय, घोड़े और धन के भंडार जो हे शरीरधारी ! तूने प्राप्त किए हैं उनका उपयोग यदि धर्म के लिए नहीं

किया तो क्लेश, पाप और नरक से अधिक और क्या लाभ तुझे होगा ? ॥ ५ ॥ स्वागतावृत्त

विवेचन—पूर्व भव के पुण्य से धनधान्य आदि प्राप्त हुए हो तो उनका सदुपयोग ज्ञानदान, औषधादान, अभयदान, साधर्मी उत्थान या निराश्रिता को आश्रय देने में, बहिना को शिक्षित करने में, उद्योग द्वारा आजिवीका दिलाने में, या सत शास्त्रों के प्रकाशन में या देव सबध में करना चाहिए वरना धन आदि के कारण तृष्णा बढ़ेगी फलत असंतोष तो होगा ही साथ ही कुटुम्ब क्लेश भी होगा और दुर्ध्यान करते हुए मृत्यु होने से दुर्गति निश्चित होगी। अत पूर्वजो से प्राप्त हुए या स्वय द्वारा प्राप्त किए गए धन का सदुपयोग करना चाहिए वरना क्लेश, पाप व नरक तो समक्ष हैं ही।

धन से अनेक हानियां—उसके त्याग का उपदेश

आरंभभरितो निमज्जति यत प्राणी भवाभोनिधा
वीहते कुनपादयश्च पुरुषा येनच्छलाद्बाधितुम ।
चिताव्याकुलताकृतेश्च हरते यो धर्मकर्मस्मृति,
विज्ञा ! भूरिपरिग्रह त्यजत त भोग्य पर प्रायश ॥६॥

अर्थ—आरम्भ के पाप से भारी बना हुआ प्राणी जिस धन के कारण से ससार समुद्र में डूबता है, जिस धन के कारण से कुराजा आदि (अन्यायी राजा, राज्य कर्मचारी) पुरुष, छल के द्वारा उसे बाधना चाहते है, बाधा (कष्ट) देना चाहते है और जो धन, चिंता व्याकुलता कराता है एव धर्म कर्म की याद को (धर्म, कर्म के स्मरण को) भुला देता है या

चुरा लेता है और जो प्राय अन्य के ही उपभोग में आता है वैसे धन को हे बुद्धिमानो ! आप छोड दो ॥ ६ ॥

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—शास्त्रों की परिभाषा में भारी वह है जो पाप कर्मों में रत है व लिप्त है और हल्का वह है जो पापकर्मों में कम लिप्त है या उनको काटने का प्रयत्न कर रहा है। जस भारी वस्तु समुद्र में डूब जाती है वैसे ही पापात्मा भी ससार समुद्र में डूब जाता है अर्थात बारबार अनेक दुर्गतियो म जन्मता रहता है। प्राय धन कमाने म हिंसा के काम करने पडते हैं एव हिंसा ही पाप है, अत वसा धनी भारी या पापी हुवा ही, अत उसका ससार समुद्र म डूबना निश्चित हुवा। ससार में रहते हुए भी अन्यायी राजा या उसके कर्मचारी या चोर धनी का छिद्र देखत रहते है और जबरदस्ती से उसका धन छीन लेते हं। जेब कटे या चोर कपनिया भी ऐसा ही काम करती है। कहा भी है कि "माया को भय है काया को नही"। छोटे छोटे बच्चो के गले या हाथों में सोने के जेवर होने से वे मारे जाते ह यह तो सब ही जानते हं। इसके अतिरिक्त सग्रह किया हुआ धन दूसरा ही भोगता है जसा कि निम्न श्लोक से स्पष्ट है–

कीटिका सचित धान्य मक्षिका सचित मधु ।
कृपणै सचित वित्त, परैरेवोपभुज्यते ॥

कीडी द्वारा सग्रह किया गया धान्य, मधुमक्खी द्वारा सग्रह किया गया शहद और कजूस व्यक्ति द्वारा एकत्रित किया गया धन दूसरो के द्वारा ही भोगा जाता है।

धन को तीन कारणों से छोडना चाहिए (१) परभव में दुर्गति (२) इस भव में वर्तमान भय (३) धर्म विमुखता। अब प्रायः राजा नष्ट हो गए और गणतंत्र का शासन है। हम सब देख रहे हैं कि देखते ही देखते कितने कर (टैक्स) सरकार ने लगा दिए हैं। आयकर के अतिरिक्त मृत्युकर व धर्मादा कर भी लागू हो गया है एवं धर्मादे के खर्च भी सरकार की सरक्षिता में करने पडेंगे। ऐसी हालत में हे मनुष्यो! क्यो धन का संग्रह व आवश्यकता से अधिक उपार्जन कर भारी बनते हो? सबसे बडी हानि जो धन से होती है वह यह है कि सदा सर्वदा इसका धुन सवार रहने से धर्म कर्म भी याद नही आते है। एक प्रकार का नशा छाया रहता है और विद्युत यंत्र के समान आदमी सुबह से रात तक इसी की आराधना में लगा रहता है तब धर्म की याद आ ही नही सकती है और बिना धर्म के आत्मा की पहचान हो नही सकती है, एवं नरकादि का भय पैदा नही हो सकता अतः आत्मा उत्तरोत्तर भारी बनता जाता है व नर्क की तरफ बढ़ता जाता है। परिणामतः जो धन सुख के लिए कमाया था वह दुःख का कारण बन गया।

सात क्षेत्रों में धन लगाने का उपदेश

क्षेत्रेषु नो वपसि यत्सदपि स्वमेतद्
यातासि तत्परभवे किमिव गृहीत्वा।
तस्याजनादिजनिताघचयार्जितात्ते,
भावी क्व नरकदुःखभराच्च मोक्षः ॥ ७ ॥

अर्थ—तेरे पास धन होते हुए भी यदि तू (सात) क्षेत्र

मे नही बोता है ता क्या इसे परभव में अपने साथ ले जाएगा ? धन प्राप्त करने आदि से एकत्रित हुए पाप समूह से प्राप्त किए गए नरक मे दु खो से तेरा मोक्ष (छुटकारा) कसे होगा ? ॥ ७ ॥ वसततिलका

विवेचन--जस उत्तम क्षत्र म धान्य बोने से अधिक उत्तम उपज होगी वसे ही धार्मिक दृष्टि से उन सात क्षत्रो में धन बोने स अथात खच करन म आत्मिक लाभ होगा धम की उपज होगी एव वास्तविक सतोप प्राप्त हागा। इस भव में बोया हुवा आते भव में मिलेगा। सात क्षत्र है, (१) जिन मदिर (२) जिनबिंब (३) जनग्रागम (धमशास्त्र) (४) साधु (५) साध्वी (६) श्रावक (७) श्राविका। इन साता में द्रव्य बोने से धम की प्राप्ति होगी। आज आवश्यकता है सच्चे धम को समझाने वालो की और समझने वालो की। जनआगमा के प्रति आज उतनी रुचि नही है जिसका कारण यह है कि ठीक रीति से शिक्षण नही होता है। अत सातो क्षत्रो में से श्रावक श्राविका की तरफ विशेष लक्ष देने की आवश्यकता है। जब धम के मानने वाले ही गिरी हुई अवस्था म होगे तो मदिर व प्रतिमाजी को कौन सभालेगा तथा साधु साध्वी की कौन भक्ति करेगा ? अत समय का पहचानकर श्रावक श्राविका के उत्कप का प्रयत्न करना चाहिए साथ ही जन आगमो का हिंदी व अग्रेजी में, अनुवाद कर सरलभाषा व अल्प मूल्य में प्रकाशन करना चाहिए तब ही जन धम जन धम बन सकता है। हे प्राणी ! यदि फिर भी मूढ रहकर

धन का सदुपयोग नहीं करता है तो क्या तू समझता है कि आत भव के लिए तू इसे अपने साथ ले जाएगा ? यह असंभव है। एक तिनका भी साथ नहीं जा सकता अत धन के मोह को छोडकर दु खो से छुटकारा प्राप्त कर। धनममत्व व स्त्रीममत्व से रहित होकर अपने मोक्ष का उपायकर। यदि अभी धन की तृष्णा नहीं घटाएगा तो तेरी उम्र के साथ ही साथ यह भी बढ़ती जाएगी और तुझे दुःख देकर नरक में पहुचा देगी और मोक्ष से दूर फेंक देगी। अत धन का ममत्व छोडकर आत्मचिंतन कर।

इति धनममत्व मोचनाधिकार

अथ पञ्चमो देहममत्व मोचनाधिकारः

पिछले पाठो से स्पष्ट हो चुका है कि स्त्री, पुत्र और धन का मोह प्राणी के लिए बधनकर्ता है । इन तीनो तरह के मोह के साथ ही शरीर का मोह भी विचारणीय है। शरीर के मोह में फसकर अपने कर्तव्य से च्युत नही होना चाहिए और शरीर को अति कोमल नही बनाना चाहिए इस विषय में यह अधिकार लिखा है ।

शरीर को पाप से नहीं पालना चाहिए

पुष्णासि य देहमघान्यचितयस्तवोपकार कमय विधास्यति ।
कर्माणि कुर्वन्निति चितयायति, जगत्यय वचयते हि धूर्त्तराट ॥१।

अर्थ—पाप का विचार नहीं करता हुवा जो तू शरीर का पोषण करता है वह शरीर तेरा क्या उपकार करेगा ? अत उस शरीर के लिए हिंसादि कर्म करते हुए आते हुए काल का (भविष्य का) विचार कर। यह शरीर रूपी धूर्त, प्राणी को ससार में ठगता है ॥ १ ॥ वंशस्थ

विवेचन—शरीर और आत्मा अलग अलग वस्तुए हैं। आत्मा का स्वभाव अजर, अमर, अत, नित आनन्द है उस

कि शरीर का स्वभाव नाशवान है, तो फिर इस शरीर के पोषण के लिए क्या तू प्रयत्न प्रमादवान होकर पाप, पुण्य का विचार न करता हुवा तन्मय (शरीरमय) होकर भूठे आनंद में विभोर रहता है। रात दिन इसका और इसके उपयोगी धन, मकान, खेती, वाणिज्य का विचार करता रहता है। हे बुद्धिमान सच्चिदानंद आत्मा ! तू इस धुन से दूर रह। यह जिन वस्तुओं में मोह करता है वे सब इसके सजातीय है जाति स जाति का प्रेम होता ही है (वे भी नाशवान हैं यह भी नाशवान है) हे प्राणी ! तू प्रातःकाल (दिन) या प्राते काल (मृत्यु) का विचार कर और इससे सावधान हो जा। इसमे तेरा उपकार कुछ नहीं होने वाला है। विपरीत इसके कि तू इसके वश में रहकर प्रमादी, हिंसक, पापी बना हुवा होने से संसारचक्र में फिरता रहेगा। यदि तू इसको अपने वश में कर लेता है तो यह शक्तिशाली इंजिन की तरह से काम कर सकता है। तुझे मोक्ष तक पहुंचा सकता है, वरना शरीर के मोह में फसने से तेरी वही गति होगी जो सनत-कुमार चक्रवर्ती की या त्रिशंकु की हुई। पहले को शरीर पर बहुत मोह था जिसकी पराकाष्ठा होने पर वह शरीर विषमय बन गया—दूसरा अपने उसी शरीर द्वारा स्वर्ग में जाना चाहता था। विश्वामित्र की सहायता से वह स्वर्ग के कोट तक पहुंचा परन्तु इन्द्र ने उसे ऊंचे मुख पछाड़ा, परिणामतः वह बीच में ही लटकता रहा।

शरीर रूपी कारा गृह से छूटने का उपदेश

कारागृहाद्बहुविधाशुचितादिदु खा-
न्निर्गतुमिच्छति जडोपि हि तद्विभिद्य ।
क्षिप्तस्ततोऽधिकतरं वपुषि स्वकर्म
घातेन तद्दृढयितुं यतसे किमात्मन ॥२॥

अर्थ—मूर्ख प्राणी भी अनेक अशुचि आदि दु खो से भरे हुए कैदखाने को तोडकर बाहर निकलने की इच्छा करता है । तो फिर हे आत्मा, तू अपने ही कर्मों द्वारा उससे भी अधिक मजबूत, शरीररूपी कैदखाने में फसा हुआ होते हुए भी उस को अधिक मजबूत करने का उपाय तू क्या कर रहा है ? ॥२॥

वसततिलका

विवेचन—समार के कानून का भग करने वाले को या हत्या, चोरी काला बाजार करने वाले को कैद की सजा मिलती है । वह कैद अत्यत कष्टकर, गदी सकडी, अधकार युक्त होती है । उसमे से निकल भागने के लिए वह कैदी उस जेल को तोडने का प्रयत्न करता है चाहे वह मूर्ख ही क्यो न हो । इसी तरह से प्रकृति के नियम भग करने से मनुष्य रोगी बनता है और रोगरूप जेल में पडा रहता है । सबसे बडी और अवश्य भोग्य जेल जो कर्मों की है, उसमें प्राणी स्वय बधता जाता है और अनेक बधनो को मजबूत करता जाता है इन कर्मों के कारण ही उसे देह प्राप्त होती है और उस देह के कारण ही वह फिर नई देह का निर्माण करता है और उत्तरोत्तर मानव से गिरकर पशु, पक्षी, कीट,

पतन, वश, माग पात नव पहुच जाना है। एक बार पतन हुवा कि फिर तो ऊचा आना हा कठिन हो जाता है। इस तरह शरीर का कन्यागाना मजबूत हो गया और ज्ञान दशा से अज्ञान दशा में पहुच गया। अत इस शरीर म मत्तम करके जन्म मरण की शृखला का तोडना ही श्रेयस्कर है। जसे मदखान में से निकलन के लिए ताना, मना छटपटाता है वस ही हमें भी पुनर्जन्म को दूर करने के लिए और परमात्म पद पाने के लिये छटपटाना चाहिए तभी यह शरीररूपी कद जो मलमूत्र का धाम अज्ञान रूप अधकार का निवास व जन्म जरा मृत्यु का कारण है छूट सकेगा। हे भाई ! कई भवा से इसमें बधा हुवा तू मानव भव को पाया है और तुझे आत्मा परमात्मा के विषय म सोचने का अवसर मिला है यदि फिर भी यश, कीर्ति, धन, स्त्री पुत्र व परिवार के मोह म पडकर अपना भान भूल गया और इस शरीर को ही सवस्व मानता रहा तो फिर इस शरीररूपी जल से तेरा छुटकारा होना नितात कठिन हो जायगा।

शरीर से करने योग्य कर्तव्य की प्रेरणा

चेद्वाछसीदमवितु परलोकदु ख
भीत्या तनो न कुरुषे किमु पुण्यमेव।
नश्य न रक्षितुमिद हि च दु खभीति,
पुण्य विना क्षयमुपति न वज्रिणोपि ॥३॥

अर्थ—यदि तू अपने शरीर को परलोक में होने वाले दु खो के भय से बचाना चाहता हो तो पुण्य क्यो नही करता

है ? यह शरीर किसी के द्वारा बचाया नहीं जा सकता है, इंद्र जैसे समर्थ का भी दुःख भय पुण्य बिना नष्ट नहीं होता है ॥ ३ ॥ वसंततिलका

विवेचन—यदि इस भव में दुःखी या मरे हुए मनुष्यों को या काटे जाने वाले पशुओं को या शिकारी द्वारा मारे गये पशु पक्षियों को देखकर तुझे भय उत्पन्न होता है कि अगले जन्म में कहीं मेरी भी यह दशा न हो जाय, या शास्त्रों में नरकों का वर्णन पढते हुए अथवा सिनेमा में दुखांत दृश्य देखते हुए भय उत्पन्न होता हो तो उन दुःखों से बचने के लिए हे प्राणी तू धर्म क्यों नहीं करता है ? किए हुए कर्मों के फल को भुगतने से कोई नहीं बचा सकता है, न इस शरीर को कोई सदा सर्वदा टिकाये रख सकता है, न कोई निर्भय स्थान में समर्थ है। पुण्य का फल भुगत चुकने पर अर्थात् पुण्य क्षीण होने पर देवेंद्र को भी अपना आसन छोडकर अन्य गति में जाना पडता है। वह भी अपने आसन के छीनने के डर से तपस्वियों को तप-संयम से गिराने की कोशिश करता रहता है जैसा कि विश्वामित्र ऋषि के साथ किया। अतः यदि तू आते भव में सद्‌ गति पाना चाहता है तो पुण्य कर जिससे संसार का भय धीरे धीरे नष्ट हो जायगा।

देह के आश्रित रहने से दुःख, निरालंब रहने से सुख

देहे विमुह्य कुरुषे किमघं न वेत्सि,
देहस्थ एव भजसे भवदुःखजालम्।
लोहाश्रितो हि सहते घनघातमग्नि-
र्बाधा न तेऽस्य च नभोवदनाश्रयत्वे ॥ ४ ॥

ग्रथ—शरीर पर मोह करके तू पाप करता है परन्तु तुम मालूम क्या नही है कि तू शरीर में रहा हुवा है इसीलिए ससार के दु ख जाल में फसा हुवा है। जस लोह में रहत हुए ही ग्रग्नि, घण (हथोडा-एरण) का चोट सहती है। ग्रत जव तू ग्राकाश की तरह से निरालवन (ग्रालवन रहित निर ग्राश्रय) स्वीकार करेगा तब तुझ भी कोई पीडा नहीं होगी जसे कि ग्रग्नि से मुक्त लोह को चोट नही लगती है ॥ ४ ॥

वसततिलका

विवेचन—जस ग्रकेली पडी हुई सुशील युवा स्त्री ग्रपन सौंदय के कारण गुण्डा के चगुल में फसन का भय रखती है लेकिन एक युवा कुरूप स्त्री को इसका रचमात्र भी भय नही होता। दोना की युवावस्था होते हुए भी रूप के कारण स ही भय रहता है। वसे ही हे ग्रात्मा! तू रूप या शरीर में रहा हुवा है इसीलिए ससार का भय वना हुवा है। जव तू शरीर स मुक्त हो जाएगा तो कोई भय नही रहगा। जसे जगल के रास्ते में जाते हुए ग्रकेले धनवान को ग्रपन धन व गहना का भय रहता है लेकिन ग्रकेले भिखारी को उसी रास्ते जाते हुए कोई भय नही रहता है। डर माया को है काया को नही है, यह लौकिक उक्ति है उसी तरह से देहातीत को कोई भय नही है। देह के सग से सब तरह का कष्ट व भय है ग्रत विदेह बनो।

कदखाने में से अभी भी तू निकल जा। यह शरीररूपी जलर जरा लोभी है अन तू उम थाडा थाडा भोजन दिया कर एव मोक्ष का साधन भी उसके ही द्वारा तैयार कर और पाचो इद्रिया पर सयम रख, एव पाच प्रमाद रूपी शराब का कभी सेवन न कर, यह युक्ति करना (जिससे तू शरीररूपी कैद से छूट जाएगा)।

मुनिसुदरसूरिजी महाराजा के इस उपदेश पर अभी वह जीव विचार कर रहा है। उपदेश के अनुसार चलने की उमे अत्यत आवश्यकता है। मधुबिंदु का दृष्टान्त भी इसी तरह का है।

शरीर की अशुचि स्वहित ग्रहण

यत शुचीयप्यशुचीभवन्ति, कृम्याकुलात्काकशुनादिभक्ष्यात ।
द्रागभाविनो भस्मतया ततोऽगात्मांसादिपिंडात स्वहित गृहाण ।६।

अर्थ--जिस शरीर क सबध से पवित्र वस्तुए भी अपवित्र हो जाती ह, जो कृमि (कीटाणु) से भरा हुवा है, जो कव्वे व कुत्तो के भक्षण के योग्य है, जो थोड समय में राख हो जाने वाला है और जो माम का ही पिंड है उस शरीर से तू ता अपना हितकर ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन--इस शरीर को केसर कस्तूरी मिश्रित दूध पिलाओ तो मूत्र बन जाता है, सुगधित मेवायुक्त पक्वान खिलाओ तो विष्टा बन जाता है, सुन्दर कीमती वस्त्र पहनाओ तो वे पसीने से दुर्गंध वाले बन जाते हैं, इसके सपर्क में आने

से यह गति इन पदार्थों का हा जानी है। कृमि स भरे हुए ह एव घणित होन स कव्वे कुत्तो के खाने के याग्य इस मानव शरीर की काई वस्तु काम में नही आ सकनी है जब कि पशुओ की चमडी, हड्डी सीग, चरबी, वाल और यहा तक कि मलमूत्र भी काम में आता है। मानव शरीर का काई भी भाग काम म नही आता है। यदि मुदा थोड समय तक पडा रह जाता है तो दुगन्ध आने लगती है व कीडे पड जाते ह रूप विकराल हो जाना है जिस दखने ही भय लगता है। नीतिकार ने एक मनुष्य क कलवर का जो जगल में पडा था उसे खाने के लिए उद्यत हुए एक सियार को मना किया है —

हस्तौ दान विवर्जितौ श्रुति पटौ सारस्वत द्राहिणौ।
नेत्रे साधु विलोकनेन रहिते पाद न तीर्थ गतौ॥
अन्यायार्जित वित्त पूर्ण मुदर गर्वेण तुग गिरौ।
रे ! रे ! जबुक मुच मुच सहसा नीच सुनिद्य वपु ॥

अर्थात—अरे लोमडी तू इस शरीर को छोड दे, मत खा। इसके शरीर का कोई भी भाग खाने योग्य नही है क्योकि हाथो न दान नही दिया, कानों में विद्या या शास्त्र क शब्द नही पडे, आँखें सता के दशन स रहित ह पर कभी तीथ यात्रा में नही गए अत ये सब अपवित्र ह ही। यदि तू पट खाना चाहता है तो यह तो अन्याय स कमाए हुए धन स भरा गया है और सिर भी अभिमान के मारे ऊचा रहा है। अरे सियार जल्दी से इस सारे अपवित्र शरीर को छोड दे यह नीच और निंदा के योग्य है।

शरीर घर को किराया और उसका उपयोग

परोपकारोस्ति तपो जपो वा, विनश्वराद्यस्य फलं न देहात् ।
सभाटकादल्पदिनाप्तगेहमृत्पिंडमूढ फलमश्नुते किम ।। ७ ।।

अर्थ जिस नाशवान शरीर से परोपकार, तप, जप आदि फल नही होते, वैसे शरीर वाला प्राणी थोडे दिन के लिए किराए पर रखे हुए भाडे के घर रूप मिट्टी के पिण्ड पर मोह करके क्या फल प्राप्त करेगा ? ।। ७ ।। उपजाति

विवेचन—जैसे किराये पर लिया हुआ घर अपना नही होता है वैसे ही अन्नपान आदि के किराय पर लिया हुवा यह शरीर भी अपना नही है अत इस शरीर से सत्कर्म रूप फल ले लेना चाहिए। शरीर पर ममता रखकर उसे आराम से रखा जाय, विविध पक्वान खिलाए जाए, बगले मे निवास हो, मोटर में घुमाया जाय फिर भी यह स्वार्थी तो अपना स्वभाव नही छोडता है और प्रमाद आदि के द्वारा आत्मा को गड्ढे में ले ही जाता है अत मास के पिंडरूप इस नाशवान शरीर पर मोह करने से कोई लाभ नही होगा। जैसे—रेल या मोटर का टिकट पूरा होते ही भाडे के डब्बे को खाली करना पडता है और उसका मोह छोडते हुए हमें खेद नही होता है वैसे ही आयुष्य पूर्ण होने पर शरीर को भी छोडना पडेगा अत इस पर भी मोह नही करना चाहिए। अनत काल से इस पर मोह रहा है इसीलिए प्राणी भवकूप में पडते है। प्रभु महावीर ने नयसार के भव से लेकर अतिम भव तक उत्तरोत्तर इस शरीर का सदुपयोग कर मोक्ष प्राप्त किया

वसे ही हमें भी उत्तम फल (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। इसके बारे में वइ विचारनाय प्रश्न हं, शरीर का क्यो टिकाय रखना, उसका पालन पोषण कब करना, क्या करना, किस लिए करना ग्रादि। इनका उत्तर ऊपर लिख ग्रनुसार विचार कर मनन करना चाहिए।

नरीर से साधा जा सकने वाला आत्म हित

मत्पिडरूपेण विनश्वरेण, जुगुप्सनीयन गदालयेन।
देहेन चेदात्महित सुसाघ, धर्मान्नकि तद्यतसेऽत्र मूढ ॥८॥

ग्रथ—मिट्टी के पिंड रूप, नाशवत, दुगध ग्रौर रोग के धाम स्वरूप इस शरीर द्वारा जब धम करके तू ग्रपना हित ग्रच्छी तरह से कर सकता है तो फिर हे मूढ! उसके लिए प्रयत्न क्यो नही करता है? ॥ ८ ॥

विवेचन—तुच्छ व घृणित वस्तु में भी यदि कुछ उपयोग का गण होता है तो हमें उसकी कदर करनी पडती है उसे सभाल कर रखनी पडती है वसे ही ऊपर के ग्रवगुण वाले इस शरीर का उपयोग हम चाहे तो उत्तम रीति से कर सकत हं क्योकि मानव शरीर ही एक एसा शरीर है जिसके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। देव, तियच, या नरक के जीव मोक्ष नही पा सकते हं ग्रत इस निगुणी से भी ग्रपना हित साधन करना चाहिए ग्रर्थात धम करके मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

इस ग्रध्याय का सार निम्न प्रकार से है—

(१) शरीर का पोषण करना कृतघ्न पर उपकार करने के तुल्य है।

(२) शरीर तेरा स्वय का नही है, परन्तु मोह राजा द्वारा बनाया गया कैदखाना है।

(३) शरीर तेरी नौकरी में नही है, वह तो मोह राजा की सेवा म तत्पर है।

(४) शरीररूपी जेल में स मुक्त होने के लिए तुझे असाधारण पुरुषाथ करना चाहिए।

(५) शरीररूपी जेल में से छूटने का उपाय, पुण्य प्रकृति का सचय करना है।

(६) शरीर की टापटीप (सभाल) कम करना चाहिए और इद्रियो का सयम अधिक करना चाहिए।

(७) शरीर से आत्म हित साधने के लिए धमध्यान करना चाहिए।

(८) शरीर को भाडे की झोपडी मानना चाहिए।

(९) शरीर छोडते हुए जरा भी खद न हो, ऐसी वृत्तियें कर देनी चाहिए।

(१०) शरीर की अशुचि पर विचार करना चाहिए।

हे देहमय प्राणी ! तू अपना और देह का स्वभाव पहचान, इस थोडे से काल के लिए मिले हुए उत्तम सामग्री युक्त शरीर से सबसे उत्तम काय अर्थात धर्म साधन कर, उत्तम फल, ध्येय रुप मोक्ष प्राप्ति कर ले वरना पछताएगा।

इति देहममत्व मोचन नाम पचमाधिकार

अथ षष्ठः विषय प्रमाद त्यागाधिकारः

ममत्व के मुख्य कारणभूत स्त्री, धन, पुत्र और शरीर का विचार करने के पश्चात् प्रमाद त्याग का विचार किया जाता है। ऊपर के चार बाह्य ममत्व के साधन हैं अब आंतरिक ममत्व के त्याग का उपदेश शास्त्रकार देते हैं। प्रमाद का सामान्य अर्थ आलस्य होता है लेकिन जैनशास्त्रों में उसका विशेष अर्थ किया जाता है। प्रमाद के पांच भेद हैं (१) मद (आठ प्रकार का—तप श्रुत, बल, ऐश्वर्य, जाति, कुल, लाभ रूप) (२) विषय (पांचों इन्द्रियों के २३ विषय) (३) कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) (४) विकथा (राज्यकथा, देशकथा, स्त्रीकथा, भोजनकथा) (५) निद्रा (निद्रा, निद्रा-निद्रा प्रचला, प्रचला प्रचला, स्त्यानर्द्धि)। प्रमाद के दूसरी तरह से आठ भेद भी जिनेश्वर ने त्यागने योग्य बताए हैं। वे हैं—अज्ञान, असंयम, मिथ्याज्ञान, राग, द्वेष, मतिभ्रंश, धर्म का अनादर, योगों का (मन वचन, काय) दुष्प्रणिधान।

विषय सेवन से होने वाले सुख-दुःख की तुलना

अत्यल्पकल्पितसुखाय किमिन्द्रियार्थे
स्त्वं मुह्यसि प्रतिपदं प्रचुरप्रमादः ।
एते क्षिपन्ति गहने भवभीमकक्षे,
जन्तून् यत्र सुलभा शिवमार्गदृष्टिः ॥१॥

अर्थ—बहुत ही कम और वह भी (कल्पित) माने हुए सुख के लिए तू प्रमादी बनकर बार बार इन्द्रियों के विषय में क्यों मोह करता है ? ये विषय प्राणी को संसार रूपी भयंकर गहन वन में फेंक देते हैं जहां से उसे मोक्ष मार्ग का दर्शन दुर्लभ हो जाता है ॥ १ ॥ वसंततिलका

विवेचन—हे जीव ! तू ने स्वादिष्ट पदार्थ खाये, संभोग किये, मधुर गायन सुने, यह सब कितने काल तक सुख देने वाले रहे ? भोजन पचा और विष्टा बना, संभोग के पश्चात् निर्बलता तथा घृणा आई गायन के पश्चात् कर्कश वचन श्रवण ऐसे इंद्रिय जनित सुख नष्ट हुवा। इन अल्प सुखों में मस्त रहा हुवा तू ऐसे गहरे खड्डे में गिरेगा कि जहां से मोक्ष का मार्ग भी नजर न आएगा अर्थात् पशु पक्षी या नारकी जीव बनेगा, वहां धर्म की बात ही कहां रही ? जब समझ शक्ति ही नहीं है तो धर्म की बात ही कहां से हो। अतः एकान्त निर्जन वन में बैठकर शान्ति से, मन को वश में करके भगवान का भजन करना चाहिए।

परिणामतः हानिकारक विषय

आपातरम्ये परिणामदुःखे, सुखे कथं वैषयिके रतोऽसि ।
जडोऽपि कार्यं रचयन् हितार्थी, करोति विद्वन् यदुदर्कतर्कम् ॥२॥

अर्थ—केवल भोगते हुए ही सुन्दर लगने वाले और परिणाम में दुःख देने वाले विषयों में तू क्या आसक्त हुआ है ? हे विद्वान ! अपना हित चाहने वाला मूर्ख मनुष्य भी काम के परिणाम को तो सोचता है ॥ २ ॥ उपजाति

विवेचन—बिना पढा या गवार मनुष्य भी अपने प्रत्येक व्यापार (काम) का परिणाम अवश्य सोचता है फिर तर जमा पढा लिखा मनुष्य बिना परिणाम जाने ही विषय सेवन करता रहता है यह उचित है ? तुम्हे मधुबिंदु का दृष्टांत सोचना चाहिए। एक मनुष्य जगल मे भटकता है अचानक एक जगली हाथी की नजर उस पर पड जाती है। वह मनुष्य दौडकर एक वटवृक्ष की ऊंची डाल से लटक जाता है। उसी डाली पर उसके सिर पर शहद की मक्खियो का छत्ता है जहा से शहद उसके मुख में टपकता है। उसकी आख उस डाली को देखती है जहा दो चूहे (सफेद और काला) उसी डाली को काट रहे है। एक बार उसने नीचे भी देखा और काप गया क्योकि ठीक उसके नीचे कुए में एक अजगर और चार साप मुह फाड उसके गिरने की इतजार कर रहे है। वह हाथी भी वहा आ पहुचा था और वृक्ष को उखाडने की कोशिश कर रहा था। कितनी भयकर स्थिति थी उसकी !! हाथ थक गए थे, अत गिरने का डर था ही और गिरता भी सापो के मुह मे। ऊपर से डाली भी कट रही थी उधर हाथी जोर लगा ही रहा था। इसी समय दो देवी देवता विमान द्वारा आते है और उसे अपने विमान में बैठाने के लिए हाथ बढाते है, लेकिन वह मूर्ख शहद की बूद के स्वाद में क्या कहता है, "जरा ठहरो एक बूद और चखने दो", देव ठहर गए, फिर कहा तो फिर भी उसने वही जवाब दिया देव चले गये। हाय अभागे तेरी मौत निश्चित है। इस

वृक्ष है, चूहे दिन व रात ह जो आयुडाल को काट रहे ह, कुव भव कूप है, चारो साप चारो गति हं, अजगर निगोदावस्थ है, देव देवी मद गुम्ह हं, मधुबिंदु ससार के काम भोग ह जिनके स्वाद से धम की तरफ रुचि ही नही होती है।

हे विद्वान भाई! यह कीमती दुर्लभ मानव जीवन इन्द्रियो के सुख के लिए मत गवा। विषयो पर काबू करके आत्महित कर ले। एक बार मानव भव गया कि गया। जसे समुद्र में गिरी हुई हीरे की अगूठी फिर नही मिल सकती है वसे ही हारा हुवा मानव भव फिर नही मिल सकेगा।

मोग सुख और ससार सुख

यदिन्द्रियार्थैरिह शर्म बिंदवद्यदणवत्स्व शिवग परत्र च।
तयोर्मिथ सप्रतिपक्षता कृतिन, विशेषदृष्टयान्यतरद गृहाण तत

अथ—इन्द्रियो स इस ससार में जो सुख होता है वह बिंदु जितना है और (इनके त्याग से) परलोक में जो स्वग और मोक्ष का सुख होता है वह समुद्र जितना है, इन दोनो सुखो म पारस्परिक शत्रुता है। अत हे भाई! इन दोनो में से एक को अच्छी तरह स विचार कर ग्रहण कर॥ ३॥

वशस्थ

विवेचन—जसे किसी मेले में कई दुकानो पर कई तरह के माल दिखाए जाते हं और ग्राहक पसद कर उन्ह खरीदता है, माल का अच्छा या बुरा निकलना उसकी परख बुद्धि पर निभर है, उसी तरह से शास्त्रकार ने ससार सुख और मोक्ष-सुख दोनो ही बता दिए हं। हे भाई त दोनो म से एक को पसद

कर ले परंतु पहले ठण्डे दिमाग से सोच जरूर लेना, करना अपनी इच्छा के अनुसार ही। मृग तृष्णा से दुःखी होना चाहता है तो संसार सुख अपना, वास्तविक सुख चाहता है तो मोक्ष मार्ग ग्रहण कर। पहला अंधेरा है और दूसरा प्रकाश है। पहला रात है तो दूसरा दिन है।

दुःख होने के कारणों का निश्चय कर

भुक्ते क्व नारकातिर्यगादिदुःखानि देहीत्यवधेहि शास्त्रैः।
निवर्तते ते विषयेषु तृष्णा, बिभेषि पापप्रचयाच्च येन ॥ ४ ॥

अर्थ—यह जीव नरक, तिर्यंच आदि के दुःख क्या पाता है यह शास्त्रों से जान ले, जिससे विषयों पर तेरी तृष्णा कम होगी और पाप इकट्ठा करते हुए तुझे भय लगेगा ॥४॥

उपजाति

विवेचन—भय उसी वक्त लगता है जब कि विपरीत दशा का विचार होता है। कर्मों के कारण संसार में संतप्त प्राणियों को हम देखते हैं या जब हमारे छुपे हुए पाप प्रगट होते हैं या अदालत जेल अपयश, निंदा या अपमान सामने नजर आते हैं या जन्मांध, दरिद्र, भिक्षु या कोढ़ी को देखकर करुणा उत्पन्न होती हो साथ ही यदि उस दशा को प्राप्त होने के कारणों का विचार होता हो एवं उन्हीं सब कामों को करके हम वैसा बनने की तैयारी करते हुए पाए जाते हों तो भय उत्पन्न होता है। इस प्रकार का भय उत्पन्न होने से ही नरकादि के दुःख के कारणों का विचार होगा और शास्त्र पढ़ने की रुचि पैदा होगी और विषयों पर तृष्णा कम होगी।

इसी विषय पर अधिक विचार

गर्भवासनरकादिवेदना, पश्यतोऽनवरत श्रुतेक्षण ।
नो कषायविषयेषु मानस, श्लिष्यते बुध विचिन्तयेति ता ॥५॥

अर्थ—हे बुद्धिमान ! ज्ञान चक्षु से गर्भावस्था तथा नरकादि की पीड़ा का बार बार देख लेने के बाद तेरा मन विषय कषाय पर नहीं लगता, अत तू इसका उपयुक्त विचार कर ॥ ५ ॥

विवेचन—ज्ञान नयन खुल जाने के बाद योग्यायोग्य का भान होता है अत बुद्धिमान वह है जो बार बार मन शास्त्रों का अभ्यास करके ज्ञान नयनों द्वारा गर्भावस्था तथा नरकावस्था के दुःखों को जान लेता है बाद में वह उस दुःखद अवस्था से बचने का प्रयत्न करता है।

केले के गर्भ जैसे कोमल एवं अत्यंत सुखी किसी जीव के प्रत्येक रोम में यदि कोई लोह की गर्म सुई चुभावे, इससे जो उसे दुःख होता है उससे आठ गुणा दुःख प्राणी को गर्भ में हमेशा होता रहता है और जन्मते समय उससे भी अनंत गुणा अधिक दुःख होता है।

नरक में प्राणी को अत्यन्त क्षुधा, तृषा, शीतलता उष्णता, पारस्परिक कलह, परमाधामी देवों की मार आदि दुःख चिरकाल तक सहना पड़ता है।

तिर्यचपने में (पशु पक्षी योनि में) नासिका छेदन, भार वहन, प्रहार, क्षुधा, तृषा, पराधीनता रोगयुक्त होने पर भी

अवि राम, भार वहन, कट हुए गने गा अगो में कीटाणु उत्पत्ति, अचिकित्सा, मानव का निदयपन, वृद्धावस्था में निराश्रय, गृहानिष्कासन आदि सहना प ना है।

मानव दशा में व्याधि, वृद्धावस्था दुजन मनुष्य का ममग, दुष्ट का प्रकोप इष्ट वियोग अनिष्टयोग, धन हरण, स्वजनमरण, परवशता कामनाओं की अतृप्ति आदि सहना पड़ता है।

देव गति में इद्र का आना पालन, ईर्षा, आयु क्षीण जानकर रुदन क्रन्दन एव अन्य गति में जाने की चिंता आदि सहना पड़ता है।

इन चारो गतियों के व गर्भावस्था के दु खो का जाना क बाद भी जो प्रमादादि द्वारा शुभ काय नही करता है उसकी दशा उस बनजारे वाले की तरह होती है जो अपने गाड के पया, धुरी, बल आदि को न सभालता हुआ केवल भाड व लोभ स गाड का हाकता रहता है और बीच जगल म धुरी टूटने से रोता है, जहा कोई उपाय नही है। अत विषय त्याग कर आत्म हित करना श्रेष्ठ है वरना उस गाड वाले की तरह का अरण्य रुदन निरथक जाएगा।

मृत्यु भय प्रमाद त्याग

वध्यस्य चौरस्य यथा पशार्वा, सप्राप्यमाणस्य पद वधस्य।
शन शनरेति मति समीप, तथाखिलस्येति कथ प्रमाद ॥६॥

अथ—जस फासी की सजा पाये हुए चोर की, अथवा वधस्थान पर ल जाते हुए पशु की मृत्यु, धीरे धीरे नजदीक

इसी विषय पर अधिक विचार

गर्भवासनरकादिवेदना, पश्यतोऽनवरत श्रुतेक्षण ।
नो कषायविषयेषु मानस, दिलप्यते बुध विचिंतयेति ता ॥५॥

अर्थ—हे बुद्धिमान ! ज्ञान चक्षु से गर्भावस्था तथा नरकादि की पीडा को बार बार देख लेने के बाद तेरा मन विषय कषाय पर नहीं लगेगा अत तू इसका उपयुक्त विचार कर ॥ ५ ॥

विवेचन—ज्ञान नयन खुल जाने के बाद योग्यायोग्य का भान होता है अत बुद्धिमान वह है जो बार बार सत शास्त्रो का अभ्यास करके ज्ञान नयनो द्वारा गर्भावस्था तथा नरकावस्था के दु खो को जान लेता है बाद म वह उस दु खद अवस्था से बचने का प्रय न करता है ।

केले के गर्भ जसे कोमल एव अत्यत सुखी किसी जीव के प्रत्येक रोम में यदि कोई लोहे की गर्म सुई चुभावे, इससे जो उस दु ख होता है उससे आठ गुणा दु ख प्राणी को गर्भ में हमेशा होता रहता है और जन्मते समय उससे भी अनत गुणा अधिक दु ख होता है ।

नरक में प्राणी को अत्यत क्षुधा, तृषा, शीतलता, उष्णता, पारस्परिक कलह, परमाधामी देवो की मार आदि दु ख चिरकाल तक सहना पडता है ।

तिर्यचपने में (पशु पक्षी योनि में) नासिका छेदन, भार वहन, प्रहार, क्षुधा, तृषा, पराधीनता रोगयुक्त होने पर भी

अविश्राम भार वहन, कट हुए गल हुए अगो में कीटाणु उत्पत्ति, अचिकित्सा, मानव का निदयपन वृद्धावस्था में निराश्रय, गृहनिष्कासन आदि सहना पडता है।

मानव दशा में व्याधि, वृद्धावस्था दुजन मनुष्य का समग, दुष्ट का प्रताप इष्ट वियोग अनिष्ट योग, धन हरण, स्वजनमरण, परवशता, कामनाओ की अतप्ति आदि सहना पडता है।

देव गति म इद्र का आज्ञा पालन, ईर्षा, आयु क्षीण जानकर रुदन क्रदन एव अन्य गति म जान की चिंता आदि सहना पडता है।

इन चारो गतियो के व गर्भावस्था क दु खो को जानन के बाद भी जो प्रमादादि द्वारा शुभ काय नही करता है उसकी दशा उस बलगाडे वाले की तरह होती है जो अपन गाड के पया, धुरी जल आदि को न सभालता हुवा केवल भाड के लाभ स गाड को हाकता रहता है और बीच जगल में धुरी टूटन स रोता है, जहा कोई उपाय नही है। अत विषय त्याग कर आत्म हित करना श्रेष्ठ है, वरना उस गाडे वाले की तरह का अरण्य रुदन निरथक जाएगा।

मत्यु भय प्रमाद त्याग

वध्यस्य चौरस्य यथा पशोर्वा, सप्राप्यमाणस्य पद वधस्य।
शनै शनरेति मृति समीप, तथाखिलस्येति कथ प्रमाद ॥६॥

अथ—जस फासी की सजा पाय हुए चोर की, अथवा वधस्थल पर ले जाते हुए पशु की मत्यु, धीरे धीरे नजदीक

सुख के लिए सचित विषयों में दुःख

विभेषि जतो यदि दु खराशस्तर्दिद्रियार्थेषु रति कृथा मा ।
तद्भूव नश्यति नाम यदद्वाय, नाशे च तस्य ध्रुवमेव दु खम ॥७॥

अर्थ—हे प्राणी यदि तू दु ख समूह से भयभीत होता है तो, इन्द्रियों में आसक्त न हो। उनसे उत्पन्न हुआ सुख तो शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और वह नष्ट हुआ नहीं कि फिर तो दीर्घ कालतक दु ख ही दुःख है ॥ ७ ॥

विवेचन—यदि हमें अनेक प्रकार के दु ख समूह से डर लगता हो तो, उनके कारण भूत इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गंध आदि विषय हैं उन विषयों के पोषण में हम लुब्ध रहते हैं या हमारी उनमें आसक्ति है उसको दूर करना चाहिए तभी दुखों से दूर रहा जाएगा। वे इन्द्रिय जनित सुख अल्पकालीन हैं और उनके नष्ट होने पर फिर दुःख ही दुःख है। ससार की लुभावनी वस्तुओं में हमारा मन इतना चिपका हुआ है कि इनको छोड़ना तो दूर रहा, इनको नाशवान और दुःखदायी मानने का विचार भी नहीं आता है। यह तो निश्चित है कि इस शरीर सहित तमाम चीजों को यहीं छोड़कर जाना पड़ेगा लेकिन जाने से पहले हमारा मन इनसे दूर हो गया या त्याग की ओर झुक गया तब तो वह जाना सुखकर होगा लेकिन यदि इनको त्यागने के विचारों के बजाय अधिक ममता व आसक्ति की रही तो वह जाना दुःखकर होगा।

तू किस कारण से विषयों में आसक्त रहता है

मृत किमु प्रतपतिर्दुरामया, गता, क्षय किं नरकाश्च मुद्रिता ।
ध्रुवा स्त्रिमयुधनदेहबधय, सकौतुको यद्विषयविमुह्यसि ॥ ८ ॥

अर्थ—क्या यमराज मर गये ? क्या संसार में से सब व्याधियां नष्ट हो गई ? क्या नरक के फाटक बंद हो गए ? क्या आयुष्य, धन, शरीर और सगे सबधी सदा काल रहने वाले घोषित हो गए ? जिससे तू कौतुक से हर्ष से (निर्भय बनकर) विषयों में मोह करता है ? ॥ ८ ॥

विवेचन—जैसे चूहों को निर्भय से घर में नाचते हुए देखकर हमें आश्चर्य होता है, एवं जगल में भोले प्राणियों को स्वतंत्र घूमते हुए देखकर विस्मय होता है कि क्या शहर में से बिल्लियां नष्ट हो गई या जगल में से सिंह भाग गए ? यह अनहोनी बात है, चूहे व पशु दोनों की मौत प्रतीक्षा कर रही है । इसी तरह से हे आत्मा ! तू भी यह मान बैठा है कि मौत की मौत हो गई, बिमारियों को बीमारी लग गई और नरक गरक हो गया एवं विलासियों ने वैज्ञानिकों के आधार पर यह घोषणा कर दी है कि हे लोगो तुम कभी मरने वाले नहीं हो, सब धन कमाओ यह कभी नष्ट होने वाला नहीं है इस शरीर को खूब आराम से रखो आनंद करो यह हमेशा आबाद रहने वाला है । प्रिया, पुत्र और मित्र हमेशा जवान व सुन्दर हालत में चिरकाल तक तुम्हारे पास ही रहेंगे । ' इस पर विश्वास करते हुए तेरी भी ऐसी मान्यता हो गई हो तो तू भारी भूल कर रहा है । इस मान्यता का पर्दा तब ही

फसेगा जब तू स्वयं बीमार होगा, तेरे सगे स्नेही दूर भागेंगे, धन औरों के अधिकार में होगा और मृत्युदेवी का सामना देखेगा। उस वीभत्स्य दुख को आज ही याद कर और वास्तविकता की ओर ध्यान देकर विषयों से दूर हो जा अनासक्त बन जा।

विषय प्रमाद के त्याग से सुख

विमोह्यसे किं विषयप्रमादैर्भ्रमात्सुखस्यायतिदु खराशे ।
तद्‌गृधमुक्तस्य हि यत्सुख ते गतोपम चायतिमुक्तिद तत ॥६॥

अर्थ—भविष्य में जिनसे अनेक दुख मिलने वाले है उनमें तू विषय प्रमाद जन्य बुद्धि से सुख के भ्रम से क्यों मोहित होता है ? उन सुखों की अभिलाषा से मुक्त प्राणि को जो सुख होता है वह अनुपम है और मोक्षदायी है ॥ ६ ॥

उपजाति

विवेचन—जिसे खुजली हुई हो या सिर में गंज हो वह बार बार खाज खणाता है और सुख मानता है लेकिन परिणामन खून निकलता है और दर्द बढता है। इसी तरह विषय सेवन से अल्पकालीन सुख चाहे मिलता हो लेकिन परिणाम भयकर होता है। विषयरत प्राणी की वही दशा होती है जो हड्डी चबाने वाले कुत्ते की होती है। कुत्ता मानता है, कि हड्डी में से खून निकलकर उसे आनंद दे रहा है लेकिन वास्तव में तो उसके दात या मुह में से ही खून निकल कर उसका हड्डी चबाना जारी रखता है। परिणामत जबडे छुल जाने से वह अधिक दुखी होता है। उसी

तरह से विषय सेवन करते हुए स्वदान व क्षणिक आनंद आता है लेकिन परिणाममें नरनारी वीर्य रज हीन हो जाते हैं व अशक्ति द्वारा काल के मुह में जल्दी पहुंच जाते हैं।

राजा भर्तृहरि के कथनानुसार विचारा जाय तो मालूम हो जायगा कि सुख किसमें है। वह कहते हैं कि —

शरीर में रोग उत्पन्न हुवा अन उसकी दवा की इसमें सुख कौनसा ? प्यास लगने पर शीतल जल पीते हैं इसमें सुख कौनसा ? भूख लगने पर कुछ खाते हैं उसमें सुख कौनसा ? विकार उत्पन्न होता है और प्राणी भोग करते हैं इसमें सुख कौनसा ? ये तो सब शारीरिक व मानसिक व्याधियों का उपचार है, इसमें सुख कहां है ?

वास्तविक सुख तो आत्मा के आनंद में, शांति में, एकान्त मनन में है। इंद्रिय जन्य सुख, यह नशे की हालत में माना हुवा सुख दुःख है।

पांच प्रकार के प्रमादो में से पहला, मद्य है, उसका प्रचार बढ़ता जा रहा है। नए नए तरीकों से बनाए गए मादक पेय के शोकीन लोग इसे फैशन मानने लग गए हैं। जाति कुल, या धर्म के विचारों को दूर रखकर इसका सेवन करते हैं। दूसरा प्रमाद, विषय है इसका वर्णन कर चुके हैं। तीसरा प्रमाद, विकथा है, अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों की कथा ही विकथा है जिसमें राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा व भोजन संबंधी कथा मुख्य हैं। राजकथा व देशकथा की भूख तो प्राय समाचार पत्रों से प्रज्वलित होती है। स्त्रीकथा की भूख सिनेमा नाटक,

उपन्यास, एवं शृंगाररस के गानों से उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। भोजन सबधी कथा की भूख आलीशान होटल, रिफ्रेशमेंट रूम या टी स्टॉलो के मधुरतम खाद्य व पेयो से अतृप्त रहकर नित्य नई प्रगति करती है। कषाय प्रमाद से ज्ञान तंतुओं पर पर्दा छा जाता है और आत्मा उत्तरोत्तर पतित होता जाता है। प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में फरमाया है कि—

दुमपत्तए पण्डुयए जहानिवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय गोयम मा पमायए।

अर्थात्—समय जाने पर पीला पड़ा हुवा वृक्ष का पत्ता (अचानक) गिर जाता है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी (अचानक) गिर जाता है, अत हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। [१०–१]

पाचवा प्रमाद निद्रा है इसको जितना बढ़ाया जाय बढ़ती है, घटाया जाय घटती है अत बुद्धिमान पुरुष अल्पनिद्रा लेकर बन जहा तक आत्म ध्यान में प्रवृत्त रहे। इस प्रकार से विषय प्रमाद का त्याग कर स्वदशा को प्राप्त करना चाहिए।

इति विषयप्रमादनाम षष्ठाधिकार

तरह से विषय सेवन करते हुए स्पर्शन से क्षणिक आनंद आता है लेकिन परिणामतः नरनारी वीर्य रज हीन हो जाते हैं व अशक्ति द्वारा काल के मुह में जल्दी पहुच जाते हैं।

राजा भर्तृहरि के कथनानुसार विचारा जाय तो मालूम हो जायगा कि सुख किसमें है। वह कहते है कि --

शरीर में रोग उत्पन्न हुवा और उसकी दवा की इसमें सुख कौनसा ? प्यास लगने पर शीतल जल पीते है इसमें सुख कौनसा ? भूख लगने पर कुछ खाते हैं उसमें सुख कौनसा ? विकार उत्पन्न होता है और प्राणी भोग करते हैं इसमें सुख कौनसा ? ये तो सब शारीरिक व मानसिक व्याधियो का उपचार है, इसमें सुख कहा है ?

वास्तविक सुख तो आत्मा के आनंद में, शान्ति में, एकात मनन में है। इन्द्रिय जन्य सुख, यह नशे की हालत में माना हुवा सुख दुख है।

पाच प्रकार के प्रमादो में से पहला, मद्य है, उसका प्रचार बढता जा रहा है। नए नए तरीको से बनाए गए मादक पेय के शौकीन लोग इसे फैशन मानने लग गए हैं। जाति कुल, या धर्म के विचारो को दूर रखकर इसका सेवन करते हैं। दूसरा प्रमाद, विषय है इसका वर्णन कर चुके हैं। तीसरा प्रमाद, विकथा है, अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त पदार्थों की कथा ही विकथा है जिसमें राजकथा, देशकथा, स्त्रीकथा व भोजन संबधी कथा मुख्य है। राजकथा व देशकथा की भूख तो प्राय समाचार पत्रों से प्रज्वलित होती हैं। स्त्रीकथा की भूख सिनेमा नाटक,

उपन्यास, एव शृगाररस के गाना स उत्तरोत्तर बढती जाती है। भाजन सवधी कथा की भूख आलीशान होटल, रिफ्रेशमेंट रूम या टी स्टाला के मधुरतम खाद्यो व पेया से अतप्त रहकर नित्य नई प्रगति करती है। कषाय प्रमाद स ज्ञान ततुओ पर पर्दा छा जाता है और आत्मा उत्तरात्तर पतित होना जाता है। प्रभु महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में फरमाया है कि—

दुमपत्तए पण्डुयए जहानिवडइ राइगणाण अच्चए।
एव मणुयाण जीविय गोयम मा पमायए।

अर्थात्—समय जाने पर पीला पडा हुवा वृक्ष का पत्ता (अचानक) गिर जाता है, वस ही मनुष्य का जीवन भी (अचानक) गिर जाता है, अत हे गौतम! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। [१०–१]

पाचवा प्रमाद निद्रा है इसको जितना बढाया जाय बढती है, घटाया जाय घटती है अत बुद्धिमान पुरुष अल्पनिद्रा लेकर बन जहा तक आत्म ध्यान में प्रवृत्त रहे। इस प्रकार से विषय प्रमाद का त्याग कर स्वदशा को प्राप्त करना चाहिए।

इति विषयप्रमादनाम षष्ठाधिकार

अथ सप्तम: कषाय त्यागाधिकारः

समता प्राप्ति म रुकावट डालने वाले साधना में प्रमुख ममत्व, विषय और कषाय ह। विषय का अधापन हमन पढ लिया, अब कषाय से होने वाले अहिता का वणन इस अधिकार में पढ़ें।

कषाय में क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारा का समावेश होता है। इनमें से प्रत्येक के चार चार भद ह।

उत्कृष्ट (अधिक से अधिक) १५ दिन रहता है—वह सज्वलन, उत्कृष्ट चार मास तक रहता है—वह प्रत्याख्यानी, उत्कृष्ट एक वष तक रहता है वह अप्रत्याख्यानी और जीवन पर्यंत रहता है वह अनतानुबधी है। कषाय को उत्पन्न करने वाले हास्य, रति, अरति, शोक, भय, दुर्गंछा और पुरुषवेद, स्त्रीवेद, नपुसकवेद यह नो नो कषाय के नाम से प्रसिद्ध ह।

कषाय का अर्थ विद्वान लोग इस प्रकार से करते ह —

कष = ससार } ससार में भटकना जिसके द्वारा
आय = लाभ } हाना ह वह कषाय है।

क्रोध का परिणाम उसके निग्रह की आवश्यकता

रे जीव ! सेहिय सहिष्यसि च व्ययास्ता
स्त्व नारकादिषु पराभवमू कषाय ।
मुग्धोदित कुवचनादि भिरप्यत किं,
क्रोधाग्नि हसि निजपुण्यधन दुरापम ॥ १ ॥

अर्थ—हे जीव ! तू न कषायों के वशीभूत होकर नरकादि की अनन्त पीड़ाए सही हैं और भविष्य में भी सहेगा, अत मूर्खों द्वारा दी गई गालों या कुवचनों पर क्रोधित होकर महान कठिनता से प्राप्त होने वाले पुण्य धन का नाश क्यों करता है ?

वसततिलका

विवेचन—कषायों द्वारा चातनतुओं पर पर्दा छा जाता है और मनुष्य अपने स्वभाव को भूलकर क्रोधी मानी, मायावी या लोभी बन जाता है और न करने योग्य कामों को करता है अत यदि गाली सुनने का प्रसग आ जाता हो तो भर्तृहरि के कथनानुसार विचारें कि —

तुमको देनी हो उतनी गालिया खुशी से दो, कारण कि तुम गालियों वाले हो। हमारे पास गालिया हैं ही नहीं इसीलिए हम गालिया दे ही नहीं सकते हैं। दुनिया में जिसके पास जो वस्तु होती है, वही दूसरों को दे सकता है, देखो, खरगोश के सीग नहीं होते है अत वह किसी को दे नहीं सकता है।

क्रोध करने से दुर्गति होती है इसका ज्वलन्त प्रमाण चण्ड कौशिक सर्प के दृष्टान्त से लेना चाहिए। ममता से गज-

सुकुमाल ने मोक्ष प्राप्त किया तथा मताय मुनि न अपना कल्याण साध लिया।

क्रोध करने से स्वय का व अन्य को परिताप लगता है। पूरा वातावरण कटु हो जाता है, घर श्मशान बन जाना है, अपने कुटुम्बी शत्रुवत हो जाते है, कोई पास नही फडकता है, क्रोध वह अग्नि है जिसमें बाह्य इधन की अपेक्षा आतरिक इधन भस्म होता है, वह दूसरा की अपेक्षा खुद को अधिक जलाती है। क्रोध के कारण बना हुवा भोजन पडा रह जाता है त्योहार हत्यारा दिन हो जाता है और आए हुए महमान शत्रुदल का काम देते है। क्रोध वह अग्नि है जो कि दियासलाई की डब्बी में बद रहती है जिसे जरासी रगड से प्रज्वलित किया जा सकता है। प्राय घर के लागो के प्रति अधिक क्रोध रहता है। कभी २ पिता पुत्र, भाई भाई, पति पत्नी, सासु बहु, गुरु, शिष्य, स्वामी, सेवक ये बिना ही इधन के जलते रहते है। उपदेश के शीतल जल से इनकी ज्वालाए अधिक धधकती है। इसकी आग राख के ढेर के नीचे बढती है, ऊपर से दृष्टिगोचर नही होती, वह दिखावटी स्वभाव के कारण बाहर के लोगो के सम्मुख नही आती है। दूसरा के सम्पर्क में आते वक्त ये लोग ठण्डे हिम जसे बन जाते है, शात-मूर्ति तपस्वी सी दिखावटी बातें करते है परन्तु पारस्परिक अग्नि ज्वालामुखी पवत की तयारी करती रहती है। अत ऐसी दुदशा के समय शातरस का पान करना चाहिए। सच्छास्त्रो का अध्ययन कर, उनका मनन कर, उन्हें जीवन में

उतारना चाहिए। क्रोध के कारणों से दूर रहने के लिए सतत् जागृत रहना चाहिए। क्रोध के वशीभूत होकर परसु-रामजी ने अनेक बार पृथ्वी को न क्षत्री किया, जब कि इसे सुभूम राजा ने नि ब्राह्मी किया। क्रोध के द्वारा आत्मा अनंत काल तक नरकादि में भटकता है, एवं यहां जीवित रहते हुए भी अपने ही घर में जहरीले सर्प की तरह से उसका परिवार उससे डरता रहता है अतः क्रोध आदि न करना चाहिए।

मान अहंकार त्याग

पराभिभूतो यदि मानमुक्ति, स्ततस्तपोऽखण्डमतः शिव वा।
मानादर्तिर्दुर्वचनादिभिश्चेत्तप क्षयात्तन्नरकादिदुःखम ॥ २ ॥
परादि चाप्रति विचार्य लाभालाभौ कृतिन्नाभवसभविपाम।
तपोऽथवा मानमवाभिभूता, विहास्ति नून हि गतिर्द्विधव ॥३॥

अर्थ—पराभव की स्थिति में यदि मान का त्याग होता है तो वह अखंड तप है, मोक्ष है। दुवचन से यदि मान उत्पन्न होता है तो तप का क्षय होता है व नरकादि का कष्ट होता है। इस भव में भी वैर विरोध होता है अतः हे पण्डित! हानि लाभ का विचार करके जब भी संसार में पराभव का समय उपस्थित हो तब तप अथवा मान दोनों में से एक का पक्ष कर। इस संसार में ये दो ही रास्ते हैं ॥ २ ॥ ३ ॥

उपजाति

विवेचन—जब कोई अपमान करता हो या कटु शब्द कहता हो उस वक्त आवेश में न आने वाले विरले ही होते हैं। उन शब्दों को सुनकर अपनी कसौटी करनी चाहिए कि

यदि यह ठीक कह रहा है तब तो मुझे अपनी कमजोरी दूर करनी चाहिए और यदि यह गलत कह रहा है तब तो मेरी परीक्षा है कि मैं सहनशील हूँ या नही ? यदि सहनशील नही हूँ तब तो अपमान के योग्य हू ही और यदि इन सब कटु वचनों और अपमानो को शान्ति से सुनने वाला सहनशील हू तब तो मैं उन्नति की एक सीढी और चढा कसौटी में ठीक उतरा।

अपने आपको वश मे न रखने वाले लोग अग्नि वृष्टि में तपाते हुए उन पशुओ की तरह होते हैं जो जाना कही चाहते हैं लेकिन ले जाए कही और जाते हैं। अत आत्मसयमी को मान का त्याग करना चाहिए एव अहकार का प्रतिकार करना चाहिए।

क्रोध का त्याग करने वाले योगी को मोक्ष प्राप्ति

श्रुत्वाक्रोशान् यो मुदा पूरित स्यात्,
लोष्टाद्यैर्यश्चाहतो रोमहर्षी ।
य प्राणान्तेऽप्यन्यदोष न पश्यत्येष
श्रेयो द्राग लभेतव योगी ।।४।।

अर्थ—जो आक्रोश (कटु वचन, अपमान) सुनकर आनद से भरपूर हो जाता है, जिसको लोह आदि से चोट पहुचाने पर भी रोम रोम में हर्ष होता है, जो प्राणात कष्ट सहता हुआ भी अन्य के दोष नही देखता है वही योगी है और शीघ्र मोक्षगामी है। शालिनि

विवेचन—सामान्य अज्ञान पुरुष में और महापुरुष में अंतर ही यही है कि पहला छोटे छोटे कारणों से क्रोधी होकर बदला लेने को तैयार हो जाता है। जब कि दूसरा शक्तिशाली होता हुआ भी बदला लेना तो दूर रहा वरन उसका उपकार करना चाहता है उस पर अमन बरसाता है, उसके कल्याण की कामना करता है। अतः जिसे जन्म मरण के चक्र में से निकलने की अभिलाषा है वह इस न्याय का मनन करे।

कषाय निग्रह

को गुणस्तव कदा च कषायैर्निर्ममे भजसि च नित्यमिमान् यत्।
किं न पश्यसि दोषममीषां, तापमत्र नरकं च परत्र ॥ ५ ॥

अर्थ—कषायों ने तुझ पर कौनसा गुण (उपकार) किया और कब किया? जिससे तू हमेशा उनका सेवन करता रहता है? इस भव में संताप और परभव में नरक देने वाले उनके दोषों को क्या तू नहीं देखता है? ॥ ५ ॥ स्वागता

विवेचन—कषाय से किसी प्राणी को लाभ हुवा हो यह कभी जाना नहीं गया। हानि तो प्रत्यक्ष ही है, क्रोध से अशांति, मान से अहंकार, माया से आडंबर, लोभ से परिताप होता है यह सभी के अनुभव की बात है।

कषाय करने और त्यागने के फल पर विचार

यत्कषायजनितं तव सौख्यं, यत्कषायपरिहानिभवं च।
तद्विशेषमथवैतदुदर्कं, संविभाव्य भज धीर विशिष्टम् ॥ ६ ॥

अर्थ—कषाय सेवन से जो सुख मिलता है और कषाय

त्याग से जो सुख मिलता है (उन दानो म से श्रेष्ठ कौन सा है, अथवा कषाय सवन का और उनके त्याग का परिणाम कसा आता है) उसका विचार करके इन दानो में से जो श्रेष्ठ हो उसको ह पण्डित तू स्वीकार कर।

विवेचन—जीवन के कई ऐसे दृश्य हमारे सामने हं जिनमें हमने क्रोध, मान, माया, लोभ, कपट, व ठगाई की और कुछ एस भी ह जिनमे हमने साधारण उपकार किया, किसी को सहायता दी, शात रहे, इमानदारी रखी। इन दोनो प्रकार के दृश्यो में से पिछले दृश्यो की स्मृति से आनद आता है व आत्मा उनका पुनरावतन करना चाहता है अत कषाय त्याग में जो आनद है वह कषाय करने में नही है, पहला अग्नि है तो दूसरा जल है पहला विष है तो दूसरा अमृत है।

कषाय त्याग मानतिग्रह, बाहुबलि

सुखेन साध्या तपसा प्रवृत्तिर्यथा तथा नव तु मानमुक्ति ।
आद्या न दत्तेऽपि शिव परा तु, निदर्शनादबाहुबले प्रदत्ते ।।७।।

अर्थ—जसे तपस्या में प्रवृत्ति करना सरल है, वसे मान का त्याग करना सरल नही है। केवल तपस्या की प्रवत्ति मोक्ष को नही द सकती है परन्तु मान का त्याग तो बाहुबलजी की तरह से मोक्ष का अवश्य दिलाता है।। ७ ।।

उपजाति

विवेचन—तपस्या का रग लगने पर तपस्या की जाती है, शुरू में कठिनता तो आती है लेकिन बाद में यह सरल हो जाती है। यह प्रवत्ति उत्तम है लेकिन फिर भी मान का त्याग न

ह्रान तन यह प्रवति मोक्षदायी नही हो सकती है। तपस्या के साथ ही साथ मान का त्याग हो तब ही लक्ष्य तक पहुंचा जा सकता है। तपस्या करते हुए क्रोध तथा मान का साम्राज्य सन्मुख उपस्थित होता है। आत्म प्रशंसा श्रवण की इच्छा सहज हो जाती है, एक तरह का मीठा नशा छा जाता है और शनै शनै मान वृद्धि होती जाती है यदि मान की कमान हाथ में न हो तो वह तपस्या केवल कष्ट क्रिया ही साबित होती है। ऋषभदेव भगवान के द्वितीय पुत्र बहुबलजी ने अपने भाई भरतजी को हराकर राज्य का त्याग तो किया लेकिन मान का त्याग न कर सके। अपने छोटे भाई जो पहले दीक्षित हो चुके थे उनको वंदना करना उन्हें अनुचित प्रतीत हुवा अत प्रभु के समीप न जाकर वह एकाकी जगल में ही तप करते रहे। निराहारी शीतोष्ण सहिष्णु मर्यादा मुख दशा में एक वर्ष तक खडे खडे तप करते रहे परन्तु फिर भी मान का त्याग न हुवा। प्रभु की आज्ञा से उनकी बहिनें आकर जब उन्हे जागृत करती है कि—

वीरा मारा गज थकी उतरो, गज चढ्यो मान न होय रे।

बस उनका मान नष्ट होता है। जो वस्तु एक वर्ष तक खडे रहकर तप करने से न मिली वह अनम्य वस्तु 'केवल ज्ञान" मान के नष्ट होते ही एक क्षण में प्राप्त हो गई। वास्तव में मान के त्याग में अमाप शक्ति है।

मान त्याग, अपमान सहन

सम्यग्विचार्येति विहाय मान, रक्षन् दुरापाणि तपांसि यस्मात्।
मुदा मनीषी सहते ऽभिभूती, शूर नो।

अर्थ—अच्छी तरह विचार करके, मान का त्याग करके, दुराराध्य तपों का रक्षण करके क्षमा करने में शूरवीर पंडित साधु, नीच पुरुषों द्वारा किए गए अपमानों को खुशी से सहन करता है ॥ ८ ॥ उपजाति

विवेचन—जैसे पोला ढोल छूते ही बज उठता है व छूनेवाले को प्रकट कर देता है, तथा कांसी का पात्र जरा सी ठपक से झनझना उठता है और अपनी हल्की जातीयता को प्रकट कर देता है, वैसे ही नीच पुरुष सत्पुरुषों के पद चिह्नों पर न चलकर तुच्छता करते हुए अपने अंदर के दोषों को प्रगट कर उन साधु पुरुषों को अनेक तरह से कष्ट देते हैं। इसके विपरीत उत्तम पुरुष तो इन सबको सहन करते हैं कई कष्टों से साधे गए तपों की रक्षा, रत्नों की तरह से करते है, मान का त्याग करते हैं तथा सरलता रखते हैं। अत मान का त्याग अच्छी तरह विचरना चाहिए ।

संक्षेप से क्रोध निग्रह

पराभिभूत्याल्पिकयापि कुप्यस्यधर्पोमां प्रतिकर्तुमिच्छन् ।
न वेत्सि तिर्यङ्नरकादिकेषु, तास्तैरनतास्त्वतुला भवित्री ॥९॥

अर्थ—जरा से अपमान से तू क्रोध करता है और उसका बदला चाहे जैसे पाप कृत्यों से लेना चाहता है, परन्तु नरक तिर्यंच आदि गतियों में अपार, अतुल्य, परवश पीडाएं होने वाली है यह तू जानता नहीं है और विचारता भी नहीं है ॥९॥

उपजाति

विवेचन—किसी ने जरा सा अपमान किया कि उसे घोर दण्ड देना या जान से मार डालना, यह कितना खराब है। यदि

हमारी सच्ची भूल किसी ने बताई हो तो उस भूल का सुधारना तो कहां रहा वरन उसका बदला लेने को हमारा मन छटपटाता है यह बुरा है। चाहे किसी भी तरह से उसका अपमान करना नेष्ट काय है और जब यह सिलसिला बढता जाता है तो अपमान के प्रति अपमान होता है तो इससे आघात प्रत्याघात भी होता जाता है। समरादित्य कवली ग्रथ में क्रोधादि कपाय का परिणाम स्पष्ट वणन किया है अत इनको जीतने वाला ही बुद्धिमान है। क्रोध दुजय है इसी को जीतना दुष्कर है।

षडरिपु पर क्रोध उपशम करने वाले के साथ मैत्री

धत्से कृतिन् ! यद्यपकारकेषु क्रोधं ततो धेह्यरिषटक एव।
अथोपकारिष्वपि तद्भवार्तिकृत्कर्महृन्मित्रबहिर्द्विषत्सु ॥१०॥

अर्थ—हे पण्डित ! यदि तू अपने अहित करने वालों पर क्रोध करना चाहता है तो षडरिपु पर क्रोध कर और यदि तू अपने हितैषी पर क्रोध करना चाहता हो तो ससार की समस्त व्याधियों के मूल जो कम हैं उनका छेदन वाले जो वास्तविक मित्र हैं और बाह्य दृष्टि से तुझे शत्रुवत दीखते हैं उन पर क्रोध कर ॥ १० ॥ उपजाति

विवेचन—मनुष्य अपने अपकारी पर क्रोध करता है, न कि उपकारी पर परन्तु उसे अपकारी और उपकारी की पहचान नहीं है। हानिकर्ता शत्रु कहलाता है और हितकर्ता मित्र कहलाता है। मानव की दृष्टि विपरीत हो रही है। वह कडवी दवा देने वाले या ओपरेशन करने वाले डाक्टर को शत्रु समझता है और चटपटे स्वाद व मीठी दवा देने वाले लोभी

डाक्टर को मित्र समझ रहा है जब कि वास्तव में पहला मित्र है और दूसरा शत्रु है। ठीक इसी तरह से आत्मा का घात करने वाले काम, क्रोध, लोभ मान, मद और हर्ष ये छ शत्रु हैं। अत यदि तू शत्रुओं पर क्रोध करना चाहता है तो इन छ पर क्रोध कर और जैसे तुझ कभी २ अपने माता, पिता, गुरु आदि हितैषी पर क्रोध आता है और तू अपने इन मित्रों पर क्रोध करना चाहता है तो एसे ही तेरे मित्र और हैं उन पर क्रोध कर। ये मित्र वे हैं जो कर्मों का नाश करते हुए उपसर्ग करते हैं सारांश यह है कि कोई बुद्धिमान अपने हितैषी पर क्रोध नहीं करता है केवल शत्रुओं पर ही करता है।

माया निग्रह पर उपदेश

अधीत्यनुष्ठानतप शमाद्यान्, धर्मान् विचित्रान विदधत्समायान्।
न लप्स्यसे तत्फलमात्मदेहक्लेशाधिक तांश्च भवांतरेषु ॥११॥

अर्थ—शास्त्राभ्यास, धर्मानुष्ठान, तपस्या, शम आदि अनेक धर्म के कार्य यदि तू माया सहित करता है उनसे तुझे शरीर कष्ट के सिवाय परभव में कुछ भी फल नहीं मिलने वाला है और वे धर्म भी परभव में नहीं मिलने वाले हैं ॥११॥

उपजाति

विवेचन—बाह्यतप करना आसान है, साधु का वेष धारण करना आसान है झोली या उपधान करना भी किसी २ के लिए आसान हो सकता है, पर तु मायारहित होना नितात कठिन है। यश-कीर्ति की लोलुपता से मायासहित धर्मोपदेश

ग्ने वाला की कमी नहीं है। नामवरी के लिए मनोनीत शास्त्रों की रचना करना या पुराने शास्त्रों को अपनी मान्यता के अनुसार समाज के सम्मुख रखने का मार्ग तो खुल गया है यह सब माया के ही जाल हैं। यदि माया नहीं छूटी तो सब क्रियाएं-जप-तप, साधन निरर्थक हैं। मुंह से कुछ कहना, मन में कर्म ही घात सोचने रहना या मुखाकृति को सौम्य रखना वचन मीठे कहना परन्तु समय आने पर घात करना यह सब माया के हथकण्डे हैं। उदयरत्नजी ने कहा है कि —

मुख मीठ झूठो मन जी रे कूड कपट नो र कोट
जीभे तो जीजी करे जी रे, चित्तमां ताके चोट,
रे प्राणी म करीस माया लगार।।

माया एसी मधुरी है कि, स्वयं को मोहित कर दूसरों को मोहित कराती है, आत्मश्लाघा, परनिंदा स्वगुणप्रकाशन परगुणप्रच्छादन ये इसके मुख्य कार्य हैं। मायावी मनुष्य धीरे धीरे एसा पतित होता है कि उसकी उन्नति का अवसर ही नहीं आता है। कम विद्वान लेकिन निष्कपट मनुष्य चाहे संसार की आंखों में साधारण ही गिना जाता हो या प्रशंसा का पात्र न गिना जाकर निन्दा का पात्र गिना जाता हो तो भी वह उस धुरंधर विद्वान से श्रेष्ठ है जो माया प्रपंच द्वारा या बाहरी ढोंग द्वारा लोगों को रंजित कर उन्हें उन्मार्ग को ले जा रहा है। अतः माया रहित होकर हमें सब सांसारिक व धार्मिक कार्य करने चाहिए।

अय सब बातो में तो जिनेश्वर ने सभी दृष्टि स विचारना (स्याद्वाद) फरमाया है लेकिन माया न करने के लिए तो एकात निश्चय फरमाया है।

लोभ निग्रह का उपदेश

सुखाय धत्से यदि लोभमात्मनो, ज्ञानादिरत्नत्रितये विधेहि तत्।
दुःखाय चेदत्र परत्र वा कृतिन्, परिग्रहे तदबहिरांतरेऽपि च ॥१२॥

अर्थ—हे पडित ! यदि तू स्वय के लिए लोभ करना चाहता है तो ज्ञान, दर्शन चरित्र में लोभ कर और यदि इस भव और परभव में दुःख की प्राप्ति के लिए लोभ करना चाहता है तो आतरिक और बाह्य परिग्रह म लोभ कर ॥१२॥

विवेचन—स्वय के लिए लोभ से तात्पय है आत्मकल्याण से, जो मनुष्य आत्मकल्याण करना चाहता है उसे सम्यक् दर्शन, ज्ञान चरित्र की आराधना करनी चाहिए और सब प्रकार के आतर परिग्रह जसे कि (मिथ्यात्व, तीन वेद, हास्य आदि छ, चार कषाय) और बाह्य परिग्रह (धन, धान्य, क्षेत्र, वस्तु, चादी, सोना, धातु, नौकर और पशु) का त्याग करना चाहिए तभी उसका कल्याण हो सकता है। ये दोनो प्रकार के परिग्रह आत्मा को बाधे रखते ह इस मुक्त नही होने देत। अति लाभ से धवल सेठने कई बार श्रीपाल की हानि की अत म स्वय ही नष्ट हुआ। लोभाध पुरुष विवेक दृष्टि खो बैठता है, आवश्यकता से अधिक धन सग्रह करने का प्रयत्न करता है, दुश्चरित्र कामाध, अभिमानी पुरुष की सेवा

करता है अपमान सहना है अत लोभ का त्याग कर आत्म श्रेय करना चाहिए।

मद मत्सर त्याग का उपदेश

करोषि यत्प्रेत्यहिताय किंचित, कदाचिदल्प सुकृत कथचित ।
मा जीहरस्त मदमत्सराद्य विना च त मा नरकातिथिभू ॥१३॥

अर्थ—यदि तेरे द्वारा (इस भव म) कभी आते भव के लिए अल्पमात्र भी सुकृत्य हो जाय तो उसे मद मत्सर करके वापस हार मत जाना और सुकृत्य के बिना तू नरक का महमान मत बन जाना ॥ १३ ॥ उपजाति

विवचन—इस मानवदह व साथ आत्मा की अज्ञानता से तरह शत्रु—आलस्य मोह अवज्ञा, स्दभ, (अभिमान) क्रोध, प्रमाद, कृपणता, भय शोक अज्ञान जहुवत्तव्यता (सासारिक काम), कुतूहल, रमणता लग हुए ह। इनको जीतन के पश्चात यदि कभी थोडासा भी सत्काय किया जाता है तो उसे वापस मद और मत्सररूपी चोर चुरा लेते ह आर आत्मा बिना पुण्य के पहिले जमा रह जाता है और मरकर नरक का महमान बन जाना है। अत वसी महमानदारी से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। हम सुकृत्य या पुण्य भी दिखाने के लिए ही करत ह अतर आत्मा म उसका असर कुछ भी नहा होता है अत उस प्रकार के सुकृत्य फलदायी नही होते है। मूल में मनुष्य देह दुलभ है। पश्चात धमश्रवण, धम में रुचि और धम माग पर चलना उत्तरोत्तर दुलभ ह। जिनको ये सुलभ ह वसे हम सभी इन दुलभो को पाकर खो रहे हैं।

ईर्षा नहीं करनी चाहिए

पुरापि पाप पतितोऽसि ससृतौ
दधासि किं रे गुणिमत्सर पुन ।
न वेत्सि किं घोरजले निपात्यसे,
नियन्त्र्यसे शृ खलया च सवत ॥ १४ ॥

अर्थ—अरे ! पहले ही तू पाप से ससार म पडा है, ता फिर गुणवान पर पुन ईर्षा क्या करता है ? इस पाप से तू गहरे पानी में उतरता है और तेरे शरीर में चारो तरफ साकले बाधी जा रही ह, क्या तुझ इसका भान नही है ? ॥१४॥

वशस्थविल

विवेचन—ससार वक्ष का मूल ईर्षा या कषाय है। इस मूल को काटने में समथ गुणवान लोग ही होते ह। वस गुणवानो पर ईर्षा करने का परिणाम है ससार वृक्ष का हरा रखना। गुणवान में प्राय ज्ञान, शक्ति, उदारता, सतोष, सरलता, विद्वत्ता, ब्रह्मचर्य, दया, नम्रता आदि गुण पाए जाते ह अत वह विवेकशील कहलाता है। जिसमें ये गुण नही होते वह प्राय उस गुणवान से ईर्षा करके अपने चारो तरफ पाप के जाल बिछाता है और कमरूपी जजीरो म जकडा जाता है। अत हे भाई ईर्षा का त्याग कर।

कषाय से सुकृत्य का नाश

कष्टेन धर्मो लवशो मिलत्ययं, क्षय कषायैर्युगपत्प्रयाति च ।
अतिप्रयत्नार्जितमर्जुन तत , किमज्ञ हो हारयसे न भस्वता ॥१५॥

अर्थ—महान कष्ट से जरा जरा धम प्राप्त होता है, वह

कषाय करने स एक ही साथ नष्ट हो जाता है। हे मूख ! अत्यन्त प्रयन्त करके प्राप्त किय हुए स्वण का एक फूक से क्यो उडा दता है ॥ १५ ॥ वनस्थ

विवेचन—चौरासी लाख जीवायोनि में भटकते हुए कभी किसी भव में इस आत्मा का थाडा थोडा धम प्राप्त होता है अथवा इस मानव भव में की जान वानी धम क्रियाओ या तपस्याओ से थाडा थोडा धर्म प्राप्त होना है लेकिन कषाय करने से वह एक ही साथ नष्ट हो जाता है। जसे नियारिया या स्वण अन्वेषक स्वण के रजकणों का महान प्रयत्न से एकत्रित करता है लेकिन कोई अनानी भूल से उन कणा को एक ही फूक से नष्ट कर देता है वस तू भी श्रुत चारित्र लक्षण धमकण को कषाय रूप फूक से उडामत देना, अर्थात कषाय मत करना।

कषाय से होती हुई हानि की परम्परा

शत्रूभवन्ति सुहृद, कलुषीभवन्ति,
धर्मा, यशांसि निचितायशसीभवन्ति।
स्निह्यति नव पितरोऽपि च बांधवाश्च,
लोकद्वयेऽपि विपदो भविनां कषाय ॥ १६ ॥

अथ—कषाय करन से मित्र, शत्रु बन जाता है, धर्म मलीन हो जाता है, यश अपयश मे बदल जाता है माता पिता, भाई या स्नहीवग भी प्रेम नही रखते ह तथा इस लोक और परलोक में प्राणी को विपत्तिया आती ह ॥ १६ ॥

कुतूहलवश विषयो में आनद मानेगा तो हे चेतन ! तेरा चेतनपन व्यथ है ॥ १६ ॥ वशस्थ

विवेचन—शास्त्र पढने या सुनने के पश्चात भी यदि आत्मा विषयो से दूर रहने का प्रय न नही करता है तब तो चेतनपन मे (ज्ञानमय आत्मत्व से) लाभ ही क्या हुवा ? नरक तियच के कष्ट अत्यत असहनीय होते हं एव धम की प्राप्ति अत्यत कठिनता से होती है यह जानते हुए भी जो जागृत नही होता है या धम की ओर नही झुकता है वह नितात मूख है ।

मानव भव की दुलभता के लिए टीकाकार ने दस श्लोको द्वारा दस दृष्टात बताए हं जो इस ग्रथ के अन्त में दिये हं ।

कषाय के सहचर प्रमाद का त्याग

चौरैस्तथा कमकरैर्गृहीते, दुष्टै स्वमात्रेऽप्युपतप्यसे त्वम् ।
पुष्टै प्रमादस्तनुभिश्च पुण्यधन न किं वत्स्यपि लुट्यमानम् ॥२०॥

अर्थ—चोर अथवा नौकर यदि तेरा जरा सा धन चुरा लेते हं तब तो तू गरम हो जाता है (क्रोध करता है), परन्तु गहरे या हलके प्रमाद तेरा सारा पुण्यधन लूटते हं यह तुझे मालूम ही नही है ? उपजाति

विवेचन—सोना चादी या साधारण वस्तु की जरा सी चोरी हो जाती है तब तू हर प्रकार से प्रयत्न करके चोर को पकडाता है, सजा दिलाता है और धन को फिर से प्राप्त

करने के उपाय करता है। परन्तु मद्य, विषय कषाय, विकथा और निद्रा रूपी प्रमाद चोर तेरा आत्मधन या पुण्यधन लूट रहे हैं जिससे तू बेखबर है। इन पांचों प्रमादों के कारण आत्मा अपना किया हुवा सत्कर्म हार जाता है तथा कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता हुवा भी पंगु रहता है। अतः प्रमाद का त्याग कर।

जरा नीचे देखकर चल—उद्धतपन का त्याग

मर्त्यो कोऽपि न रक्षितो न जगतो दारिद्र्यमुत्त्रासित,
रोगस्तेननृपादिजा न च भियो निर्णाशिता षोडश।
विध्वस्ता नरका न नापि सुखिता धर्मैस्त्रिलोकी सदा,
तत्को नाम गुणो मदश्च विभुता का ते स्तुतीच्छा च का ॥२१॥

अर्थ—हे भाई! तूने अभी तक किसी भी प्राणी को मरने से नहीं बचाया है, न जगत की दरिद्रता दूर की है तूने रोग, चोर, राजा आदि से होने वाले सोलह बड़े भयों का भी नाश नहीं किया है, न तूने नरक गति का नाश किया है, और धर्म द्वारा तीनों लोकों को सुखी भी नहीं किया है तो फिर तेरे में ऐसे कौन से गुण हैं जिनमें तू मद करता है? और फिर ऐसे कोई भी काम किये बिना तू स्तुति की इच्छा भी कैसे रखता है? (अरे कहां तो तेरे गुण! और कितना तेरा मद! कितनी प्रबल तेरी स्तुति की इच्छा) ॥२१॥

विवेचन—अरे भाई तू कौन से अपने बड़े कार्य से प्रशंसा की इच्छा रखता है। उपकार बहुत ही थोड़ा करके भी तू स्तुति की इच्छा रखता है यह अयोग्य है। जगत में ऐसे कई महान उपकारी हो गए हैं जिनका नाम तक हमारे सुनने

कुतूहलवश विपयो में आनद मानेगा तो हे चेतन ! तेरा चेतनपन व्यथ है ॥ १६ ॥ वगस्थ

विवेचन—शास्त्र पढने या सुनने के पश्चात भी यदि आत्मा विपयो से दूर रहने का प्रयत्न नही करता है तब तो चेतनपन से (ज्ञानमय आत्मतत्त्व स) लाभ ही क्या हुआ ? नरक तिर्यंच के कष्ट अत्यत असहनीय होते हं एव धम की प्राप्ति अत्यत कठिनता से होती है यह जानते हुए भी जो जागत नही होता है या धम की ओर नही झुकता है वह नितात मूख है।

मानव भव की दुलभता के लिए टीकाकार ने दस श्लोको द्वारा दस दृष्टात वताए हं जो इस ग्रथ के अत में दिये हं।

कषाय के सहचर प्रमाद का त्याग

चोरैस्तथा कमकरैर्गृहीते, दुष्टै स्वमात्रेऽप्युपतप्यसे त्वम् ।
पुष्टै प्रमादस्तनुभिश्च पुण्यधन न किं वत्स्यपि लुट्यमानम ॥२०॥

अर्थ—चोर अथवा नौकर यदि तेरा जरा सा धन चुरा लेते ह तब तो तू गरम हो जाता है (क्रोध करता है), परन्तु गहरे या हलवे प्रमाद तेरा सारा पुण्यधन लूटते ह यह तुझे मालूम ही नही है ? उपजाति

विवेचन—सोना चादी या साधारण वस्तु की जरा सी चोरी हो जाती है तब तू हर प्रकार से प्रयत्न करके चोर को पकडाता है, सजा दिलाता है और धन को फिर से प्राप्त

करने के उपाय करना है। परन्तु मद्य, विषय कषाय, विकथा और निद्रा रूपी प्रमाद चार तेरा धर्मधन या पुण्यधन लूट रहे हैं जिससे तू बेखबर है। इन पांचो प्रमादों के कारण आत्मा अपना किया हुवा सत्कर्म हार जाता है तथा कर्मों के क्षय करने में समर्थ होता हुवा भी पंगु रहता है। अतः प्रमाद का त्याग कर।

जरा नीचे देखकर चल—उद्धतपन का त्याग

मृत्यो कोऽपि न रक्षितो न जगतो दारिद्रयमुत्त्रासितं,
रोगस्तेननृपादिजा न च भियो निर्णाशिता षोडश।
विध्वस्ता नरका न नापि सुखिता धर्मैस्त्रिलोकी सदा,
तत्को नाम गुणो मदश्च विभुता का ते स्तुतीच्छा च का ॥२१॥

अर्थ—हे भाई! तूने अभी तक किसी भी प्राणी को मरने से नहीं बचाया है, न जगत की दरिद्रता दूर की है तूने रोग, चोर, राजा आदि से होने वाले सोलह बड़े भयों का भी नाश नहीं किया है, न तूने नरक गति का नाश किया है, और धर्म द्वारा तीनों लोकों को सुखी भी नहीं किया है तो फिर तेरे में ऐसे कौन से गुण हैं जिनसे तू मद करता है? और फिर ऐसे कोई भी काम किये बिना तू स्तुति की इच्छा भी कैसे रखता है? (अरे कहां तो तेरे गुण! और कितना तेरा मद! कितनी प्रबल तेरी स्तुति की इच्छा) ॥२१॥

विवेचन—अरे भाई तू कौन से अपने बड़े कार्य से प्रशंसा की इच्छा रखता है। उपकार बहुत ही थोड़ा करके भी तू स्तुति की इच्छा रखता है यह अयोग्य है। जगत में ऐसे कई महान उपकारी हो गए हैं जिनका नाम तक हमारे सुनने में

नहीं आया है फिर भी उनके उपकार का जगत ऋणि है। काल की चक्की में चाहे उनका नाम पिस गया हो लेकिन काय तो अमर ही रहेगा अत स्वप्रशसा की झूठी तृष्णा को नष्ट करने से ही तेरा आत्मा वास्तविक दशा को प्राप्त कर सकेगा परन्तु मद रहित हुए बिना वह दशा अशक्य है। अत मद का त्याग कर।

साराशत इस अधिकार में कषाय का त्याग अत्यन्त आवश्यक बताया है, बिना कषाय त्याग के आत्मा को स्व का भान नहीं हो सकता है अत कषाय को त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध के लिए विद्वानों ने कहा है कि —

सताप तनुते भिनत्ति विनय सौहादमुत्सादय—
त्युद्वेग जनयत्यवद्यवचन सूते विधत्ते कलिम्।
कीर्ति कृन्तति दुर्मति वितरति व्याहृति पुण्योदय,
दत्ते य कुगति स हातु मुचितो रोष सदोष सताम्॥

अर्थात्—क्रोध सताप करता है विनयधर्म का नाश करता है, मित्रता का अत लाता है उद्वेग पैदा करता है, कुत्सित, पापाकारी वचन बोलता है क्लेश कराता है कीर्ति का नाश करता है दुर्गति को उत्पन्न करता है, पुण्योदय का हनन करता है और कुमति को देता है। ऐसे ऐसे अनेक दोष क्रोध से उत्पन्न होते है, बुद्धिमान लोग अनुभव द्वारा समझ सकते है,। अत क्रोध का आवेश शान्त करना चाहिए व उसका सर्वथा त्याग करना चाहिए। मान मीठा विष है जो मधुरता से आत्मा का नाश करता है अत इसका त्याग करने के लिए इस श्लोक को विचारना चाहिए —

बलिभ्यो बलिन सति, वादिभ्य सति वाग्नि ।
धनिभ्यो धनिन सति, तस्माद्दर्पं त्यजद् बुध ॥

अर्थात्—बलवान् से भी अधिक बलवान, वादी से भी अधिक वादी, धनवान से भी अधिक धनवान दुनिया में हैं अत चतुर पुरुष को अभिमान का त्याग करना चाहिए ।

लोभ को शास्त्रकार आकाश की उपमा देते हैं । जैसे आकाश अनन्त है वैसे ही लोभ भी अनन्त है । लोभी मनुष्य की दुर्दशा निश्चित है । मम्मण सेठ तथा धवल सेठ के दृष्टांत ज्वलन्त प्रमाण हैं । माया को नागिनी की उपमा दी है, इसके पाश बड़े तीव्र होते हैं, मल्लिनाथजी को स्त्री वेद इसी कारण से भुगतना पड़ा था । अत क्रोध, मान, माया और लोभरूप कषाय का अवश्य ही नष्ट करना चाहिए । यह मनन से ही सम्भव है ।

इति कषाय निग्रह नाम सप्तमाधिकार

अथाष्टम: शास्त्र

गुणाधिकारः

इसके पूर्व के सात अधिकारो में ममत्वमोचन और कषायत्याग तथा प्रमाद त्याग का उपदेश शास्त्रकार ने दिया है परन्तु इनका असर शास्त्र अभ्यास बिना टिक नही सकता है। अत शास्त्र अभ्यास कैसा होना चाहिए और उसके क्या क्या लाभ हैं वह इस अधिकार में बताते हैं।

केवल ऊपरी शास्त्र अभ्यास

शिलातलाभे हृदि ते वहति, विशति सिद्धान्तरसा न चान्त ।
यदत्र नो जीवदयाद्रता ते, न भावनांकुरततिश्च लभ्या ॥ १ ॥

अर्थ—सिद्धान्तरूपी जल तेरे पत्थर जैसे हृदय पर होकर बह जाता है, परन्तु अन्दर प्रवेश नही होता है, कारण कि उसमें जीव दयारूपी आर्द्रता नही है और भावनारूपी अंकुरो की श्रेणी भी नही है। उपेंद्रवज्रा

विवेचन—पत्थर की शिला पर पड़ा हुवा पानी निरर्थक जाता है कारण कि पत्थर में ग्रहण शक्ति नही है, गीलापन भी नही है अत अंकुरित करने की शक्ति भी नही है। इसी प्रकार मे जो विद्वान तो है लेकिन जिसका हृदय उस विद्या को ग्रहण किए हुए नही है उस पर उन शास्त्रो का कोई असर होने

वाला नहीं है। उन शास्त्रो से या उस विद्या से वह भाषण, लेखन या वादविवाद द्वारा जनरजन, द्रव्योपार्जन या यश लाभ कर सकता है परन्तु स्वात्मा का कुछ भी हित नही कर सकता है। अत ऊपर ऊपर के अभ्यास की अपेक्षा उनका अनरतम से अभ्यास कर आत्म कल्याण करना चाहिए। ऊपर ऊपर के अभ्यास को शास्त्रकार विषय प्रतिभास ज्ञान कहते है जो मति अज्ञान के क्षयोपशम से होता है परन्तु साध्य तो तत्त्वसवेदन ज्ञान है जिसे साधने से अपनी करणी का आप निरीक्षण करने की भावना उत्पन्न होती है एव अपनी दिनचर्या का स्वय निरीक्षण करने की उत्कठा पैदा होती है। बीज तभी उगता है जब कि वह उत्तम क्षेत्र में पडा हो, जल का सयोग हो और सुरक्षित अवस्था में हो। धर्म रूप, बीज भी मनरूपी क्षेत्र में बोये जाने पर उसी दशा में उग सकता है जब कि मन का निग्रह हो जीव दयारूपी गीलापन हो। इतना होने पर भावनारूपी अकुर अवश्य विकसित होंगे। अत शास्त्रो का केवल ऊपरी अभ्यास कुछ भी लाभदायी नहीं है।

शास्त्र पढ़े हुए प्रमादी को उपदेश

यस्यागमांभोदरसैर्न धौत प्रमादपक स कथ शिवेच्छु ।
रसायनैयस्य गदा क्षता नो, सुदुर्लभ जीवितमस्य नूनम् ॥२॥

अर्थ—जिस प्राणी का प्रमादरूपी कीचड सिद्धातरूपी वर्षा के जल के प्रवाह से भी नही धोया जाता है वह किस प्रकार से मुमुक्षु हो सकता है? वास्तव में, रसायन से भी यदि किसी

प्राणी की व्याधिया नष्ट नही होती है तो फिर उसका जीवित रहना दुलभ है वह अवश्य ही मरने वाला है ऐसा जानना चाहिए। उपजाति

विवेचन--व्यवहारिक दृष्टि से जैसे आठ मास का कीचड श्रावण भादव में हुई मूसलाधार बारिश के प्रवाह से वह जाता है वसे ही आत्मा में आया हुवा प्रमादरूपी मैल भी शास्त्राभ्यास से या शास्त्र सिद्धान्त के सतत् श्रवण से वह जाता है, यदि इतना होने पर भी आत्मा का मल नही धुलता है तो जानना चाहिए कि इस प्राणी का आत्मरोग असाध्य है, एव यह दूर भव्य है या मुमुक्षु नही है। शारीरिक व्याधियो के लिए ताम्रभस्म, लोहभस्म या पारा भस्म आदि देने पर भी रोग शात न होता हो तो समझना चाहिए कि यह रोगी बच नही सकता है वसे ही सिद्धान्तरस का पान कराने पर भी जिस आत्मा में जागृति नही आती है या अपने आपको पहचान कर प्रमाद रूपी कीचड को धोने की इच्छा पैदा नही होती है वह मुमुक्षु कैसे हो सकता है ? यदि मोक्ष की इच्छा जागृति में हो तो उसके लिए प्रयत्न अवश्य ही होना है प्रमाद को दूर करने का अभ्यास किया जाता है। प्रमाद आठ हैं १ संशय, २ विपयय, ३ राग, ४ द्वेष, ५ मतिभ्रश, ६ मन वचन काया का दुःप्रणिधान, ७ धर्म का अनादर, ८ अज्ञान। इन आठ के अतिरिक्त पाच प्रकार से भी प्रमाद गिना जाता है मद्य, विषय, कषाय, विकथा व निद्रा।

सारांश कि शास्त्र का अभ्यास कर प्रमाद का त्याग करके उत्तम साध्य जो मोक्ष है उसे साधना चाहिए। शास्त्र का अभ्यास करके यदि स्वात्म का कल्याण नहीं किया, मात्र दूसरों को ही उपदेश देते रहे तो इसमें आत्मकल्याण कुछ भी नहीं है। शास्त्र का मनन कर प्रमाद त्याग करने में ही पुरुषार्थ है यही आलस्य का त्याग है। मोक्ष मार्ग के अतिरिक्त अन्य को अच्छा समझना है वही प्रमाद है जो त्याज्य है।

स्वपूजा के लिए शास्त्राभ्यास करने वालों के प्रति

अधीतिनोऽर्चादिकृते जिनागमं, प्रमादिनो दुर्गतिपापतेर्मुधा।
ज्योतिर्विमूढस्य हि दीपपातिनो, गुणाय कस्मै शलभस्य चक्षुषी ३

अर्थ—दुर्गति में गिरने वाला प्रमादी प्राणी, स्वपूजा के लिए जैन शास्त्र का अभ्यास करता है वह निष्फल जाता है। दीपक की ज्योति से पागल (मूढ) बने हुए दीपक में गिरने वाले पतंगिए की आँखें उसको क्या लाभकारी होती है ॥३॥

वंशस्थ

विवेचन—आँखें देखने के लिए हैं एवं आपत्ति से बचने के लिए हैं परन्तु अज्ञान पतंगिया उन्हीं आँखों द्वारा दीपक में जान बूझकर गिरता है। दीपक की लौ के रूप को देख कर वह मुग्ध होता है, उसके पंख झुलस जाते हैं और वह अपना अज्ञानवश दीपक में गिराकर भस्मीभूत हो जाता है। वैसे ही शास्त्ररूप आँखों से देखने वाला पंडित भी स्वपूजा के प्रसंग पर देखता हुआ भी अंधा हो जाता है और जान बूझ कर अपनी पूजा कराता है और मानता है कि मैं उन्नत

बन रहा हू परतु वास्तव में वह उन्नत की अपेक्षा अवनत बन रहा है। उसका आध्यात्मिक पतन हो रहा है अत जो शास्त्र पढ़कर स्वप्रशसा या स्वपूजा चाहता है वह भूल करता है। ऐसे पडित का शास्त्राभ्यास उसके स्वय के लिये क्या लाभकारी हुवा। ऐसी आखें क्या काम की जो कि पतगिए की तरह से जान बूझकर प्राणात कराती हो? अत जो स्वपूजा के लिए जनशास्त्र पढने हा उन्हे सोचना चाहिए कि शास्त्ररूपी आखो से नरक निगोद को देखकर उनसे बचा जा सकता है, मोक्ष साधा जा सकता है।

परलोक हित की बुद्धि रहित अभ्यासियों को

मोदन्ते बहुतकतर्कणचणा केचिज्जयाद्वादिना,
काव्य केचन कल्पितार्थघटनस्तुष्टा कविख्यातित ।
ज्योतिर्नाटकनीतिलक्षणधनुर्वेदादिशास्त्र परे,
ब्रूम प्रेत्यहिते तु कर्मणि जडान कुक्षिभरीनेव तान् ॥४॥

अर्थ—कितने ही अभ्यासी नाना तरह के तर्क वितर्कों के विचारो में प्रसिद्ध होकर वादियो को जीतकर आनद मानते हं, कितने ही कल्पना शक्ति से काव्यो की रचना कर कवि तरीके प्रसिद्धि प्राप्त कर आनद मानते हं, कितने ही ज्योतिष-शास्त्र, नाट्यशास्त्र, नीतिशास्त्र, सामुद्रिकशास्त्र और धनुर्वेद आदि शास्त्रो के अभ्यास के द्वारा प्रसन्न होते हं, परन्तु यदि वे आते भव के लिए हितकारी कार्यों से उदासीन हो, लापरवाह हो तो हम उन्हें पेट भरने वाले ही कहते हैं ॥ ४ ॥

शार्दूल विक्रीडित

विवेचन—भौतिक वाद के विज्ञानशील युग में चाहे कितने ही विषयों के विशारद बनकर हमने डिगरियां हासिल कर ली हों या निष्णात पंडित एवं महामहोपाध्याय बन गए हों लेकिन परलोक के कल्याणकारी, आत्महितैषी कार्यों से अनभिज्ञ रहते हों तो हमारी वे सभी डिगरियां केवल अपना व कुटुम्ब का पेट भरने का साधन मात्र समझना चाहिए। यदि शास्त्र ज्ञान केवल लोक रंजन कुतूहल व धन प्राप्ति के लिए ही किया हो तो वह निरर्थक है, कमाने का, पेट भरने का तरीका मात्र है, आत्मा के लिए उसका कोई लाभ नहीं है, यह शास्त्रकार फरमाते हैं। शास्त्राभ्यास लोकरंजन की अपेक्षा आत्मरंजन के लिए होना चाहिए तभी वह सच्चा शास्त्राभ्यास कहलाएगा। यदि शास्त्र पढ़ हुए भी हों फिर भी जीवन के बरताव में उनका कुछ भी असर न हो तो समझना चाहिए कि शास्त्रजल ऊपर से बह गया है अभी तक अन्तर-तल सूखा ही है या कोरा का कोरा रह गया है। ऐसा शास्त्र ज्ञान सम्यक् ज्ञान नहीं है या सम्यक् दृष्टि प्राप्त भी नहीं है, ऐसे कोरे दिखावे रूप शास्त्र ज्ञान से आत्मा का कुछ भी कल्याण नहीं होता है। अतः सच्चा शास्त्र ज्ञान तो वही है जिससे स्व का व पर का कल्याण साधा जा सकता हो। ऐसा अभ्यास पेट भराने की अपेक्षा सदा काल अमृत रस का पान कराने वाला होता है अर्थात् मोक्ष दिलाने वाला होता है।

शास्त्र पढ़ कर करना क्या ?

किं मोदसे पंडितनाममात्रात्, शास्त्रेष्वधीती जनरंजकेषु।
तत्किंचनाधीष्व कुरुष्व चाशु न ते भवेद्येन भवाब्धिपातः ॥५॥

अर्थ—लोकरंजक शास्त्रों का पाठक होकर केवल नाम मात्र से पंडित कहलाने में तू क्या आनंदित होता है ? तू कुछ ऐसा अभ्यास करके, ऐसा अनुष्ठान कर कि जिससे तुझे फिर से इस संसार समुद्र में गिरना ही न पड़े ॥ ५ ॥

उपजाति

विवेचन—मधुर कंठ से कविता पाठ करने वाला कथा वार्ता की स्वरलहरी से सभा को आकर्षित करने वाला, गंभीर गिरा से संस्कृत के श्लोकों का उच्चारण करने वाला, बिना संकोच के अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषा बोलने वाला, घंटों तक धारा प्रवाह भाषण देने वाला, अनेक तर्क वितर्क से वाद विवाद करने वाला या मयूर की छटा से व्याख्यान देने वाला यदि अपने मन में प्रसन्न होता है कि मैंने कितनों का मन जीत लिया है, चारों तरफ से वाह वाह की पुकार उठती है, तालियों की गड़गड़ाहट सुनाई देती है, धन्यवाद प्रदान किया जाता है व पारितोषक के रूप में प्रमाण पत्र या मेडल दिया जाता है या सन्मान पत्र अर्पण किया जाता है परंतु यह सब उस स्वयं के आत्मा के लिये तो भार रूप ही है। अतः हे बुद्धि धन ! तू कुछ ऐसा अभ्यास कर कि जिससे संसार समुद्र तरा जाय। मात्र वाह वाही में फूल जाने से क्या लाभ होगा ? अमूल्य औषधि भी यदि सेवन करने की अपेक्षा शरीर पर लगाई जाय तो वह क्या हित कर सकती है ? भव रोग की दवा रूप, सत् शास्त्रों का पठन यदि आत्मकल्याण के लिए न करके लोकरंजन के लिए किया गया तो परिणाम वैसा ही

होगा जसा कि गाय का दूध निकाल कर कुत्ता को चटा दिया जाय। अत धमशास्त्रा स एमा सार निकाल कि पुनजन्म ही न हो। मात्र मस्तिष्क माजन करने वाले ज्ञान की अपेक्षा आत्म परिणतिमत ज्ञान को ग्रहण करना चाहिए।

शास्त्र अभ्यास करके सयम रखना

धिगागमर्माद्यसि रजयन जनान, नोद्यच्छसि प्रेत्यहिताय सयमे।
दधासि कुक्षिभरिमात्रता मुने, क्व ते क्व तत क्वच क्व ते भवातरे

अथ—हे मुनि! तू धम शास्त्रों द्वारा लोक रजन करके तो खुश होता है परन्तु अपने स्वय के आत्म हित के लिए प्रयत्न नहीं करता है, अत तुझ धिक्कार है! तू तो केवल पेट भरने की कला को ही धारण किए हुए है, परन्तु हे मुनि! परभव में तेरे वे आगम कहां जाएगे, तेरा वह लोक रजन कहा जाएगा और तेरा यह सयम कहा जाएगा? ॥६॥

उपजाति

विवेचन—ससार में एक से एक बढकर कवि कथाकार, कलाविद व शास्त्रज्ञ मौजूद है। एक की कीर्ति दूसरा छीन लेता है, पहले वाला निस्तेज होता है, दूसरा गौरव अनुभव करता है लेकिन फिर उस दूसरे से भी कोई तीसरा विशेष गुणवान प्रकट होता है और वह दूसरा निस्तेज हो जाता है यह क्रम तो चलता ही रहता है अत कीर्ति के लोभ से या मान की भूख से अधिक कष्ट परिसह सहन न करता हुवा तू लोक रजन छोडकर, आगमों द्वारा आत्महित कर ले।

केवल अभ्यास करने वाले और अनभ्यासी साधक में श्रेष्ठ कौन

धन्या केऽप्यनधीतिनोऽपि सदनुष्ठानेषु बद्धादरा,
दुःसाध्येषु परोपदेशलवतः श्रद्धानशुद्धाशया ।
केचित्त्वागमपाठिनोऽपि दधतस्तत्पुस्तकान् येऽलसा
अत्रामुत्रहितेषु कर्मसु कथं ते भाविनः प्रेत्यहा ॥ ७ ॥

अर्थ—कितने ही प्राणी जिन्होंने शास्त्र का अभ्यास नहीं किया है तो भी दूसरों के जरा से उपदेश से कठिन (दुष्कर), अनुष्ठानों का आदर करने वाले और श्रद्धापूर्वक शुद्ध आशय वाले हो जाते हैं उनको धन्य है। विपरीत इसके कितने तो आगम के अभ्यासी होते हुए व आगम पुस्तकों को साथ रखते हुए भी इस भव और परभव के हितकारी कार्यों में प्रमादी हो जाते हैं और परलोक को नष्ट कर डालते हैं उनका क्या होगा ? ॥ ७ ॥ शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जो विशेष शास्त्र जानता है वही कभी-कभी अधिक भूलता है। उसे ही (संशय) कुदावा आदि प्रमाद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे वह आत्मनाश के साथ ही साथ अनेक भोले जीवों को अपने साथ कुगति में घसीटता है। सरल परिणामी जीव यद्यपि अधिक पढ़े लिखे नहीं होते हैं तथापि किसी शास्त्रज्ञ पंडित या मुनिराज के वचनों पर श्रद्धा रखकर अत्यंत कठिन तप (उपधान, वर्षी तप, ओली, बीस स्थानक का तप आदि) करने को उद्यत हो जाते हैं व करते भी हैं। उन्हें धन्य है। विपरीत इसके कितने ही महामना, सू

अपने आपको बड़ा भारी विद्वान मानने वाले यश के मोह में पड़कर कीर्ति की भूख मिटाते हुए प्रमादाचरण करते हैं एवं स्वमति से भिन्न मार्ग निकालते हैं व भोले जीवों को अपने पीछे नरक आदि में ले जाते हैं। जनगणना या महारा लेकर, उन्हें साथ साथ लिये फिरने पर भी कई मुनि उत्सूत्रप्ररूपणा (विपरीत अर्थ) करके मतमतांतर डालते हैं। इन्द्रियों के सुख में पड़कर उन शास्त्रों से विपरीत चलते हुए भी यशस्वी बनने का ढोंग करते हैं और उनकी परभव में क्या गति होगी ? यहां ज्ञान को हीन न बता कर ज्ञान का सदुपयोग करने को शास्त्रकार ने कहा है।

मुग्ध बुद्धि विद्वान-पण्डित

धन्यः स मुग्धमतिरप्युदिताहदाज्ञा
रागेण यः सृजति पुण्यमदुर्विकल्पः ।
पाठेन किं व्यसनतोऽस्य तु दुर्विकल्प-
र्योदुस्थितोऽत्र सदनुष्ठितिषु प्रमादी ॥ ८ ॥

अर्थ—खराब संकल्प नहीं करने वाला और अरिहंत की आज्ञा के राग से शुभ क्रिया करने वाला प्राणी यदि पढ़ने में मुग्धबुद्धि (मंद बुद्धि) वाला भी है तो भी भाग्यशाली है। जो प्राणी खराब विचार करता रहता है और शुभ क्रिया में आलसी रहता है उस प्राणी को अभ्यास से और पढ़ने के व्यसन से क्या लाभ है ? ॥ ८ ॥ वसंततिलका

विवेचन—मनुष्य, बीमारी के समय ऐसे वैद्य या डाक्टर की दवा लेता है जिस पर उसे पूर्ण विश्वास होता है यह अनुभव

सिद्ध है। विश्वास करने के लिए यह दूसरा की सुनी हुई बातो का आलंबन लेता है, उसके लिए आवश्यक है कि आरोग्य शास्त्र का पढ़ या डाक्टरी विद्या पढ़ने के पश्चात ही अपनी बुद्धि से अपने रोग का निदान करे एवं प्रमुख डाक्टर द्वारा दी जाने वाली दवा का विश्वास करे। यह नितांत कठिन है कारण कि समय का अभाव है। अत उसे विश्वस्त लोगो द्वारा निर्दिष्ट वैद्य या डाक्टर का विश्वास करना ही पड़ेगा। उसी तरह भव रोग मे संतप्त प्राणी के लिए वीतराग अरिहंत देव ही वैद्य व उनकी वाणी ही रामबाण दवा है उसी पर श्रद्धा करना चाहिए। यद्यपि उसकी परीक्षा के लिए साधनो में से, वीतराग दशा, शुद्धमार्ग कथन, अपेक्षायुक्त शुद्ध स्याद्वाद नय-स्वरूप का विचार, स्याद्वाद विचार श्रेणी आदि हैं। विशेष क्षयोपशम हो और अनुकूलता हो तो विशेष परीक्षा भी की जा सकती है परन्तु मनुष्य को अपना उदर पोषण करते हुए शास्त्राभ्यास का फुरसत नही है अत जिन वाणी पर श्रद्धा करने वाला और कुविकल्प चिंतन नही करने वाला प्राणी यदि कम पढा लिखा भी हो तो भी आत्मकल्याण साधने से अधिक भाग्यवान है अपेक्षा उस प्राणी के जो कि सतत पठन पाठन में व्यस्त रहता है, दूसरा को उपदेश देता है लेकिन स्वयं कुविकल्प चिंता करता रहता है। बारीक बारीक तर्क निकालकर दूसरा को परास्त कर अपनी जिद् रखने के लिए उन्मार्ग ढूंढता है व शुभ क्रियाओ म आलसी रहता है अत कम पढ़ा लेकिन सरल मानव ज्यादा उत्तम है, अपेक्षा उसके जो अधिक पढ़ा हो लेकिन धर्म क्रिया में आलसी हो।

शास्त्राभ्यास उपसहार

अधीतिमात्रेण फलन्ति नागमा,
समीहितर्जीवसुखभवान्तरे ।
स्वनुष्ठित किंतु तदीरित खरो,
न यत्नमाप्य वहनश्रमात्सुखी ॥ ६ ॥

अर्थ—केवल अभ्यास से ही अन्य भव में मनोवाछित फल देने में आगम फलते नही हैं, परन्तु उनमें बताए हुए शुभ अनुष्ठान करने से ही आगम फलते हैं जिस प्रकार से मिश्री का भार उठाने के श्रम से ही गधा सुखी नहीं हो जाता है ॥६॥
वशस्थ

विवेचन—मात्र अभ्यास करने से ही सुख नहीं प्राप्त होता वरन् उस अभ्यास को या सीखे हुए गुणो को जीवन में उतारने से सुख प्राप्त होता है। एक विद्वान जो बहुत ही पदवियां (डिग्रियां) पाए हुए हो लेकिन उसमें, क्रोध, अहकार बेईमानी आदि दुर्गुण हों तो वह सफलता नही पाता है जब कि साधारण पढ़ा लिखा एव ईमानदार सरल उदार पुरुष सफलता पाता है। जो गुणो को जानता हुआ भी वैसा आचरण नही करता है उसकी तुलना मिश्री के भार से लदे हुए गधे से की गई है। गधे के लिए तो सब भार बराबर है। चाहे मिट्टी लादो या सोना, चाहे नमक लादो या मिश्री। वैसे ही केवल अभ्यास मात्र के लिए शास्त्र पढ़ने वाले को समझना चाहिए कि इन शास्त्रों में बताए गए मार्ग के अनुसरण के बिना या अनुष्ठान के बिना वे कुछ भी फलदायी नहीं होंगे।

अत शास्त्र पढकर उनम उपदिष्ठ माग का अनुसरण करना चाहिए। उपदेश माला में धमदासगणिजी ने कहा है कि —

जहा खरो चदनभारवाहो, भारस्स भागी न हु चदनस्य।
एव खु नाणी चरणेण हीणो, नाणस्स भागी न हु सुगाइए ॥

अर्थात जिस प्रकार से चन्दन का भार उठाने वाला गधा केवल भार का ही भागी है न कि, चदन का, वसे ही आचरण बिना के ज्ञान को जानने वाला मात्र ज्ञान का भागी है न कि सुगति का।

अपने उपदेश द्वारा दूसरा को वैराग्यवासित करने वाले या व्रत नियम दिलाने वाले यदि स्वय रसना के या कीर्ति के लोलुपी हो तो वे भी गदभ तुल्य हं। ज्ञानी द्वारा फरमाई हुई क्रिया, ज्ञान सहित अवश्य करते रहना चाहिए नहीं तो प्रमाद आए बिना नही रह सकता है और प्रमाद आया नही कि पतन हुवा नहीं।

"क्रियारहित मात्र अकेला ज्ञान पगु है। जसे माग जानने वाला भी जब तक उस ओर गति नही करता है तब तक गतव्य नगर को पहुच नही सकता है। (ज्ञानसार ९-२)।

चतुगति के दु ख—नरकगति के दु ख

क्षुधाक्षतो यवणुतोपि पुरस्य मत्यु-
रायूपि सागरमिताप्यनुपक्रमाणि।
स्पश खर क्रकचतोऽतितमामितश्च,
दु खावनतगुणितौ भृशशत्यतापौ ॥ १० ॥

तीव्रा व्यथा सुरकृता विविधाश्च यत्रा
क्रन्दारय सततमभ्रभतोऽप्यमुष्मात ।
कि भाविनो न नरकात्कुमते बिभेषि,
यन्मोदसे क्षणसुखविषय कषायी ॥ ११ ॥ युग्मम ॥

अर्थ—जिस नरक की दुर्गंधि के एक सूक्ष्म भाग स (इस मनुष्य लोक म) पूरे नगर की मत्यु हा जाती है जहा सागरोपम से मापा जान वाला आयुष्य निरुपक्रम हाता है, जिसका स्पर्श करवत से भी बहुत अधिक कर्कश है, जहा सर्दी गर्मी का दुख यहा (मनुष्यलोक) की अपेक्षा अनतगुणा है जहा देवो द्वारा की जाने वाली इतनी पीडाए होती हं कि उनक चीत्कार या आक्रन्द के द्वारा आकाश भर जाता है—इस प्रकार की नरक गति तुझ भविष्य में मिलेगी। एस विचार स भी हे कुमति तुझे डर नही है क्योकि तू कषाय करके थोड समय सुख देनेवाले विषयो का सेवन करके आनद मनाता है ॥१०–११॥

वसततिलका

विवेचन—नरको मे दुर्गध इतनी प्रबल होता है कि उसमें से यदि एक अणुमात्र दुर्गंध भी मनुष्यलोक में आ जाय तो सारे नगर के प्राणी क्षणमात्र म मर जाए ! मानवी आयुष्य तो क्षय, महामारी आदि रोगो से या शस्त्राघात स नष्ट हो जाता है अत सोपक्रम कहलाता है (बीच में नष्ट होन वाला) परन्तु नरक के जीवो का आयुष्य किसी भी दशा में नही टूटता है। शरीर के विभाग हो जान पर भी फिर से वे पारे की तरह जुड जाते हं। मनुष्य का आयुष्य तो वर्षों में गिना जाता

है जब कि उनका आयुष्य सागर वर्षों से मापा जाता है जिसका वर्णन उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार से बताया है एक योजन (८ मील) गहरा और इतना ही चौड़ा एवं गोल खड्डा हो, उसे बालों के बारीक अग्रभागों से ठूस ठूस कर भर दिया जाय। प्रति सौ वर्ष के पश्चात बालों का एक एक टुकड़ा निकाला जाय, इस विधि से जब वह खड्डा खाली हो जाय तब उतने समय का एक व्यवहार पल्य कहते हैं।

ऐसे असख्य व्यवहार पल्य = १ उद्धार पल्य।
असख्य उद्धार पल्य = १ अद्धा पल्य।
१० × (१ करोड × १ करोड) अद्धा पल्य = १ सागर

नरक भूमियों का स्पर्श करौती की धार से भी अधिक सख्त होता है। वहां की सर्दी के सामने उत्तरीध्रुव की सर्दी व गर्मी के सामने सहारा के रेगिस्तान की गरमी भी कुछ गिनती में नही है। वहां कोई क्षेत्र अत्यंत गर्म है जब कि कोई क्षेत्र अत्यंत सर्द है। वहा गरमी इतनी तीव्र होती है कि यदि उष्णक्षेत्र से एक नारकी जीव को मनुष्यलोक में लाकर खैर के लकड़ों की भट्टी में डाल दिया जाय तो उसे वहां इतना सुख महसूस होगा जैसे कि वह कमल की शय्या में सोया हो, वहा वह छ माह तक साता रहेगा उसे आग का असर ही नहीं होगा कारण कि इससे अनंतगुणी आग में वह रहता आया है।

दूसरी पीड़ा परमाधामी देवों की है। ये हलकी जाति के देव वहां जाकर उन जीवों को मारते हैं पीटते हैं, काटते

हैं, उनकी खाल खींच लेते हैं, उन्हें करोंतों से काटते हैं, तथा नाना प्रकार की पीड़ा देते हैं फिर भी वे जीव मरते नहीं हैं, अनेक पीड़ाएं उठाते हुए भी उनका शरीर कायम रहता है।

तीसरी पीड़ा अन्योन्य है अर्थात् पारस्परिक है। पूर्व भव के वैर को याद कर वे आपस में ही हरदम लड़ते झगड़ते रहते हैं तथा अत्यंत दुःखी होते हैं व दूसरों को दुःखी करते हैं।

इस गति में जाने का कारण क्रोध, अहंकार, कपट, लोभ विषय की आसक्ति आदि है परन्तु हे मोहान्ध जीव! ऐसा जानते हुए भी तुझे नरक का डर नहीं लगता है! थोड़े समय तक मिलने वाला विषयजन्य सुख थोड़े समय में नष्ट भी हो जाता है लेकिन उस सुख से प्राप्त दुःख, सागर वर्षों तक समाप्त नहीं होता है, अब तेरी इच्छा हो उस तरह से आचरण कर॥

तिर्यंच गति के दुःख

बधोऽनिश वाहनताडनानि, क्षुत्तृड् दुरामातपशीतवाताः।
निजान्यजातीयभयापमृत्युदुःखानि तिर्यक्ष्विति दुस्सहानि ॥१२॥

अर्थ—निरंतर बंधन, भार वहन, ताड़न, भूख, प्यास, असाध्य रोग, गरमी, सरदी, हवा, अपनी व पराई जाति का भय, अकाल व दुर्दशा से मरण ये तिर्यंच गति के असह्य दुःख हैं॥ १२॥ उपजाति

विवेचन—मनुष्य पशुओं से अनेक प्रकार से काम लेता है, वे मूक प्राणी विवशता से सब काम करते हैं व दुःख सहते हैं। उनका जीवन मनुष्य की कृपा पर आधारित है। सूर्योदय

से सूर्यास्त तक वाहन में जुते रहते हुए भी बैलों या घोड़ों की क्या दुर्दशा होती है ? उन्हें खाने को कितना दिया जाता है ? यह तो हम सभी जानते ही हैं। सरदी, गरमी या वर्षा के बचाव के लिए उनके पास क्या साधन हैं ? ओह ! मानव कितना क्रूर है। गाय, भैंस जब तक दूध देती है तब तक उसे भर पेट घास आदि देता है, पश्चात् कम कर देता है। यद्यपि वह उसके बछड़े या पाड़े के लिए भी पर्याप्त दूध नहीं रखता है, वह पशु को भी धोखा देता है। बछड़े को छोड़कर गाय को विश्वास दिलाता है कि तेरा बच्चा ही दूध पिएगा लेकिन ज्योंही स्नेह के वशीभूत होकर गाय स्तनों में दूध उतारती है वह उसे जबरन खींचकर पास में ही बांध देता है व तमाम दूध निकाल लेता है। जब गाय भैंस दूध देना बन्द कर देती है तब पिछली तमाम सेवाओं को, दूध के दान तक को भुलाकर वह उस पशु को प्रकृति के भरोसे छोड़ देता है या कसाई को बेच देता है। उसकी हालत दया के वशीभूत होकर धरती माता घास उगाती है, इन्द्रदेव जल बरसाते हैं सूर्यदेव गरमी देते हैं चन्द्रदेव शीतलता देते हैं आकाश छाया देता है। इस प्रकार से मानव से (या दानव से) संतप्त प्राणियों की कुछ समय के लिए रक्षा होती है तो केवल प्रकृति देवी की कृपा से। बाकी मानव तो उन्हें मारकर खा तक जाते हैं। ओह ! जंगल में रहे हुए प्राणी स्वतन्त्र तो हैं परन्तु आपसी वैर भाव से लड़ते हैं, तथा बड़े छोटों को मार खाते हैं। दुष्ट मानवों द्वारा शिकार व मनोरंजन के बहाने उनके प्राणों की आहुति होती

अवस्था में व भख प्यास से छटपटाते हुए मृत्युदेवी की शरण में जाते हं। मानव की यह लीला तमाश की वस्तु न होकर उस स्वय को इसी गति में निश्चित निमत्रण देनी है।

ओह! वे भोले हिरण या रोज जगल म रोगाग्रस्त हो जाते हं तो उनको कौन दवा लाकर देता है! कौन उन्हे घास लाकर डालता है, कौन उन्हें पानी पिलाता है। मूक पशु सवेदना से, पारस्परिक स्नेह स उस रोगी पशु के पास अल्पकाल के लिए चाहे स्थिरता कर सकते हो लेकिन न तो वे दवा ला सकते हं न घास पानी ही पहुचा सकते ह, इतनी उनमें बुद्धि ही नही होती। इस प्रकार के अनेक कष्ट इस पशु पक्षी यानी में होते ह। हे मानव! यदि तू सच्चा मानव है तो इन सबको शात चित्त से विचार कर इस गति के अपने निश्चित गतव्य (रिजर्वेशन) को खतम कर। इस गति में गया हुवा प्राणी यदि हिसक शरीरधारी सिह या व्याघ्र हुवा या विषैला सर्पादि हुवा तो कितने ही अन्य जीवो को मारकर नरक तिर्यच योनि की घटमाला को बनाता रहता है अत सावधान हो जा।

देवगति के दुख

सुधायदास्याभिभवाभ्यसूया, भियोऽन्तगर्भस्थिति दुर्गतीनाम्।
एव सुरेष्वप्यसुखानि नित्य किं तत्सुखर्वा परिणामदुःख ॥१३॥

अर्थ—इन्द्रादि की निष्प्रयोजन सेवा करना, पराभव, मत्सर, अतकाल गर्भस्थिति, एव दुर्गति का भय। इस प्रकार

से देवगति में भी निरन्तर दुःख है। एवं जिस सुख के परिणाम से दुःख होता है उस सुख से भी क्या लाभ है ? ॥ १३ ॥

उपजाति

विवेचन—देवताओं की यह रीति है कि उन्हें अपने स्वामी इन्द्र आदि की चाकरी करनी पड़ती है यद्यपि मनुष्य की तरह उनको सेवा का कोई परिणाम या वेतन आदि नहीं मिलता है फिर भी मजबूरन सेवा निश्चित है। बलवान देव कमजोर देव की देवी को उठाकर ले जाता है जिससे उसका पराभव होता है। ईर्षाग्नि से व आपस में जलते रहते हैं। मरने का डर हर वक्त उन्हें भयभीत करता रहता है। पुष्पमाला का मुरझाना आदि चिन्हों से मृत्यु जानकर वे छः मास पूर्व से ही विलाप करना शुरू कर देते हैं। उन्हें देव गति का आयुष्य सम्पूर्ण कर अन्य गतियों में भी जाना पड़ेगा इसका डर लगा रहता है। उपदेशमाला में धर्मदासगणि ने कहा है कि—

च्यवन के समय (देवायुष्य की समाप्ति व अन्यत्र जन्मन के पूर्व की अवस्था) अपना पूर्व का सुख व भविष्य में होने वाले दुःख का विचार कर देवता सिर फोड़ते हैं और दीवार से सिर टकराते हैं।

इस प्रकार से देवगति का सुख भी परिणामतः दुःख ही है।

मनुष्य गति के दुःख

सप्तभीत्यभिभवेष्टविप्लवानिष्टयोगगददुःसुतादिभिः ।
स्याच्चिरं विरसता नजन्मनः, पुण्यतः सरसता तदाल्प ॥१४॥

अर्थ—मान भय, अपमान, प्रिय वियोग, अप्रिय योग,

व्याधियां, कपूत संतान, आदि से मनुष्य जन्म भी सब समय तक कडुए जहर जैसा हो जाता है अत इसीलिए पुण्य के द्वारा मनुष्य जन्म का मधुरपन प्राप्त कर ॥ १८ ॥ स्वागता

विवेचन—मनुष्य भव में य सात भय—इस लोक का भय, परलोक का भय, चोरी का भय, अकस्मात का भय, आजीविका का भय अपकीर्ति का भय और मृत्यु का भय बहुत पीडाकारी है। इन भयों के अतिरिक्त राज्य का भय, सेठ का या अफसर का भय, भी कम नहीं है। मानसिक दुखों में मुख्य कारणभूत स्त्री-पुत्र का मरण, दुष्ट स्वभाव के स्त्री पुत्र के साथ जीवन यापन, धन नाश, परदेश निवास, निसंतान-पन, दरिद्रपन आदि अनेक कांटे चुभते रहते है। जब तक शरीर स्वस्थ है, धन की आय है या धन का संग्रह है तभी तक कुटुम्ब के लोग हमारी सेवा करते है और हमें प्रतीत होता है कि संसार स्वर्ग तुल्य है। परन्तु जब शरीर अशक्त रोगी या जर्जरित हो जाता है धन का कोष खतम हो जाता है तब कुटुम्ब का रोष बढ जाता है। वृद्धावस्था में प्राय खांसी दमा, ज्वर, अतिसार आदि रोग उत्पन्न होते ही है। मनुष्य कलेवर के ९ और स्त्री कलेवर के १२ स्थानों से अपवित्र वस्तु सतत् निकलती रहती है तब बच्चे व युवा, पुत्र पुत्री वृद्धों की हसी करते है, उनसे घृणा करते है, उनकी आज्ञा की अवहेलना करते है। व सोचते है कि बुड्ढा या बुढिया कब मरे और कब हम आराम से खाए पीए। यही प्रणाली इस संसार की परम्परागत है इस तरह

से मनुष्य भव में भी सुख नहीं है अत इस शरीर से आत्म कल्याण साध लेना चाहिए, यही इसका सदुपयोग है।

उक्त स्थिति दर्शन का परिणाम

इति चतुर्गतिदु खततीं कृतिप्रतिभयास्त्वमनतमनेहसम् ।
हृदि विभाव्य जिनोक्तकृतातत , कुरु तथा न यथा स्युरिमास्तव १५

अर्थ—इस प्रकार से अनत काल तक अतिशय भय देने वाली चारो गतियो के दु खो की राशियो को केवली भगवान द्वारा फरमाए गए सिद्धात के द्वारा हृदय में विचार कर। हे विद्वान ! ऐसा उपाय कर कि जिससे तुझे वे पीडाए पुन प्राप्त न हो ॥ १५ ॥ द्रुतविलंबित

विवेचन—शास्त्रो के अभ्यास से हमने यह जान लिया है कि चारो गतियों म किस प्रकार के दु ख ह अत अब उस ज्ञान के द्वारा हमे ऐसा उपाय करना चाहिए कि इन चारो गतिया में पुन जन्म न होकर आत्मा एसी जगह पहुच जाए जहा अनत अव्याबाध सुख है, वह स्थान मोक्ष ही है।

पूरे अध्याय का सारांश

आत्मन परस्त्वमसि साहमिक श्रुताक्ष
यद्भाविन चिरचतुर्गतिदु खराशिम ।
पश्यन्नपीह न बिभेपि ततो न तस्य,
विच्छित्तये च यतसे विपरीतकारी ॥ १६ ॥

अथ—हे आत्मा ! तू भी गजब का साहसी है कारण कि भविष्य में लंब काल तक होने वाले चारों गतियों के दुःखों को ज्ञान नेत्रों से देखता हुआ भी उनसे डरता नहीं है, वरन विपरीत आचरण करता हुआ उन दुःखों के नाश का जरा भी उपाय नहीं करता है ॥ १६ ॥ वसंततिलका

विवेचन—जो मनुष्य देखते हुए भी जानबूझकर अग्नि कुण्ड में, जलाशय में, नदी में या समुद्र में कूदता है वह साहसी तो है साथ ही महामूर्ख भी है। उसके उस साहस का परिणाम मृत्यु के सिवाय और कुछ नहीं है। इसी तरह से शास्त्रज्ञान रूप आंखों द्वारा चारों गतियों के दुःखों को देखता हुआ या संसार के स्वरूप को जानता हुआ भी जो उन दुःखों के नाश का उपाय नहीं करता है वह मूर्ख साहसी है। मानव भव में ऐसी सुविधा मिल सकती है कि प्राणी सुख से आत्म कल्याण कर सकता है लेकिन कब ? जब कि आत्मदशा का भान हो। शरीर व उसमें व्याप्त वस्तु (आत्मा) को अलग देखा जाय दोनों के स्वरूप को पहचाना जाय, दोनों की गति का विचार किया जाय इसी का नाम 'तत्त्व संवेदन ज्ञान' है जिससे हेय, (छोड़ने योग्य) ज्ञेय, (जानने योग्य) उपादेय (ग्रहण करने योग्य) का अंतर समझा जा सकता है।

यह प्राणी अनंत भवों से ऐसे कर्म परिणामों में फंसा हुआ है कि उसे अपने हिताहित का भान ही नहीं हो रहा है वह सांसारिक सुख दुःख के कारणों का भेद नहीं कर सकता

है। उसे तो सूखी हड्डी चबाते हुए कुत्ते की तरह विषय सेवन में आनद आता रहता है जब कि कुत्ता यह नहीं जानता है कि रस हड्डी से नही वरन उसके मुँह से निकल कर उसे स्वाद दे रहा है उसी प्रकार स हम जिन विषयो में सुख महसूस कर रहे हैं वे विषय हमें निर्वीय या अशक्त कर हमारा आत्म नाश कर रहे हैं। अत शास्त्रो का पढ़कर ज्ञान नेत्रा द्वारा ससार के स्वरूप को देखकर हमें समस्त दु खो का अत लाना चाहिए।

इति अष्टमोध्याय

अथ नवमाश्चित्त

दमनाधिकारः

इन्द्रिया पर नियत्रण, प्रमाद कषाय का त्याग, समभाव, आदि विषय में जो कुछ कहा उसका तात्पर्य यही है कि मन पर अकुश रखना चाहिए। मन पर काबू न हो वहा तक शास्त्राभ्यास और धार्मिक बाह्य क्रियाए भी योग्य फल की अपेक्षा अल्प फल देनी है जब कि कभी कभी मन को वश में करने वाला प्राणी पराधीनता से पाप क्रियाओं में रत रहता हुवा भी अल्प दोष का भागी बनता है यह सूक्ष्म विषय इस ग्रथ के मध्य बिंदुरूप अधिकार में बताते है जो कि पुस्तक के मध्य में ही आया है।

मन धीवर का विश्वास न करो

कुकमजाल कुविकल्पसूत्रजनिबध्य
गाढ नरकाग्निभिश्चिरम्।
विसारयत पक्ष्यति जीव! हे मन,
कवतक्स्त्वामिति मास्य विश्वसो ॥ १ ॥

अर्थ—हे चेतन! मनधीवर, (मन—मछलीमार) कुविकल्परूपी रस्सियो से बनी हुई कुकमरूप जाल बिछाकर उसमें तुझे मजबूत उलझाकर लबे समय तक मछली की तरह से

नरक की अग्नि में तलेगा अत तू उग (मन मछलीमार) विश्वास न कर ॥ १ ॥ वगस्थवृत्त

विवेचन यह आत्मा भोली मछली की तरह है जब मन मछलीमार की तरह है। जसे मछलीमार बारीक ड की जाल बिछाकर मछली को फसाता है बाद में उसे घर जाकर कढ़ाई में भूजता है, ठीक उसी तरह से यह मन तरह तरह की कुविकल्परूपी डोरी से बनी जाल में आत को फसाता है और उसे नरकरूपी अग्नि में सेकता है। वास में मन यदि काबू में न हो तो अनेक उत्पात मचाता है, त इन्द्रियो की सहायता से अनेक पापकारी काम करता है, यद्य करते वक्त वे काम मधुर मालूम होते हं परन्तु बाद में फल के देने वाले होते हं अत मन मछलीमार पर विश्व नही करना चाहिए।

मन मित्र से अनुकूल होने की प्रार्थना

चेतोऽयय मयि चिरत्नसख्य प्रसीद,
किं दुर्विकल्पनिकर क्षिपसे भवे माम्।
बद्धोऽञ्जलि कुरु कृपा भज सद्विकल्पान,
मैत्रीं कृतार्थय यतो नरकाद्बिभेमि ॥ २ ॥

अर्थ—हे मन ! मेरे चिरकाल के मित्र ! मं तुझसे प्राथ करता हू कि मेरे पर कृपा कर ! म हाथ जोडकर खडा मेरे पर कृपा कर, अच्छे विचार कर और अपनी लबे सम की मित्रता सफल कर, कारण कि में नरक से डरता हू ॥२

विवेचन—मन बड़ा समय है अत जबरदस्ती से वश में नही आता है अत इसे प्रमपूवक मनान के लिए जीव ने प्राथना की है कि हे मेर चिरकाल के मित्र (सनी पचेंद्रिय के समय से ही इसका माथ है) तू अपनी दोस्ती निभा और अपनी उच्छ खलता द्वारा मुझे नरक में मत लेजा। मन के वश म नही रहने से नरक आदि कुगति मिलती है जिससे म डरता हू।

मन पर अकुश करने का सीधा उपदेश

स्वर्गापवर्गौ नरक तयान्तमुहूर्तमात्रेण वशावश यत।
ददाति जतो सतत प्रयत्नाद्वश तदत करण कुरुष्व ।।३।।

अथ—वश और अवश मन क्षण में स्वग-मोक्ष या नरक अनुक्रम से जीव को देता है अत प्रयत्न करके तू उस मन को शीघ्र वश में कर ।। ३ ।। उपजाति

विवेचन—"मन एव मनुष्याणा कारणबधमोक्षयो । मन के कारण से ही मनुष्यो को मोक्ष या नरक मिलता है। प्रसन्नचद्र राजर्षि का वतात स्पष्ट है। युद्ध में रत अपन पुत्रों का विचार करते करते वे स्वय भी ध्यानावस्था में युद्ध करते ह, जब शस्त्र खतम होते ह तो शत्रु पर फकने के लिए मुकुट उठान के लिए सिर पर हाथ ल जाते ह पर वहा तो मुकुट क बजाय मुडित सिर पर हाथ जाता है तब उन्ह भान होता है कि म तो दीक्षित हू। मन वापस काबू में आता है और क्षण पूव जो उन्होंने सातवीं नारकी का बध किया था वह केवल ज्ञान में बदल जाता है। एक दृष्टात और दखिए। मगरमच्छ की आख की पलक में एक चावल जसी छोटी सी

मछली—तदुलमत्स्य—पैदा होती है और वहा बैठी २ वह क्या देखती है कि मगरमच्छ मछलियो को खाने के लिए मुह खोलता है उसमें कई छोटी बडी मछलिया पानी के साथ मुह मे आ जाती हैं, मुह बंद कर वह पानी निकाल देता है और मछलियो को रोक लेता है। ऐसा करते हुए दातो के छिद्रा में से कई छोटी छोटी मछलिया बाहर निकल जाती हैं। वह तदुलमत्स्य क्या सोचता है कि यदि मैं इतना बडा होता तो एक भी मछली को जाने न देता, ऐसा विचार करके वह तेतीस सागरोपम का सातवी नरक का आयुष्य बाधता है। वह मछलिया खा नही सकता है फिर भी कुविकल्प से नरक भुगतता है,इसी तरह से हम भी कई कामो में प्रवृत्त न होते हुए भी कुविकल्प द्वारा नरक का आयुष्य बाधते है। दूसरा तरफ सदभाव से जीरण सेठ ने प्रभु महावीर को पारणा कराने की उत्कृष्ठ भावना भायी व उत्तम विचारो से चढता हुवा बारहवां देवलोक का आयुष्य बाधा, यदि देव दुदुभी न बजती तो वह मोक्ष पाता। अत उत्तम फल की प्राप्ति के लिए मन को वश में करना आवश्यक है।

ससार भ्रमण का हेतु मन

सुखाय दु खाय च नव देवा, न चापि काल सुहृदोऽरयो वा।
भवेत्पर मानसमेव जतो ससारचक्रभ्रमणकहेतु ॥ ४॥

अर्थ—इस जीव को सुख, दु ख न देव देते है न काल देता है, न मित्र देते है, न शत्रु ही देते है (परन्तु) मनुष्य को ससारचक्र में फिराने का मात्र एक कारण मन ही है ॥ ४॥

उपजाति

विवेचन—ससारी जीव को सदा अनेक दु ख होते रहते है। वह मानता है कि शायद कुल के देवी देवता अप्रसन्न है या ग्रह नक्षत्र विपरीत है या कोई अन्य दैवी दोष है। यह सब उसकी मान्यता गलत है। यह सब उसके कर्मों का परिणाम है। कर्म मन के परिणामो से बधते है मन को वश में करना स्वय उसके हाथ में है। ससारचक्र एक बार गति में आने के बाद बडी मुश्किल से ठहरता है। एक चक्र दूसरे चक्र को पैदा करता है, एक सकल्प दूसरे विकल्प को पैदा करता है और जन्म मरण की परपरा बढती है अत इस ससारचक्र को रोकने के लिए दो ही उपाय है एक तो मन को जबरदस्ती से वश में करना और दूसरा त्याग एव तप द्वारा उसे निर्विकारी कर देना।

मनोनिग्रह और यम नियम

वश मनो यस्य समाहित स्यात्, किं तस्य कार्य नियमयमश्च।
हत मनो यस्य च दुर्विकल्प, किं तस्य कार्य नियमयमश्च ॥५॥

अर्थ—जिस प्राणी का मन समाधियुक्त होकर अपने वश में होता है उसे फिर यम नियम से क्या लाभ ? और जिसका मन दुर्विकल्पो से आहत है उसे भी यम नियम से क्या लाभ ?

उपजाति

विवेचन—नियम पाच प्रकार के है। काया और मन की शुद्धि-शौच। सुलभ प्राप्त साधनो से अधिक प्राप्त करने की अनिच्छा—सतोष। मोक्षमार्ग दर्शक शास्त्रो का अध्ययन या परमात्मा का जाप—स्वाध्याय। जो कर्मों को

तपात है ये चाद्रायण आदि–तप। वीतराग का ध्यान–देवता प्रणिधान। यम भी पाच प्रकार के है—अहिंसा, सुनृत, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अकिंचनता।

जिसका मन सदा सब परिस्थिया में समाधि युक्त—समता युक्त रहता है उसे फिर यम नियमों स कोई प्रयोजन नही है एव जिसका मन उद्विग्न या निरकुश है उसे भी इन यम नियमो से कोई लाभ होने वाला नही है। यहा यम नियमों की अनावश्यकता न बताकर यह बताया है कि मन का वश किए बिना ये कुछ भी लाभ न देंगे। वास्तो यम नियमा पर चलने से ही मन वश में होता है।

श्रीमद् यशोविजयीजी ने लिखा है कि —

जब लग मन आवे नहि ठाम,
तब लग कष्ट क्रिया सब निष्फल ज्यो गगन चित्राम॥

अन्यत्र भी शास्त्रकार कहते है कि —

राग द्वेषौ यदि स्याताम्, तपसा कि प्रयोजनम्।
तावेव यदि न स्याताम्, तपसा कि प्रयोजनम्॥

अर्थात्—यदि राग द्वेष है तो तप से क्या काम है और यदि राग द्वेष नही है तो फिर तप से क्या काम है।

श्रीमद यशोविजयजी ने फिर आगे लिखा है कि —

"चित्त अतर पर छलवे कु चितवत् कहा जपत मुख राम।

अर्थात चित्त तो दूसरे को ठगने में सोच रहा है, नन

मुह से राम राम जपने से क्या लाभ होना है। 'मुख में राम, बगल में छुरी ॥"

मनोनिग्रह बिना के दानादि धर्मों का व्यर्थपन

दानश्रुतध्यानतपोऽर्चनादि, वृथा मनोनिग्रहमंतरेण ।
कषायचिंताकुलतोज्झितस्य, परो हि योगो मनसो वशत्वम् ॥६॥

अर्थ—दान, ज्ञान, ध्यान, तप, पूजा आदि सभी मनोनिग्रह के बिना व्यर्थ हैं। कषाय से होने वाला चिंता और आकुल व्याकुलता से रहित, एसे प्राणी के लिए मन का वश करना महायोग है ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—दान पांच प्रकार के होते हैं। किसी जीव को मरने से बचाना, अभय दान। सुपात्र को, सुसमय में, उत्तम वस्तु का सुरीति से दान करना—सुपात्रदान। दीन दुखी पर दया कर दान देना—अनुकम्पादान। देव गुरू के निमित्त या प्रतिष्ठा आदि शुभ कार्यों में दान देना—उचित दान। यश कीर्ति के लिये दान देना—कीर्तिदान। प्रथम के तीन उत्तम कोटि के हैं जब कि बाकी के दो संसार के भोगफल देने वाले हैं।

ज्ञान में पठन पाठन श्रवण मनन आदि, ध्यान में धर्म ध्यान शुक्ल ध्यान आदि। तप बारह प्रकार का है। पूजा, अष्ट प्रकारी, सत्तरभेदी चौसठ प्रकारी, नवाणु प्रकारी आदि द्रव्य पूजा।

ऐसे ज्ञान, ध्यान, पूजा आदि सब करते हुए यदि मन वश में है तभी सब सार्थक हैं नहीं तो सब निरर्थक हैं।

काया को भी दुश्मन बनाता है। ऐसे तीन शत्रुओं से हराया गया तू स्थान स्थान पर विपत्तियों का भाजन होकर क्या करेगा ? ॥ ९ ॥ वसन्त

विवेचन—एक शत्रु दूसरे दो और शत्रुओं का बढाता है ऐसे शत्रु का विश्वास नहीं करना चाहिए। मन जब अपने वश में नहीं होता है तब वह सबसे बडा शत्रु बन जाता है और अपने स्वभाव के कारण वचन व काया को भी भडका कर शत्रु बना देता है इस तरह से तीन शत्रुओं से आत्मा को भय बना रहता है। इन तीनों शत्रुओं से हारा हुवा तू (आत्मा) पद २ पर विपत्तियों का पात्र क्यों बनता है अर्थात् इन तीनों से कष्ट क्यों पाता है। यदि अकेले मन को ही वश में कर लेता है तो अन्य दो भी तेरे शत्रु नहीं बनेंगे और तुझे भी कष्ट नहीं मिलेगा अत मन को ही वश में करने का प्रयत्न कर। इस एक को जीतने से वचन काया भी जीते गए जान।

मन के लिए उक्ति

रे चित्त वैरि तव किं नु मयापराद्ध,
यद्दुर्गतौ क्षिपसि मां कुविकल्पजालैः ।
जानासि मामयमपास्य शिवेऽस्ति गन्ता,
तत्किं न सन्ति तव वासपदं ह्यसंख्या ॥ १० ॥

अर्थ—हे चित्त वरि ! मैंने तेरा क्या अपराध किया है कि तू मुझे कुविकल्प जाल से बांधकर दुर्गति में फेंक देता है ? क्या तुझे ऐसा विचार आता है कि यह जीव मुझे छोडकर

मोक्ष में चला जाने वाला है (अत इसे पकड रखता है) ? परन्तु क्या तेरे रहने के और अनेक स्थान नही ह ? ॥ १० ॥

वसततिलका

विवेचन—जब मनुष्य का मन ससार से सतप्त होता है, तब उसे कुछ शाति की इच्छा जागत होती है उस समय वह किसी निजन, एकात स्थान में बठकर विचार करता है कि मुझे यह दु ख क्या हुवा ? विचारते विचारते भान होता है कि यह सब मने स्वय ने किया है। मेरा मन मेरे वश में नहीं है। म चाहे जिससे हसी मजाक करता हू, चाहे जिसका अपना जानकर उससे परिचय बढ़ाता हू, उसमे सबध स्थापित करता हू परन्तु समय आने पर विपरीत परिणाम आत ह। मेरे मन न जितने अधिक लोगा से सपक बढाया है उतना ही अधिक सताप यह पा रहा है। उन दु खा के कारण कुविकल्प आते ह और प्रतिक्षण मन क्षु ध व चिंतित रहता है और प्रभु का स्मरण होता ही नही है। अत शांत स्थान में स्थिर चित्त से बठकर ऊपर के श्लोक को विचारना चाहिए।

पराधीन मन वाले का भविष्य

पूतिश्रुति श्वेव रतेविदूरे, कुष्टीव सपत्सुदशामनर्हः ।
श्वपाकवत्सदगतिमदिरेषु, नार्हत्प्रवेश कुमनोहतोगी ॥ ११ ॥

अथ—जिस प्राणी का मन खराब स्थिति में होने से सताप देता रहता है वह प्राणी उस कुत्ते की तरह से तमाम आनद से दूर रहता है जिसके कान में कीड पड रहे हो, वह

कोढ़ी की तरह से लक्ष्मी सुन्दरी का पाणिग्रहण करने म अयोग्य हो जाता है और चण्डाल की तरह से शुभ गतिरूप मदिर में प्रवेश करने के लायक भी नहीं रहता है ॥ ११ ॥

विवेचन—परवश जीव की दशा इस श्लोक में स्पष्ट बताई है। वह कीड़ेयुक्त कुत्ते की तरह, निधनी कोढी की तरह व घृणित चडाल की तरह पद पद पर अपमानित होता है एव उसे जरा सी भी शांति नहीं मिलती है।

मनो निग्रह बिना के तप जप आदि धर्म

तपो जपाद्याः स्वफलाय धर्मा, न दुर्विकल्पहतचेतसः स्युः ।
तत्खाद्यपेय सुभृतेऽपि गहे, क्षुधातृषाभ्यां म्रियते स्वदोषात् ॥१२॥

अर्थ—जिस प्राणी का चित्त दुर्विकल्पों से मारा गया है उसको तप जप आदि धर्म अपना फल नहीं देते हैं, ऐसा प्राणी अन्न-जलपूर्ण घर में भी अपने ही दोष से भूख और प्यास के मारे मर जाता है ॥ १२ ॥ उपजाति

विवेचन—कई बार जीवन में ऐसा होता है कि भोजन तैयार होने पर भी हम घरेलु झगडो के कारणो से विपाक्त होकर भूखा मरते रहते हैं। घर के लोग बार बार अनुरोध करते हैं, बच्चे गिड़गिडाते हैं, स्त्री पैरो पडती है फिर भी क्रोध दावानल से झुलसे हुए हम विक्षिप्त चित्त वाले होने से खाद्य पदार्थ की तरफ देखते भी नहीं हैं और हमारे ही कारण से घर के अन्य लोग भी भूखा मरते हैं। इस प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य स्वय भी दुःखी होते हैं और दूसरो को

भी दुःखी करते हैं। वसे प्राणी का मन दुर्विकल्पो से घिरा रहता है अतः उसके किए गए तप जप निष्फल जाते हैं।

मन के साथ पुण्य पाप का सबंध

अकृच्छ्रसाध्य मनसो वशीकृतात, पर च पुण्यं, न तु यस्य तद्वशम।
स वंचित पुण्यचयस्तदुद्भव, फलैश्च हीहो हतक करोतु किम १३

अर्थ—वश में किए हुए मन से महान उत्तम प्रकार का पुण्य, बिना कष्ट के साधा जा सकता है। जिसका मन वश में नहीं है वह प्राणी पुण्य के समूह से ठगा जाता है और पुण्य से होने वाले फल से भी ठगा जाता है। अरे! अरे! ऐसा हतभाग्य जीव बिचारा क्या कर सकता है?

वशस्थविल

विवेचन—जिसका मन वश में नहीं है वह पुण्य के उत्तम फल के लोभ से कष्ट सहन करता है, तप करता है लेकिन मन में सकल्प विकल्प पैदा होते रहते हैं अतः उस तप जप फल नहीं देते हैं। श्री चिदानंदजी ने कहा है कि—

जब लग मन आवे नहिं ठाम,
तब लग कष्ट क्रिया सवि निष्फल ज्यों गगने चित्राम ॥
वचन काय गोपे दृढ न धरे चित्त तुरंग लगाम।
ता मे तुं न लहे शिव साधन, जिऊं कण सूने गाम ॥

अर्थात जब तक चित्तरूप चचल घोडे की लगाम हाथ में नहीं है तब तक कष्ट क्रिया सब बेकार है जैसे कि आकाश में कल्पित चित्र निरर्थक है। जब तक मन, वचन और शरीर गुप्त (वश) नहीं है तब तक तुझे शिव (मोक्ष) नहीं मिल

सकता जैसे सूने, निर्जन गांव में से नाज का एक दाना भी नहीं मिल सकता है।

बिना मनोनिग्रह के विद्वान भी नरकगामी होता है

अकारण यस्य च दुर्विकल्पहृत मन शास्त्रविदोपि नित्यम्।
घोररघनिश्चितनारकायुम् र्यौ प्रयाता नरके स नूनम्॥ १४॥

अर्थ—जिस प्राणी का मन निरंतर खराब संकल्पों से आहत रहता है, वह प्राणी चाहे जैसा विद्वान भी हो तो भी भयंकर पापों से नारकी का निकाचित आयुष्य बांधता है और मृत्यु पाने पर अवश्य ही नरक को प्रस्थान करता है॥१४॥

उपजाति

विवेचन—धर्म विद्या प्राप्त करने से जीव को संसार की वास्तविकता का भान हो जाता है उसे जन्म मरण के कारणों का समझ आ जाती है फिर भी यदि मन सांसारिक विषयों में उलझा रहता हो और संकल्प विकल्प करता रहता हो एवं आत्महित के विचार न आते हो तो वह प्राणी अवश्य ही नरकगामी होता है। विशेष जानकार को विशेष सावधान रहना चाहिए कारण कि बाल (भोले) जीव उसका अनुकरण करते हैं यदि वह स्वयं जानते हुए भी यश आदि की कामना से वास्तविकता को छिपाता रहकर निरंतर कुविकल्पों से आहत रहता हो तो स्वयं भी डूबता है तथा औरों को भी डुबोता है। अतः सावधानी की आवश्यकता है।

मनो निग्रह से मोक्ष

योगस्य हेतुर्मनसः समाधि, परं निदानं तपसश्च योगः ।
तपश्च मूलं शिवशर्मवल्ल्या, मनः समाधिं भज तत्कथंचित् ॥१५॥

अर्थ—मन की समाधि योग का कारण है, योग, तप का उत्कृष्ट साधन है और तप शिव सुख वल्ली का मूल है, अतः किसी भी तरह से मन की समाधि (एकाग्रता) रख ॥ १५ ॥ उपजाति

विवेचन—किसी वस्त्र पर कोई रंग चढ़ाना हो तो पहले उसे साफ करना चाहिए। उसका कच्चा रंग उड़े बिना नया रंग नहीं चढ़ सकता है। खेत की पहली फसल के ठूंठे निकाले बिना या उसे हमवार किए बिना या बार बार जोते बिना नई फसल नहीं उग सकती है ठीक उसी तरह से भवरूप अग्नि से त्रस्तप्राणी को यदि शांति का—मोक्ष की—अभिलाषा हो तो सर्व प्रथम मन को एकाग्र तथा राग द्वेष रहित करना चाहिए। मन की शांति या समता ही योग का कारण है, योग से तप किया जाता है। तप मोक्ष रूपी बेल की जड़ है अतः अगर बन सके मन की एकाग्रता साधना चाहिए यह तभी हो सकता है जब कि धन संपत्त व वस्तु परिग्रह कम किया जाय। सांसारिक विषयों में भटकने वाले मन की लगाम काबू में आए बिना समाधि नहीं हो सकती है।

मनो निग्रह के चार उपाय

स्वाध्याययोगैश्चरणक्रियासु, व्यापारणैर्द्वादशभावनाभिः ।
सुधीस्त्रियोगी सदसत्प्रवृत्तिफलोपयोगैश्च मनो निरुध्यात् ॥१६॥

अर्थ—स्वाध्याय, योग वहन, चारित्र क्रिया में व्यापार, बारह भावना और मन वचन काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति के फलों के चिन्तवन से सुज्ञ प्राणी मन का निरोध करता है।

विवेचन—मन को वश करने के चार उपाय बताए हैं (१) स्वाध्याय अर्थात् शास्त्राभ्यास। इसके पांच भेद हैं—पढ़ना, प्रश्न करना, पुनरावर्तन, चिंतवन एवं धर्मकथा। योग वहन अर्थात् मूल सूत्रों के अभ्यास की योग्यता के लिए क्रिया व तप करना। ऐसा करने से ही शास्त्राभ्यास सुरीति से हो सकता है। (२) क्रियामार्ग अर्थात् धर्म क्रिया का करना। श्रावक—देवपूजा, छ आवश्यक, सामायिक, पौषध आदि करे। साधु—आहार निहार प्रतिलेखन, प्रमार्जन, कायोत्सर्ग आदि में काया की शुभ प्रवृत्ति रखे। (३) बारह भावना—भाना। [१]अनित्य, [२]अशरण, [३]भव, [४]एकत्व, [५]अन्यत्व, [६]अशुचि, [७]आश्रव, [८]संवर, [९]निर्जरा, [१०]लोकस्वभाव, [११]बोधी, [१२]धर्म, ये बारह भावनाएं सदा मन में सोचते रहना। इनका अर्थ ऐसे भी क्रमशः हो सकता है, [१]सर्वनाशवंत, [२]निराश्रयता, [३]संसार रचना वैचित्र्य, [४]एकाकीपन, [५]स्वतंत्रता, [६]शरीर की अपवित्रता, [७]पापकर्म से संसार भ्रमण, [८]समता से कर्मबंध का अटकाव, [९]सर्वकर्म क्षय, [१०]चौदह राजलोक का स्वरूप चिंतन, [११]सम्यक्त्व पाने की दुर्लभता, [१२]अरिहंत समान निरागी धर्मोपदेशक। इन

वारह भावनाओं स मन वश में आ सकता। (४) आत्मा वलोकन—अर्थात शुभ प्रवृति का फल शुभ और अशुभ प्रवृत्ति का फल अशुभ होता है यह विचारता, अपन मन वचन काया की प्रवृति का अवलोकन करना यह चौथा उपाय है।

आज प्राय हम सब ही इस प्रकार प्रमत्त व ससार प्रवृत हो रहे हं कि हम स्वय का भान ही नही है। सुबह स शाम तक हम एसे लोगो के सपक में रहत ह जो हमें सिवाय कमाने, खान नाटक, मोज, शौक करन के और किसी तरफ सोचन की फुरसत ही नहीं पान देत ह। हम स्वतत्र आत्मा ह हमारा अच्छा या बुरा हम ही भुगतना पडगा। अकेले आए हं अकल जावेंग। वद्धावस्था में या दुख आन पर हमारा कोई सहायक न होगा। परिवार तो अपना स्वाथ साध रहा है। यह सब सोचकर आत्महित करना चाहिए।

मनो निग्रह में भावना का महत्त्व

भावनापरिणामषु, सिंहेष्विव मनोवन।
सदा जाग्रत्सु दुर्ध्यान—सूकरा न विशत्यपि॥ १७॥

अथ—मनरूपी वन म यदि भावना अध्यवसाय रूपी सिह सदा जाग्रत रहते हो तो दुध्यानरूपी सूअर उसमें प्रवष्ट नही हो सकते॥ १७॥ अनुष्टुप

विवेचन—जिस वन म केशरीसिह जागता रहता हो उस वन म सूअर प्रवेश नही कर सकता है वसे ही जिसका मन सदभावनाओ स व्याप्त रहता हो उसम दुर्भावना आ ही नही सकती। मन को वन मानकर सदभावनाओ के

सिंह माना है और दुर्ध्यान को सूअर माना है। वास्तव में सदभावना सिंह के समान है यह तो अनुभव से ही मालूम होगा। प्रार्थना में आता है कि —

हम मगन भए प्रभु ध्यान में,
विसर गई दुविधा तन मन की—अचिरा सुतगुण गान में।

जिसका मन सदा सांसारिक विषय वासना से वासित रहता है या व्यापार धंधे में संलग्न रहता है या धन के लिए भटकता रहता है उसे धर्म की बातें सुनना पसंद नहीं है। उसे ये बातें पुराने लोगों की या पुराने जमाने की फालतू सी लगती है। लेकिन जिस भाग्यशाली का मन सदा आत्मा परमात्मा के विचार में रहता है, सदा स्व पर हित साधन के भावों से ओत प्रोत रहता है उसे सांसारिक बातें विष समान प्रतीत होती है। सुखी व शांत रहने के लिए अर्थात शिवसाधन के लिए सदभावना आवश्यक है।

सदा सर्वदा, सर्वसंयोगों में एक जैसा मन रखो

यह शिक्षा ग्रहण करो
इसका प्रयोग करो
इसके अनुसार चलो,
इसके अनुसार बात करो
इस पर आधार रखो
इसमें विश्वास रखो

इति सविवरणश्चित्तदमननाम नवमोऽधिकार

अथ दशमो

वैराग्योपदेशाधिकारः

मृत्यु की शक्ति उस पर विजय और उस पर विचार

किं जीव माद्यसि हसस्ययमीहसेऽर्थान,
कामाश्च खेलसि तथा कुतुकरशंक ।
चिक्षिप्सु घोरनरकावटकोटरे त्वा
मभ्यापतल्लघु विभावय मृत्युरक्ष ॥ १ ॥
आलंबन तव लवादिकुठारघाता
श्छिंदति जीविततरु न हि यावदात्मन ।
तावद्यतस्व परिणामहिताय तस्मि
श्छिन्ने हि क क्व च कथं भवतास्यतत्र ॥ २ ॥

अर्थ—अरे जीव ! तू क्या देखकर अभिमान करता है ? क्या हसता है ? धन और काम भोगो की इच्छा किस लिए करता है ? और किस पर निशक होकर कुतूहल से खेल करता है ? कारण कि तुझे गहरे नरक के खड्डे मे फेक देने की इच्छा से मृत्यु राक्षसी बहुत तेजी से तेरे पास आती जा रही है, इसका तू विचार तो कर ॥ १ ॥

वसंततिलका

जब तक लव (दो घडी या सत्तरहवा भाग २ मिनिट ४९॥ सेकिंड) आदि कुल्हाडे के प्रहार तेरे आधाररूप जीवन वृक्ष को नही काट डालते तब तक हे आत्मा ! अपने हित के लिए प्रयत्न कर, उसके कट जाने के पश्चात् तू परतन्त्र हो जाएगा और कौन जाने तू कौन (क्या) होगा और कहा होगा और किस तरह से होगा ?

विवेचन—क्या मृत्यु को किसी ने जीता है ? नही, मृत्यु ने सबको जीत रखा है। आज मानव अपने आपको वैज्ञानिक उन्नति के शिखर पर पहुचा हुवा मानता है। क्या उसने मृत्यु पर काबू पा लिया है ? नही यह उसकी शक्ति से परे की बात है। आज की आधिभौतिक विद्या आध्यात्मिक विद्या से कोसो दूर रहती है। मानव यही मानता जा रहा है कि उसे मरना ही नही है। इसीलिए वह हर समय बफिक्र होकर हसता रहता है काम भोगो के साधन जुटाने में ही अपनी शक्ति का सचय करता है लेकिन वह यह सब जानते हुए भी मृत्यु को भुलाने का प्रयत्न करता है। जब मृत्यु देवी विकराल रूप से सामने आ उपस्थित होती है तब उसे होश आता है कि मैंने तो जीवन भर मौज शौक और राग रग किये अब मेरा क्या होगा ? वह उस अनजान चूहे के बच्चे की तरह भूल में रहता है जो घर के अधेरे कमरे म मौज से खाता पीता है व कुतर कुतर करता हुवा कपड आदि काटता है, उछलता है, कूदता है, आनद मानाता है, उसके इस आमोद प्रमोद की प्रमत्त दशा का लाभ लेकर बिल्ली रानी चुपके चुपके

दबे पाव चौकन्नी होकर पास आ जाती है और अपन विक राल गाल में उस निरीह—बच्चे को दबा देती है। बस १-२ बार चू चू की आवाज के साथ वह मूक बच्चा अपनी प्राण लीला समाप्त कर देता है। हे ससार लिप्त प्राणियो! हम भी तो इस जीवन में अज्ञान रूपी अधकार के कारण अपन आपको निडर अमर सदा कायम रहने वाला मान कर मन-मानी रीति से चल रहे हं। हम उस मृत्यु को नही देख रहे हं जो तेज गति से हमारे पास आ रही है। जेब घडी या हाथ घडी हमारे पास सदा रहती है व सकेंड सकड पर टक टक करके चेतावनी देती है कि हे मानव तूने मेरा निर्माण किया है अत मित्र के नाते तुझे सावधान करती हू कि म उस सर्वशक्तिमान मृत्यु देवी की दूती हू तो अजय है अवश्य तेरे पास आने वाली ह और तुझे तेरे कर्मानुसार गति में ले जाने वाली है अत जागत रहकर अपने हित के काम को कर ले।

इस जीवन रूपी वक्ष पर सकेंड २ रूप कुल्हाडे का घाव पड रहा है और एक दिन वह वक्ष अवश्य मेव कट कर गिर जाने वाला है। जब तक तेरा जीवन वक्ष नही कट जाता है तब तक आत्म हित कर ले। उस वक्ष क कट जाने के बाद तू परतत्र हो जाएगा तुझ पर जबरदस्ती काल दैव का शासन होगा तब कौन जाने तेरा क्या होगा ? तू किस दशा में होगा और किस दिशा में जाएगा, कसी तेरी परिस्थिति होगी ? शायद तू यह माने हुए है कि म आराम व

के सब साधन मेरे साथ चलने वाले हैं वे उस दूसरी दुनिया में भी मुझे सुख रखने वाले हैं। इसे तू भूल जा। तेरे ये रेडियो के तार मृत्यु के समय के बंधन होंगे। तेरे कर्ण प्रिय वाद्ययन्त्र नरक की चीत्कारों व आक्रन्दों में बदल जायेंगे। तेरे सब स्वजन सबंधी मृत्यु देवी के दूत के समान नजर आयेंगे। आह! जब ऐसा परिणाम अवश्यंभावी है तब क्यों न तू पहले से ही सावधान हो जाता है। सुबह से शाम तक तू जिस तरह अपना समय व्यतीत करता है इसकी दशा को बदल दे और आत्म मनन कर स्वहित साधन कर ले।

आत्मा के पुरुषार्थ से सिद्धि

स्वमेव मुग्धो मतिमान् स्वमात्मन्,
नेष्टाप्यनेष्टा सुखदुःखयोस्त्वम्।
दाता च भोक्ता च तयोस्त्वमेव,
तच्चेष्टसे किं न यथा हिताप्तिः ॥ ३ ॥

अर्थ—हे आत्मन्! तू ही मुग्ध (अज्ञानी) है और तू ही ज्ञानी है, सुख की इच्छा करने वाला और दुःख पर द्वेष करने वाला भी तू ही है, और सुख दुःख के देने वाला और भोगने वाला भी तू ही है तब स्वयं के हित की प्राप्ति के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करता है? ॥ ३ ॥ उपजाति

विवेचन—आत्मा में अनंत शक्ति है परन्तु अज्ञानादि के कारण कर्मों के पराधीन हुआ यह वास्तविकता को नहीं पहचान पा रहा है, अतः शास्त्रकार फरमाते हैं कि हे आत्मा तू सब कुछ करने में समर्थ है। सब प्रकार के अच्छे बुरे

फ्ला का निर्माण करन वाला भी तू ही है अत पुरुषाथ कर, शास्त्रसम्मत पथ पर चल और आत्म हित का प्रयत्न कर। आत्मा के सिवाय अन्य काई वस्तु म एसी शक्ति नही है जो तुझे सुख दु ख स मुक्त कर सकता हा। श्री उत्तराध्ययन सूत्र में वीर प्रभु न फरमाया है —

> अप्पा नइ वयरणी अप्पा म कूडसामली।
> अप्पा काम दुहा धणू अप्पा म नदणवण ॥
> अप्पा कत्ता विकत्ता य दुक्खाण य सुहाण य।
> अप्पा मित्तममित्त च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥

अर्थात्—मरा आत्मा ही नरक की वतरणी नदी है, मेरा आत्मा ही कूट शाल्मली वृक्ष है। मरा आत्मा ही स्वग की कामधेनु है मेरा आत्मा ही स्वग का नदन वन है। दु खो और सुखो का कर्ता और विकर्ता भी आत्मा ही है। सन्माग पर जान वाला आत्मा ही मित्र है और उन्माग पर जाने वाला आत्मा ही शत्रु है।

लोक रंजन और आत्मरजन

> कस्ते निरजन चिर जनरजनन,
> धीमन् ! गुणोऽस्ति परमार्थदृशाति पश्य।
> त रजयाशु विशदश्चरितभवाब्धो,
> यस्त्वां पततमवल परिपातुमीष्टे ॥ ४ ॥

अथ—हे निरजन (निर्लेप) ! ह बुद्धिमान ! लम्बे समय तक जनरजन करन स तुझे कौनसा गुण प्राप्त होगा यह परमाथ दृष्टि स दख, एव विशुद्ध आचरण द्वारा तू ता

उस पदार्थ का (धर्म का) सेवा कर जो संसार समुद्र में गिरते हुए तेरे निर्बल आत्मा का संरक्षण करने में सशक्त है ॥ ४ ॥ वसततिलका

विवेचन—हे अकेले जन्मने व मरने वाले आत्मा! तू दुनिया को खुश करने का काम किस लिए करता है इससे तुझे क्या लाभ होने वाला है। तू इस फालतू काम को छोड़ कर उत्तम धर्म को प्रसन्न रखने का प्रयत्न कर जो तुझे संसार समुद्र में गिरने व डूबने से बचाने वाला है। दुनिया के सामने तरह तरह के वेष परिवर्तन करके अपने आपको साधारण जनता से ऊंचा मानने का जो तेरा अभिमान है और उस अभिमान की पुष्टि के लिए सबके देखते हुए तेरे आचरण आहार विहार जुदे रहते हैं और एकांत में या अपने समूह में जुदे रहते हैं इन हाथी के दो तरह के दांतों से जो खाने के और व दिखाने के और होते हैं इनसे तुझे कोई लाभ नहीं होने वाला है। तरह तरह के पद, छप्पय कविता, कथा, आदि कहकर बाहरीरूप में दुनिया के सामने जो तू विद्वान या वक्ता बनने का ढोंग किये फिरता है और तेरे अंदर की तो तू ही जानता है या परमात्मा जानता है कैसी दशा है? इस बाहरी लोकरंजन से तू अपने आपको मत ठग, धर्म कर।

मद त्याग और शुद्धवासना

विद्वानहं सकललब्धिरहं नृपोऽहं,
दाताहमद्भुतगुणोऽहमहं गरीयान्।
इत्याद्यहंकृतिवशात्परितोषमेषि,
नो वेत्सि किं परभवे लघुता भवित्रीम्॥ ५ ॥

अर्थ—मै विद्वान हूं, मै सब लब्धिवान हूं, मै राजा हूं, मै दानी हूं, मै अद्‌भुत गुण वाला हू, मै बडा हू, इत्यादि अहकार के वश होकर तू सतोष अनुभव करता है परन्तु परभव में होने वाले अपमानो (दुदशा-लघुता) को क्या तू नही जानता है ? ॥ ५ ॥ वसततिलका

विवेचन—अहकार, पतन की प्रथम सीढी है। मनुष्य अपने आपको बहुत कुछ मानता है और फूला हुवा फिरता है, उसे ऐसा लगता हे कि मेरे जैसा बलवान गुणवान या विद्वान कोई नही है। लेकिन ससार में एक से एक बढ़कर बैठे है। दूसरो से जब पराजय होती है तब आख खुलती है और अनुभव होता है कि मै तो इसके सामने तुच्छ हू। श्रीमद हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि —

जाति लाभकुलैश्वर्यबलरूप तप श्रुत
कुर्वन मद पुनस्तानि हीनानि लभते जन ॥

अर्थात जाति, लाभ कुल, ऐश्वर्य, बल रूप तप और ज्ञान का मद करने से प्राणी उन्ही उन्ही वस्तुओ को आते भव मे कम प्राप्त करता है। बल के अभिमान से रावण की, दान के अभिमान से बलि की, ऐश्वर्यरूप के अभिमान से सनत्कुमार को, बडप्पन के अभिमान से स्थूलिभद्र की क्या दशा हुई यह तो प्रसिद्ध ही है।

तुझे प्राप्त सुविधा

वेत्सि स्वरूपफलसाधनबाधनानि,
धर्मस्य, स प्रभवसि स्ववशश्च कर्तुम ।
तस्मिन् यतस्व मतिमन्नधुनेत्यमुत्र,
किंचित्त्वया हि न हि सेत्स्यति भोत्स्यते वा ॥६॥

अर्थ—तू धम का स्वरूप फल, साधन और बाधन जानता है, तू स्वतत्र होकर धम करने में भी समथ है। अत हे मतिमान! तू अभी हो इसी भव में प्रयत्न कर क्योंकि आते भव में तरे से कुछ भी सिद्धि नही हो सकेगी न तू उसे जान सकेगा। ॥ ७ ॥ वसततिलका

विवेचन—मनुष्य योनि में रहा हुवा ज्ञानवान जीव शास्त्रो के पठन व विद्वानो के सपक से धर्म का स्वरूप, फल, साधन, व धर्म में रुकावट करने वाली बाधाओ को जानता है। मनुष्य सब उपाधियो से मुक्त होकर धर्म करने की शक्ति भी रखता है। अत शास्त्रकार फरमाते ह कि हे बुद्धिमान! तू इसी भव में प्रयत्न शुरू कर दे नहीं तो आते भव में तू कुछ भी साधन नही कर सकेगा न अपन आपको या उपरोक्त भावा को जान सकेगा। अज्ञान दशा म तू न मालूम कहा भटकता फिरेगा अत इसी भव में धम साधन का प्रयत्न शुरू कर दे।

धम का स्वरूप—श्रावक धम या साधु धम का स्वरूप।

धर्म का फल—परपरा से मोक्ष, तात्कालिक निर्जरा या पुण्य प्राप्ति।

साधन—चार अनुयोग, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की
अनुकूलता।

दुर्लभ प्राप्ति—मनुष्यपन धर्मश्रवण, श्रद्धा और धर्म में
वीर्य का स्फुरन।

बाधक—कुजन्म, कुक्षेत्र, प्रतिकूल द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव,
प्रमाद।

धर्म करने की आवश्यकता—जिससे दुःख का क्षय

धर्मस्यावसरोऽस्ति पुद्गलपरावर्तैरनतैस्तवा
यात सप्रति जीव हे प्रसहतो दु खान्यनतान्ययम ।
स्वल्पाह पुनरेष दुर्लभतमश्चास्मिन्न यतस्वाहतो,
धर्मं कर्तुमिमं विना हि न हि ते दु खक्षय कर्हिचित ॥७॥

अर्थ—हे चेतन ! अनेक प्रकार से बहुत दु ख सहते सहते अनन्त पुद्गल परावर्तन करने के पश्चात् अभी ही तुझे यह धर्म करने का अवसर प्राप्त हुवा है, वह भी थोडे दिनों के लिए है और फिर पीछे बार बार ऐसा अवसर मिलना महान कठिन है, अत धर्म करने में प्रयत्न कर। इसके बिना तेरे दु खों का कभी भी अन्त नही आएगा ॥ ७ ॥

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जीव, चौरासी लाख जीवायोनियों में भटकता हुवा कुदरती रीति से नदी के प्रवाह में घिसते घिसते गोल होते हुए पत्थर के न्याय से मनुष्य भव पाता है। मनुष्य भव कितना दुर्लभ है यह तो पहले आया ही है और आगे भी

आएगा ही। मनुष्य भव पाने के बाद भी बाल्यावस्था व वृद्धावस्था में तो कुछ भी धर्म साधा होता ही नहीं है। युवावस्था में मानव गृहस्थी के चक्कर में पड़ा रहता है, घर के बोझ व स्त्री पुत्र के लालन पालन की चिंता से उस धर्म के लिए फुरसत ही नहीं मिलती है। इसके सिवाय दिन रात के चौबीस घंटाम से ६-७ घटे सोने में, २-३ घंटे खाने पीने में, १ २ घंटे शौच स्नान आदि में बाकी समय व्यापार या नौकरी आदि में चले जाते हैं। इस तरह से बहुत ही लब समय के पश्चात (अनत पुद्गल परावर्तन का समय बहुत ही लम्बा समय होता है गुरु महाराज से या शास्त्रों से जान लेवें) मिले हुए मनुष्य भव का तू सदुपयोग कर ले वरना दुबारा यह भव प्राप्त होना नितात कठिन है।

अधिकारी होने का प्रयत्न कर

गुणस्तुतीर्वाछसि निर्गुणो पि सुखप्रतिष्ठादि विनापि पुण्यम्।
अष्टांगयोग च विनापि सिद्धीर्वातूलता कापि नवा तवात्मन् ॥८॥

अर्थ—तू निर्गुणी है फिर भी गुण की प्रशसा सुनना चाहता है। पुण्य के बिना सुख और सम्मान चाहता है एव अष्टाग योग के बिना सिद्धियो की इच्छा रखता है। तेरा पागलपन तो कोई विचित्र सा लगता है। ८॥

उपजाति

विवेचन—बड़े बड़े लोगो को मोटर म घूमते व बगला म रहते देखकर तू भी वैसी इच्छा रखता है परन्तु हे पुण्य

धन्नाजी व शालिभद्रजी के पुण्य कितने प्रवल थे। उनको सब ही सुख प्राप्त थे फिर भी इस सासारिक सुख को छाडकर अव्याबाध सुख की प्राप्ति के लिए उन्होंने कदम उठाया। तरे म कोई गुण नही है सम्मान योग्य कोई कला या विद्या भी नही है फिर भी प्रशसा व सम्मान चाहता है यह तेरा पागलपन नही है ता और क्या है ? यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा व समाधि इन अष्टाग योगा क बिना तू सिद्धि चाहता है यही तो विचित्रता है ? प्रत्येक वस्तु की अभिलाषा की अपेक्षा अधिकारी बनना चाहिए।

पुण्य क अभाव से अपमान और पुण्यसाधन का अनुकरणीयपन

पदे पदे जीव पराभिभूती, पश्यन् किमीर्ष्यस्यधम परेभ्य ।
अपुण्यमात्मानमवैषि किं न, तनोषि किं वा न हि पुण्यमेव ॥६॥

अर्थ—हे जीव पद पद पर दूसरा द्वारा अपना अपमान देखकर तू अधमपन मे उन पर ईर्षा क्या करता है ? तू अपन आपके पुण्यहीनपन को क्या नही दखता है अथवा पुण्य ही क्या नही करन लग जाता है ? ॥ ६ ॥

उपजाति

विवेचन—अयोग्य होन स अपमान होता है अत अपमान करने वाले पर ईर्षा करन एव मन में आर्त्त रौद्र ध्यान करन की अपेक्षा उस अयाग्यता को मिटाने का उपाय करना चाहिए। गत भवो का पाप उदय में है अतएव अपमान होता है अत उन समस्त भवा के पापा लिए

पुण्य का सेवन करना चाहिए व ऐसे कम करा चाहिए जो पुण्यानुबधी पुण्य कराने वाले हो वैसे कम, धम के आधारभूत ही हो सक्ते ह ।

पाप से दु ख और उसका त्याग

किमदयभिदयमगिनो लघून, विचष्टसे कमसु ही प्रमादत ।
यदेकशोऽप्ययकृतादन सहत्यनतशोऽप्ययमदन भवे ।।१०।।

अथ—तू प्रमाद से छोट छोटे जीवो को पीडा देने के कामो म निदयपन से क्या प्रवत्ति करता है ? जो प्राणी दूसरे प्राणी को एक बार पीडा देना है वही पीडा उसे अनत बार अन्य भवो म सहनी पडती है ॥ १० ॥ वशस्थविल

विवेचन—प्रमादो का वणन पीछे आया है । उन प्रमादा मे हम अनेक छोट छोट जीवो की हत्या नित्य प्रति करते रहते ह और हम उसका कुछ भी विचार ही नही होता है न भय ही लगता है । इससे भी बढकर दु ख की बात तो यह है कि कई प्रकार के मनुष्य जो जीवहिंसा के धंध को अपनाए हुए ह, जीवो को मार कर ही अपना और अपने परिवार का पेट भरत ह वे कितने दया के पात्र ह । ओह ! उनके अधकारपूण क्रूर मन में जरासी दया की किरण भी नही है वे वेधडक बकरे, पाड मछलिया आदि मारते ह, खाते ह और बेचते ह । उनकी आत्मा पर पूण तरह से परदा पड गया है व दिन प्रति दिन वह पर्दा तीव्रतर होता जाता है । शुरूआत में प्रत्यक पाप करते हुए आत्मा को आघात लगता है, भय लगता है उसी वक्त यदि मन की

तरगा की परवाह न की जाय तो उस पाप से और भावी अनक पापो से बचा जा सक्ता है लकिन यदि मन की इच्छाग्रो की प्रवलता हो और व ग्रात्मा की वाता की परवाह नही करनी हो तब तो उस पाप और ग्रन्य पापो का भय मिटता जाता है और फिर तो पापा की शृखला बढती जाती है, गिनती ही नही रहती । किसी भारी पुण्योदय से किसी भव में जाकर ग्रात्मा को साधारण सा भान होता है कि मैं बुरा कर रहा हू मुझे सावधान होना चाहिए उस वक्त यदि सदगुरू या सदशास्त्रो का योग मिल जाता है तब तो ग्रात्मा का ग्रधकार धीमे धामे मिटने लगता है और ज्ञान का प्रकाश फलते फलते कुछ भवो में सपूर्ण ज्ञान दिवाकर का उदय हो जाता है ग्रर्थात केवल ज्ञान हो जाता है ।

हे प्राणी ! मानवभव में तू यदि उस सुग्रवसर का ग्रवलोकन करेगा तो एकदम प्रकाश नजर ग्राएगा और पिछले पापो को धाने की तुझे इच्छा उत्पन्न होगी यदि तू उस इच्छा के ग्रनुसार चलेगा तो तेरे द्वारा किए गए ग्रनेक भवो के ग्रनत पाप नष्ट हो जाएगें । यदि तू एसा नहा करता है तो यह जीवन भी भवा की परपरा की एक सख्या को भुगताकर खतम हो जाएगा और तू फिर भटकता ही फिरेगा । इसी विषय में महावीर प्रभु के हस्त दीक्षित शिष्य धर्मदासगणि ने कहा है कि—लकडी ग्रादि का प्रहार, प्राण हरण, झूठा कलक लगाना, परधन हरण ग्रादि जो एक बार किए जाते हैं उनका कम से कम उदय (जघन्य उदय) दस बार

रहा है और उनसे मीठा रहता हुवा भी धीरे धीरे उनका द्रव्य हरण कर अपने लिए नए बगले व मोटरें खरीदता है। उनकी प्राणप्रिय प्रियाओं और बच्चों का हिस्सा छीनकर उनको टुकडों का मोहताज कर देता है? बिचारा के बदन पर जाडे कपडे भी नहीं रहने पाते। तू उन्हीं के धन पर मौज उडाता है एव उनकी मूर्खता व अज्ञानता का लाभ उठाता है लेकिन विकराल काल तेरा इतजार कर रहा है। फिर तेरे ये बगले व मोटरें तो यहीं रह जायगी परन्तु तेरे काले कारनामें तेरे साथ जावेंगे और तुझे अनेक तरह के कष्ट देंगे। जन्म से अध, लगडे, बहरे, कोढी व टोंटो व रोगी और किसी धरती म से नहीं आते ह, पापी ही तो मर-मर कर उस दशा को पाते ह।

माना हुवा सुख—उसका परिणाम

आत्मानमल्पैरिह वचयित्वा प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्य ।
भवाधमे कि जन सागराणि, सोढासि ही नारककु खराशीन १२

अर्थ—हे मनुष्य! शरीर और मन के कल्पित सुखो द्वारा (जो कि बहुत ही कम ह) इस भव में तेरी आत्मा को ठग कर अधम भवो में सागरोपम तक नारकी के दुखो को तू सहन करेगा॥ १२॥ उपजाति

विवेचन—मनुष्य भी एक विचित्र प्राणी है। उसके सुख के साधनो और आशाओ का पार ही नहीं है। जिन्हें वह सुख मानता है थोडे काल बाद वे ही दुख के कारण बन जाते ह। भूख से दुखी था तो खूब पेट भर कर स्वादिष्ट

होता ही है और वे ही यदि तीव्र द्वष से किए गए हो तो सौ, हजार, लाख और करोड वार भी उदय में आते है ।

जैन शास्त्रो का मुख्य भार इसी पर है कि जीवो पर दया करो, स्वय तरो और औरो को भी तारो ।

प्राणी-पीडा और उसके त्याग की आवश्यकता

यथा सर्पमुखस्थोऽपि, भेको जन्तूनि भक्षयेत ।
तथा मृत्युमुखस्थोऽपि, किमात्मन्नर्दसेऽगिन ॥ ११ ॥

अर्थ—जैसे साप के मुह में रहा हुवा भी मेंढक अन्य जन्तुओ का भक्षण करता है वैसे ही हे आत्मा ! तू भी मृत्यु के मुख में रहा हुवा भी अनन्त प्राणियो को क्या पीडा देता है ? ॥ ११ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—स्वय मौत के मुख में फसा हुवा है, साप निगलने की तैयारी में है ऐसी दशा में भी मुख के पास उडते हुए मच्छरो का मडक खुशी खुशी खाता है, मान लो उसे मौत का भय ही नहीं है । वैसे ही हे मानव ! तू भी तो मृत्युरूपी विकराल काले सर्प के मुख में फसा हुवा है फिर भी मौज शौक में मस्त होकर अन्य जीवो का भक्षण कर रहा है विचारे गरीबो का खून चूस रहा है ! तेरी शिक्षा तुझे उन्मार्ग पर ले जा रही है जिससे मानव जाति के उपकार के बदले उनकी कठिन आवश्यकताओ व मुसीबतो का लाभ लेकर तू कानूनी दृष्टि से या वकालत मे या डाक्टरी की विद्या से या व्यापार की कला से उनका गला घोट

रहा है और उनसे मीठा रहता हुवा भी धीरे धीरे उनका द्रव्य हरण कर अपने लिए नए बगले व मोटरें खरीदता है। उनकी प्राणप्रिय प्रियाओ और बच्चो का हिस्सा छीनकर उनको टुकडो का माहताज कर देता है ? बिचारो के बदन पर जाडे कपडे भी नही रहने पाते। तू उन्ही के धन पर मौज उडाता है एव उनकी मूर्खता व अज्ञानता का लाभ उठाता है लेकिन विकराल काल तेरी इतजार कर रहा है। फिर तेरे ये बगले व मोटरें तो यहीं रह जायगी परन्तु तेरे काले कारनामें तेरे साथ जावेंगे और तुझे अनेक तरह के कष्ट देंगे। जन्म से अध, लगड, बहरे, काढी व टीबी के रोगी और किसी धरती म से नही आते है, पापी ही तो मर कर उस दशा को पाते हैं।

माना हुवा सुख—उसका परिणाम

आत्मानमल्पैरिह वचयित्वा प्रकल्पितैर्वा तनुचित्तसौख्य ।
भवाधमे किं जन सागराणि, सोढासि ही नारकदु खराशीन १२

अर्थ—हे मनुष्य ! शरीर और मन के कल्पित सुखो द्वारा (जो कि बहुत ही कम है) इस भव में तेरी आत्मा को ठग कर अधम भवो में सागरोपम तक नारकी के दुखो को तू सहन करेगा ॥ १२ ॥ उपजाति

विवेचन—मनुष्य भी एक विचित्र प्राणी है। उसके सुख के साधनो और आशाओ का पार ही नही है। जिन्हे वह सुख मानता है थोडे काल बाद वे ही दुख के कारण बन जाते है। भूख से दुखी था तो खूब पेट भर कर स्वादिष्ट

वस्तुओं को आकठ खा गया, वे नहीं पची और दस्तें लगनी शुरू हुई, दवाइया आने लगी और वह रोग शय्या पर जा पडा उसका सुख दुःख में पलट गया। मानव एकाकी व स्वावलबी न रह सका एव इंद्रिय जनित काम विकार को न जीत सका अत गहस्थाश्रम को सुख का साधन मानकर उसने विवाह किया। पहले स्वय के खाने पीने व रहने की चिंता थी अब दो की हुई। कमाई का अधिक भाग घरगृहस्थी के रग रगीले व सामान खरीदने में जाने लगा उसने नया घर बसाया, बाल बच्चे हुए और उसकी चिंतावेलडी के नई कूपल फूटने लगी। कमाई उतनी ही, खर्च अधिक। वज की रस्सी गले में बधती है, धीरे धीरे वह फासी का फन्दा बन जाती है। यह है मानव का माना हुवा सुख। तमाम दिन इसी उधेडबुन में रहने से आत्मा परमात्मा के विषय में सोच ही नही पाता व जसा आया था उससे भी खराब कर्म लिए चला जाता है परिणामत अनेक अधोगतियों में कई तरह के कष्ट सहता है। अत इस क्षणिक माने हुए सुख की अपेक्षा सच्चे सुख की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रमाद से दुःख—शास्त्रगत दृष्टांत

उरभ्रकाकिण्युदबिंदुकाम्र, वणिक्त्रयीशाकटभिक्षुकाद्य ।
निदर्शनर्हारितमर्त्यजन्मा, दुःखी प्रमादबहु शोचितासि ॥ १३ ॥

अर्थ—प्रमाद के द्वारा हे जीव ! तू मनुष्यभव को खो बठता है और इससे दुःखी होकर बकरे, काकिणी, जलबिन्दु

ग्राम, तीन वणिक, गाडी चलाने वाले तथा भिखारी आदि के दृष्टांत की तरह से बहुत दु ख पाएगा ॥ १३ ॥

उपजाति

विवेचन–प्रमाद से यह जीव दुर्लभ मनुष्य भव को खो बैठता है और नाव दिए गए दृष्टान्तों की तरह से पछताता है। ये दृष्टांत विशेषत मनन करने योग्य है। टीकाकार कहते है कि प्रमाद के वशीभूत हुवा यह प्राणी सुकृत नही करता है जिससे मनुष्य भव से पतित होता है व दुर्गति मे जाता है। वहा पछताता है जिससे कोई लाभ नही होता है। हमें भी मनुष्य भव मिला है अत कही पीछे पछताना न पडे इसलिए अभी से सावधान हो जाना चाहिए।

१ बकरे का दृष्टांत

किसी गाव में एक गृहस्थ के घर एक बकरा था जिसे बहुत खिलाया पिलाया जाता था। उसी के यहा एक गाय व बछडा था। बकरे की पूरी सार सभाल देखकर बछडे ने गाय से कहा कि हे माता मुझे तो मालिक पूरा दूध व दाना पानी भी नही देता है जब कि इस बकरे की कितनी सारसभाल की जा रही है ?" मा ने कहा "बेटे ! जैसे मृत्यु शय्या पर पडे असाध्य रोगी को सब कुछ खाने पीने की छूट दी जाती है और उसकी आशा तृष्णाए पूरी की जाती है वैसे ही इस बकरे को भी मारने के लिए ही मोटा ताजा किया जा रहा है, तू देखना इसका क्या हाल होता है।" थोडे दिनो के बाद वहां कोई बडा मेहमान आया उसके स्वागत के लिए उस बकरे

को मारा गया और उसका मांस भूनकर खाया गया। ठीक इसी तरह से हम भी यमराज के मेहमान के भोज्य बनने के लिए मस्त होकर खा पी रहे हैं, प्रमाद द्वारा उस बकरे की तरह मृत्यु का भान भूले हुए ससार में आनद मना रहे हैं।

२ काकिणी का दृष्टांत

एक गरीब मनुष्य धन कमाने के लिए परदेश गया। वह महा मुसीबत से एक हजार स्वर्ण मुद्रा कमा घर लौटने लगा, रास्ते में खर्च करने के लिए एक मोहर के रुपये कराए व एक रुपए की ८० काकिणी (सिक्का) मिलती थी वह ले ली। बाकी धन को एक बांस की नली में रख कर उसे अपनी कमर में बांध ली। चलते चलते उसके साथ वालो ने एक जगह पड़ाव डाला। वह गरीब हिसाब मिलाने लगा तो एक काकिणी कम हो गई। उसे याद आया कि पिछले पड़ाव पर एक वृक्ष के नीचे वह पड़ी रह गई है। उसने नली को एक वृक्ष के नीचे गाड़ दिया और उस एक काकिणी के लिए पीछे गया परंतु काकिणी वहा नही मिली। इधर लौटकर देखता क्या है कि वह बांस की नली भी नही है, किसी ने निकाल ली थी। इस तरह उस पुण्यहीन ने एक काकिणी के लोभ से एक हजार मोहरें खो डाली। इसी तरह से ससार के काम भोग काकिणी तुल्य हैं और दुर्लभ मानवभव हजार मोहरो के तुल्य है जो महान कठिनता से कई भवो के बाद मिला है अतः इसका सदुपयोग कर लेना चाहिए।

मत्री ने मना किया लेकिन राजा माना नही और आम के लोभ को न रोककर मृत्यु को प्राप्त हुवा। जैसे राजा ने जिह्वा के वशीभूत होकर अपने प्राण खाए वैसे ही हम भी सब तरह के विषयकषायो के वश में होकर—कर्मों की असाध्य बीमारी की परवाह न कर मानव भव को खा रहे हैं। हमें आम रूप विषयो के लिए जीवन न खो देना चाहिए।

५ तीन व्यापारियों का दृष्टांत

एक व्यापारी के तीन पुत्र थे। उनकी परीक्षा लेने के लिए उसने प्रत्येक को एक एक हजार स्वर्णमुद्राए देकर कहा कि इस धन से गुजारा चला कर इतने समय बाद वापस घर आओ। पहला समझदार था उसे कोई शौक या दुर्व्यसन नही था अत उसने व्यापार करके मितव्ययता से पर्याप्त धन पैदा किया। दूसरे ने सोचा कि मूल को खर्च न कर सारे नफे व ब्याज से आनंद करू। तीसरे ने सोचा कि खाओ पीओ लहर करो धन है जितने मौज उडाओ। उसने वैसा ही किया। निश्चित समय पर सब घर लौटे और पिता को अपना २ हिसाब बताया। पहले के पास खूब धन निकला, दूसरे के पास केवल मूल पूजी ज्यो की त्यो पाई गई परन्तु तीसरे के पास से फूटी कौडी भी नहीं मिली। परिणामत पहला धनवान व यशस्वी होकर स्तुति का पात्र बना, दूसरा साधारण स्थिति का माना गया और तीसरा निंदित होकर घर से निष्कासित हुवा। जो जीव मनुष्य भव पाकर धर्म ध्यान करते हैं वे प्रथम भाई के समान आते भव को सुखी करते हैं, जो

धम नही करते हं लेकिन पाप भी नही करते हं वे द्वितीय क समान हं। जा धम तो नही करत वरन अनेक पाप करते ह, जीव हिंसा करत हं झूठ कपट सेव्यवहार करते ह व तीसरे भाई क समान मूल पूजी (मानव भव) को खोकर नरक आदि की तयारी करते ह।

६ गाडीवान का दृष्टात

एक गाडी वाला किसी गाव से दूसरे गाव को जा रहा था। उस गाव के दो माग थ। एक पथरीला, खडड वाला व खराब था, दूसरा अच्छा था। दोना को वह जानता था लेकिन वह जानबूझ कर प्रथम माग पर अग्रसर हुवा। परिणामत राह में पत्थरों के कारण गाड की धुरी (लोहे की धुरी जो दोना पहिया को जोडती है—गाडे का आधार) टूट गई और वह जगल में अकेला ही भटकता रहा। इसी तरह से कई विद्वान व शास्त्रज्ञ धम के मम को जानते हुए भी विपरीत माग अगीकार करते ह वे जानते हं, कि मोह और प्रमाद से ससार वढता है यह माग खराब है। दूसरा माग शम, दम, दया, दान व धय युक्त होने से पुण्य का है परन्तु प्राय करके जानकार मनुष्य तक गाडी वाले की तरह प्रथम माग का अनुसरण कर ससार वन में भटकत ह।

७ भिक्षुक का दृष्टात

एक दरिद्र भिखारी अन्न का भी मोहताज था। एक बार वह किसी यक्ष के मदिर के पास सोया ही था कि क्या देखता है एक विद्यासिद्ध पुरुष घड की सहायता से

वस्तु प्राप्त करता है। देखते ही देखते वहा एक सुदर स्त्री व खाने पीने की सामग्री आ गई व सुबह होते ही वापस लुप्त हो गई। प्रात काल उसने उस सिद्ध पुरुष की सेवा करके यह घडा प्राप्त किया जिससे वह भी अपने घर जाकर भव्य मकान व सुख सामग्री प्राप्त कर अच्छी स्थिति में आ गया। धन मिलते ही उसको दुश्मनो ने आ घेरा, मौज शौक के सिवाय वह पापाचरण भी करने लगा व एक दिन मद्यपान करके उस घड को सिर पर लेकर नाचने लगा अत में वह घडा फूटा और साथ ही उसका भाग्य भी फूटा। वह पहले जैसा था वैसा का वैसा निधन हो गया। यह मानव भव कामकुभ है। जो सुख सामग्री पाकर उसके नशे में नाचते है वह मानव भव को व्यर्थ खोते है तथा उस भिक्षुक की तरह पछताते है।

८ दरिद्र कुटुम्ब का दृष्टात

किसी गाव में एक दरिद्र कुटुम्ब रहता था। किसी त्योहार के दिन उस कुटुम्ब के लोग एक गृहस्थ के घर गए और दूध पाक (खीर) बनता हुवा देखकर उन्हे खाने की अभिलाषा हुई। घर आकर सबने निर्णय किया कि चाहे भीख भी माग कर सब वस्तुए लावे लेकिन दूध पाक जरूर बनाकर खाव। सब एक एक वस्तु माग लाये और उन्होंने दूध पाक बनाया। जीवन में पहली बार उत्तम वस्तु बनाई थी अत सबकी इच्छा अधिक से अधिक मात्रा में उसे खाने की हुई और भीख के प्रमाण से दूध पाक बांटने का उन्होने विचार किया लेकिन समस्या आपस में न सुलझने से कचहरी की

गरण में गए और पीछे लौटकर क्या देखते हैं कि कुत्ता ने सब विवाद निपटा दिया है अर्थात उस विवाद की जड दूध पाक को वे चाट गए हैं। सबने पछतावा किया कि इतने कठिन परिश्रम से निलज्ज होकर भीख मागकर भी जिस उत्तम वस्तु को जीवन में प्रथम बार बनाया उसे चख भी न सके। हाय हमारी आशा व महनत व्यर्थ गई। इसी प्रकार से हम भी महान प्रयत्न से मिले हुए मनुष्य भव को व्यर्थ न जाने दें नहीं तो इस दरिद्र कुटुम्ब की तरह पछताना पडेगा।

६ दो वणिको का दृष्टात

किसी गाव में दो निर्धन वणिक रहते थे। उन्होंने एक यक्ष की उपासना कर उसे प्रसन्न किया। यक्ष ने कहा कि 'काली चवदस के दिन तुम एक एक गाडा तयार कर रखना, मैं तुम्हें गाडों सहित रत्नद्वीप को ले जाऊगा और दोपहर (६ घटे) के बाद वापस यहा छोड दूगा। तुम अपनी इच्छा नुसार रत्नो से गाडे भर लेना'। निश्चित दिन दोनो वणिकों को रत्नद्वीप पहुचाया गया। जसे वे लोग वहा पहुचे तो क्या देखते हैं कि दो सुन्दर पलग सुगधित पदार्थ से वासित हुए गदलो से ढके हुए बिछे हुए हैं, एक को बहुत नीद आ रही थी, उसने सोचा ६ घटों में से एक घटा नीद ले लू बाद में रत्न एकत्रित करूगा और वह सो गया। दूसरा तो उसी समय से ही रत्न बटोरने में उद्यत हुआ और गाडे में रखने लगा। समय पूरा होने पर यक्ष ने दोनो को गाडो में डाला और जहा से चले थे वहीं छोड दिया।

परिणामत दूसरा धनवान और सुखी हुआ। पहला जैसा था वैसा ही रहा और दूसरे से ईर्षा करने लगा एव मिला हुआ अवसर खोकर पछताने लगा। इसी तरह से मानव भव का सदुपयोग न करेंगे तो हम भी पछताना पडेगा। शुद्ध देव गुरु धर्म ये रत्नद्वीप है, धर्म ही धन है। जो सावधान होकर व प्रमाद छोड कर इस धन को एकत्रित करते है वे दूसरे वणिक की तरह सुखी होंगे और जो ससार की मोह निद्रा मे सोते रह जाएगे वे पहले की तरह पछतायेंगे।

१० दो विद्याधरो का दृष्टान्त

वैताढय पर्वत पर दो विद्याधर (देव) रहते थे। गुरु-जनों की सेवा कर उन्होने विद्या प्राप्त की व उस विद्या की सिद्धि के लिए दो चण्डाला से विवाह की प्रार्थना कर दो कन्याए प्राप्त की। ६ मास तक साधना करते हुए एक तो ब्रह्मचारी व दृढ रहा, दूसरा चडाल कन्या के हाव भाव व मोह में फस गया और चण्डाल कन्या के ससर्ग से भ्रष्ट होकर उस विद्या व पूर्व सिद्ध सभी विद्याओ को खो बैठा। प्रथम स्वस्थान में जाकर सब तरह से सुखी व राजा हुआ जब कि दूसरा चण्डाल बनकर वही रह गया। जैसे दूसरा विकार के वशीभूत होकर दोनो तरफ से भ्रष्ट हुआ और इन्द्रिया पर अकुश रखने से पहला सुखी हुआ वैसे ही मनुष्य भी सब तरह के सामान व साधन मिलने पर जरा से लालच के कारण भ्रष्ट होता है और जीवन को घृणित व भ्रष्ट बना देता है। अत हमें इस उदाहरण को पूरी तरह समझ कर मानव भव का सदुपयोग करना चाहिए।

११ भाग्यहीन का दृष्टांत

अनेक देवों की उपासना के पश्चात एक भिखारी को चिंता मणिरत्न (मनोवांछित देने वाला) की प्राप्ति हुई। एक बार वह जहाज में बैठा हुवा समुद्र की सफर कर रहा था। पूर्णचन्द्र को निर्मल आकाश में देखकर वह सोचता है कि चंद्र की कांति अधिक है या मेरे रत्न की ऐसा सोचता हुवा वह उससे खेलता है, उसे उछालता है परंतु अचानक वह रत्न समुद्र में जा गिरता है और वह पहले जैसा भिखारी बन जाता है मनुष्य भव में जैन धर्म चिंतामणि रत्न के बराबर है। जो प्रमाद व कषाय के द्वारा इस धर्म रत्न को खो देता है वह मानव भव को खोकर नरक आदि में जाता है व दरिद्री की तरह अनेक भव भवांतर में भटकता है।

शास्त्रकारों ने अनेक दृष्टांतों द्वारा हमारा उपकार किया है। सबका सार यही है कि विषयों के वश न होना मन पर काबू रखना, अपनी जुम्मेदारी समझना, मनुष्यभव और देव गुरु धर्म की प्राप्ति की दुर्लभता समझ कर इन्हें व्यर्थ न जाने देना।

मनुष्य भव बार बार नहीं मिलता है अतः हर क्षण आत्म विचार करना चाहिए, आत्म निरीक्षण करते हुए और मोह मदिरा से दूर रहते हुए आते भव के लिए कुछ सत्कर्म कर लेना ही श्रेष्ठ है।

(४) पक्षी रसनेंद्रिय के वशाभूत होकर दाना खाने के लोभ म शिकारी की जाल में फस जाते ह। दाना तो नजर आता है परतु जाल नजर नही आती है। इस धन तो नजर आता है लेकिन मौत नजर नही आती है। लोभी की एक ही आख खुली रहता है।

(५) सप—वर्णेंद्रिय के वशाभृत होकर—सपेरे की पूगा मे आकर्षित होकर पकडा जाता है तथा बधन या वध को पाता है।

(६) मछली—रसनेंद्रिय क वश स मच्छीमार के काट पर लग हुए आट को तो देखती है लेकिन काट को न देखकर प्राण खाती है।

(७) हाथी—स्पर्शेंद्रिय के वशीभत हुवा दूर खड्डे में खडी हथिनी को देखता है और उसके मूत्र को सूघता हुवा वहा जाने का प्रयत्न करता है, घास म ढके हुए खड्डे का विचार नही कर सीधा भागता है और फस जाता है। वह काम विकार से कसी दुदशा को पाता है।

(८) सिंह—रसनेंद्रिय के वश हुवा सिंह जगल म शिकारियो द्वारा रख गए पिंजरे के पास आता है और उसम रह हुए बकरे की तरफ ललचाता है। जसे ही वह उसमें घुसता है फाटक बद कर दिया जाता है। पिंजरे के दो भाग होन स बकरे के पास तो वह पहुच नही पाता है, उल्टा स्वय उसमें फस जाता है।

इन दृष्टांतो म अवश्य शिक्षा लकर हमें सावधान हो जाना चाहिए।

प्रमाद—त्याग

पुरापि पाप पतितोऽसि दुःखराशौ पुनर्मूढ ! करोषि तानि।
मज्जन्महापङ्किलवारिपूरे, शिला निज मूर्ध्नि गले च धत्से ॥१५॥

अर्थ—हे मूढ ! पहले भी तू दुःख समूह म पड़ा है और फिर भी उनको (पापो को) कर रहा है। महा कीचड़ वाले पानी क प्रवाह म गिरते हुए वास्तव में तून अपने गल और मस्तक पर बड़ी शिला धारण कर रखी है ॥ १५ ॥

उपशान्ति

विवेचन—हे मूढ ! तून पहले भी पाप किए थ जिसस दुःख म पड़ा है और अब उनसे दूर रहन की अपेक्षा फिर भी वही किए जा रहा है जसे कि कोई आदमी गहरे कीचड़ के नाले में अकस्मात आ गिरा हो और उसके गले में पत्थर बधा हो व सिर पर शिला धरी हो तो वह वहा से निकलने को अपेक्षा अधिक अधिक गहरा जाएगा तथा उसका पता भी हाथ नहीं लगेगा। पापी डूबता डूबता भी एसे पाप करता है कि जिससे वह अधिकाधिक संसार क दुःखो म गिरता है।

सुख प्राप्ति और दुःख नाश का उपाय

पुनःपुनर्जीव तवोपदिश्यते, बिभेषि दुःखात्सुखमीहसे चेत्।
कुरुष्व तत्किंचन येन वाञ्छितं, भवेत्तवास्ते वसरोऽयमेव यत् ॥१६॥

अर्थ—हे जीव ! तुझे बार बार उपदेश दिया जाता है कि यदि तू दुःखों म डरता है और सुखों को चाहता है और

कुछ ऐसा कर कि जिससे तुझे इच्छित फल की प्राप्ति हो ! तेरे लिए उसकी प्राप्ति का यही योग्य अवसर है ! ॥ १६ ॥

वंशस्थ

विवेचन—सुख की प्राप्ति के लिए तुझे ऐसे सुयोग (पचेंद्रियपन, आर्य क्षेत्र, मनुष्य भव, वीतराग का धर्म, सत्य उपदेशक) साधन मिले है अत तुझे ऐसा (तप, सयम, धृति व्यवहार शुद्धि, विरति) कर लेना चाहिए जिससे तेरा मनोवांछित (आत्मसुख सच्चिदानद) प्राप्त हो । अवसर बीतने के बाद कुछ भी न होगा ।

सुख प्राप्ति का उपाय

धनाङ्गसौख्यस्वजनानसूनपि, त्यज त्यजैकं न च धर्ममार्हतम ।
भवन्ति धर्माद्धि भवे भवेऽर्थिताऽयमूयमीभि पुनरेव दुर्लभ ॥१७॥

अर्थ—धन शरीर सुख सग सबधी और यह प्राण भी छोड देना, परतु एक वीतराग अर्हत परमात्मा के बताए हुए धर्म का न छोडना, धर्म से भवाभव में ये धनादि तो मिलेंगे लेकिन इन (धनादि) से धर्म मिलना दुर्लभ है ॥ १७ ॥

वंशस्थ

विवेचन—ओह ! मानव प्राणी मूल को न देखकर केवल डाली व पत्ता की ही रक्षा करता है, वह शरीर व उसके आनद के साधनों को जुटाने मे व्यस्त रहता है लेकिन धर्म को कुछ गिनता ही नही है । बिना धर्म के ये सब वस्तुए नष्ट हो जाती हैं अत इन सबके मूल एक मात्र धर्म को नही छोडना चाहिए, अन्य सब तो इसके आधार पर ही हैं मूल

होगा तो पत्ते व डालियां सब अपने आप आते रहेंगे, अत तू सवस्व भी छोड देना परन्तु धम को न छोडना।

सकाम दुख सहन के लाभ

दुख यथा बहुविध सहसेऽप्यकाम,
काम तथा सहसि चेत्करुणादिभाव ।
अल्पीयसापि तव तेन भवांतरे स्या
दात्यन्तिको सकलदुखनिवृत्तिरेव ॥ १८ ॥

अथ—जस तू किनत हो दुख बिना इच्छा स सहता है वस हो यदि तू करुणा आदि भावना स इच्छा पूवक थोडे से भी दुख सहन करेगा ता अ य भव में हमेशा क लिए सब दुखा से निवृत्त हा जाएगा ॥ १८ ॥ वसततिलका

विवेचन—हे प्राणी ! जसे तू गहस्थाश्रम का निभाने क लिए या अपन माने हुए बडप्पन को टिकाए रखने के लिए या लोगा से सदा यशकीर्ति सुनत रहन क लिए, अच्छी आर्थिक स्थिति होन हुए भी और धन पैदा करता हुवा अनेक कष्ट व परिश्रम उठाता है। निधन होन पर धन की पूर्ति के लिए सर्दी गर्मी गुलामी आदि कष्ट व पराभव सहता है जो कि तुझ विवश होकर सहने पडत ह, यद्यपि इन सबसे प्राप्त होने वाले अशाति मिश्रित पुदगल पदाथ तेरे लिए वास्तव में कुछ भी हित नहो करन वाले ह अत यदि तू इच्छापूवक मत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ इन चारो भावनाओं को भाता हुवा कष्ट सहता है या तप आदि करता है तो उस तप के प्रभाव से अ य भवो में किसी भी प्रकार के

ष्ट तुझ नहीं होंगे और तू परम शांत, आनंद ध्रुव पद का ाप्त करेगा।

सकाम शब्द का अर्थ यहां यह है कि इच्छापूर्वक समझ र किया हुवा, बिना सांसारिक अभिलाषा का काम। ौद्गलिक पदार्थों की अनेच्छा व केवल कर्म क्षय की ही च्छा से जान बूझकर जल्दी से जल्दी कर्म रहित होने के लिए किये जाने वाले तप सकाम हैं। जब आत्म जागृति प्राप्त हो ाती है तब बिना धारणा से भी शुद्ध बरताव ही होता है, ब कर्म क्षय की इच्छा भी नहीं रहती है। अकाम शब्द का अर्थ ; बिना तप के, स्वभाव से ही कर्म का क्षय होना, जिस कर्म ी जितनी स्थिति है वह भुगतने के बाद वह आत्मा से लग हो जाता है। आत्म दशा का भान न होने से प्राणी ८४ लाख जीवा योनि में इसीलिए भटकता है और भटकते ुए नए कर्म बांधता जाता है, पिछले कर्म पूरे भुगत भी नहीं ाता है कि पल पल में नए बांधता जाता है अतः संसार का वरूप समझ कर सकाम निर्जरा से भवचक्र को समाप्त करना चाहिए। जैसे आम केला आदि फल वृक्ष पर लगे हते हुए भी पकते हैं लेकिन उनका व्यापार करने वाले लोग ूरे पकने से पहले ही तोड़ कर उन्हें विधि से पकाते हैं व वक्त र पकने के टाइम से पहले ही उनको पका लेते हैं वैसे ही ात्मार्थी लोग कर्म को रोते हुए भुगतने की अपेक्षा तप ंयम द्वारा उसे शीघ्र नष्ट कर देते हैं इसी का नाम सकाम निर्जरा है। फलों का वृक्ष पर अपने अपने आप पकना यह अकाम निर्जरा का दृष्टांत है।

पाप कर्मों में चतुराई दिखाने वालों के लिए

प्रगल्भस कमसु पापकेष्वरे, यदाशया नम न सद्विनानितम्।
विभावयस्तच्च विनश्वर द्रुत, बिभषि कि दुर्गतितु ग्यतो न हि १६

अर्थ—जिस सुख की इच्छा स तू पाप कर्मों म मूरता से लवलान होना है, व सुम जीवन क बिना किसी काम क नहो ह और जीवन ता शोघ्र नाश होन वाला है एसा जब तू समझता है तब हे भाई ! तू दुर्गति के दुखो स क्यो नहो डरता है ? ॥ १६ ॥ वंशस्थ

विवेचन—जब तक इस शरीर में सुख का अनुभव करने वाला शक्ति अर्थात आत्मा है तभी तक तेर सुख काम के ह मृत्यु के बाद व साथ आते नहीं ह परन्तु उन सुखो को प्राप्त करते हुए जो तू न पाप अनाचार भ्रष्टाचार किए ह व तो साथ आवेंग ही। जरा सोच, किसी न किसी प्रकार स एकत्रित किए गए तेरे आराम क साधन तो इस जीवन तक हो साथ रहग लेकिन उनको प्राप्त करने में किए गए पाप कई भवो तक तेरे साथ रहकर तुझ उन सुख साधनो से दूर रखते रहेंगे। यह जीवन नाशवान होन से उन सबको तू छोडकर जावेगा ही यह तू जानता भी है फिर भी दुर्गति स क्यो नही डरता है ? आह ! इन पुद्गल पदार्थो के मायपन में तू कितना खो गया है। तू मानता है कि म मरगा ही नहीं और ये बगले, मोटर रेडियो या बाग बगीचे हमेशा मेरे पास रहेंगे। तू भूला है, जिनको अपना मान रहा है वे तेरे ह ही नहीं, तू मरा नहीं कि दूसरे मालिक बने

से ग्रहण कर लिया है। देखते ही देखते वे मर गए हम रोते रह गए। कोई घर पर मरा, कोई परदेश में मरा, कोई डूब कर मरा, कोई जलकर मरा कोई टी० बी० से मरा तो कोई हैजे से मरा। कइयों को हमने चिता में रखकर अपने हाथों से जलाया निरीह बच्चों को जमीन में गाड़ा उस वक्त तो वैराग्य उत्पन्न हुवा कि संसार असार है, सब झूठा है लेकिन फिर गाव की हवा लगी नहीं कि विचार बदल गया। हम भूल जाते हैं कि हम भी मरना है? चाहे भूलें चाहे याद रखें, सावधान रहें या असावधान निश्चित ही एक न एक दिन तो हमको मृत्यु का मेहमान बनना ही है तो फिर क्यों न दूसरों की मृत्यु से शिक्षा प्राप्त कर बार बार जन्म मरण की उपाधि में से बाहर निकलें अथवा मोक्ष का प्रयत्न क्यों न करें।

पुत्र-स्त्री या संबंधों के लिए पाप करने वालों को उपदेश

य विलश्यसे त्वं धनबन्धपत्य यश प्रभुत्वादिभिराशयस्थ ।
किमपि हि प्रेत्य च तद्गुणस्ते, साध्यं किमायुश्च विचारयैवम् २२

अर्थ—आशा और कल्पना में रहे हुए धन सगे संबंधी, पुत्र, यश, प्रभुत्व आदि से तू क्लेश पाता है, परन्तु तू विचार तो कर कि इस भव में और परभव में उनसे कितना लाभ उठाया जा सकता है और तेरा आयुष्य कितना है? ॥ २२ ॥

उपजाति

विवेचन—अपने माता पिता, पुत्र, स्त्री, संबंधी को प्रसन्न रखने के लिए या उनके लिए ये धन कमाकर व भवन बनाकर

अनेक प्रकार की सुख सामग्री छाडकर जान के लिए हम सदा मेहनत करते ह परन्तु अपने लिए कुछ भी नही करते ह हम मोचते ह कि जरा से व्यवस्थित हो जावें तब धम करग लेकिन कालदेव हमारे लिए प्रतीक्षा नही करेगा, चाहे हमारा काम पूरा हा या अधूरा वह तो ल ही जावगा अन इन मान हुए सुखो में लिप्त न हाकर आत्म हित कर नेना चाहिए।

परदेशी पथिक का प्रम हितशिक्षा

किमु मुह्यसि गत्वर पृथक कृपणबन्धुवपु परिग्रहे ।
विमशस्व हितोपयोगिनोऽवसरऽस्मिन परलोकपाथ रे ॥२३॥

अर्थ—हे परलाक के पथिक! अलग अलग चले जान वाले और तुच्छ स्वभाव के बधु शरीर और वभव से तू क्या माहित हाता है? इस समय में (पर भवरूपी विदेश यात्रा में) तेरे सुख में जा वास्तविक वृद्धि कर सकत हा ऐस उपाया का विचार कर ॥ २३ ॥ गीति

विवेचन—रात्रि भर विश्राम लेने वाले सराय के मुसा फिरा का तरह या जगल में चरते हुए दुपहर को आराम लने वाल पशुओ की तरह या रेल्वे प्लेट फाम पर गाडी की प्रतीक्षा करने वाले मुसाफिरा की तरह ये तेरे कुटुबी बधु बाधव भी सदा साथ रहने वाले नही है सब ही अलग अलग गति में जाने वाले ह तेरा इनका सपर्क अल्पकाल के लिए है अत तू उनके मोह जजाल स दूर रहकर अपने गतव्य का सुधार ले। हे परभव के पथिक! तू अकेला आया है और अकेला जाएगा, तेरा कोई साथ देने वाला नही है अत 'अपना भला

बुरा विचार कर सच्चा उपाय कर नही तो वह समय समीप आ रहा है जब कि तुझे यहा से कूच करना है और यहा के किए हुए भले बुरे कर्मों को भुगतना है ।

आत्म जागृति

सुखमास्से सुखं शेष, भुङ्क्षे पिबसि खेलसि ।
न जाने त्वग्रत पुण्यैर्विना ते किं भविष्यति ॥ २४ ॥

अर्थ—(अभी तो) सुख से बैठता है, सुख से सोता है सुख से खाता है सुख से पीता है और सुख से खेलता है परन्तु भविष्य में पुण्य के बिना तेरे क्या हाल होंगे यह मैं नही जानता हूँ ॥ २४ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—जैसे किसी दरिद्री भिखारी को कुछ रुपये मिल जाय और वह उन रुपयो को एक ही दिन में खान पीने व मौज मे उडा दे उसकी कल क्या स्थिति होगी जिसका भान उसे नही है, वैसे ही तू भी सासारिक मौज शौक में मस्त होकर खा पी रहा है और अपने पुण्य धन को खर्च कर रहा है भविष्य के लिए नए पुण्य नही बाध रहा है इसलिए मैं नही जानता हू कि तेरी क्या दशा होगी ?

थोडे कष्ट से तो डरता है और बहुत कष्ट हों, वसा करता है

शीतात्तापान्मक्षिकाकर्त्तृणादि स्पर्शाद्युत्थात्कष्टतोऽल्पादिबिभेषि ।
तास्तास्तैश्चैभि कर्मभि स्वीकरोषि श्वभ्रादीनां वेदना धिग् धियं ते

अर्थ—सर्दी, गर्मी, मक्खियो के डक और कठोर तृण के स्पर्श से बहुत थोडे और अल्प काल तक रहने वाले कष्ट

मे ता तू डरता है और जब कि तेरे खुद क कृत्या स होने वाले नरक निगोद क महाकष्ट को अंगीकार करता है। धिक्कार है तेरी बुद्धि को ॥ २५ ॥ शालिनी

विवेचन—तू सर्दी, गर्मी को दूर हटाने के लिए आधुनिक साधनो का उपयोग करता है कमरे में एक भी मच्छर या मक्खी न आ जाय उसका ध्यान रखता है (कोई २ तो जन्तु नाशक पदार्थ भी छिड़काते है) और हर प्रकार से कष्ट से दूर रहने का उपाय करता है जाड़े कपड़े और मोटे अन्न तुझे नहीं रुचते हं, मोटी रोटी और सादे आहार से तुझे घृणा है इतने आराम से तू रहना चाहता है लेकिन इन थोड़े से कष्टों की चिन्ता करने वाले हे बुद्धिमान तू अपने ही कुकृत्यो से बहुत कष्टदायी और बहुत लम्बे समय तक भुगते जाने वाले महा दुखो का संग्रह कर रहा है, धन्य है तेरी बुद्धि को ! येन केन प्रकारेण धन पैदा कर तू यश पाना चाहता है, बुद्धिमानी से गरीबो का चूसकर दिखावे के लिए अस्पताल खोलता है, दान की बड़ी बड़ी रकमों की घोषणा करता है परन्तु हे मित्र तेरे यह लोक दिखावे के कारनामे असली पाप को धो नही सकेंगे अतः तू तपस्या द्वारा अपने दुष्ट कर्मों को हटा। साधु अवस्था में छुपे अनाचारो या व्यभिचारो से बचकर रह तेरी यह वाह वाह भले लोगो की आंखो में धूल डालती हो लेकिन तेरी खुद की आंखो के लिए तो अंजन का काम देगी। तू जरा सा तप करता है तो श्रावको से अठाई महोत्सव कराता है, बड़ी बड़ी कुंकुम पत्रिकाए

छपवाता है और अपने नाम की कीर्ति दिगत में पहुँचाता है, इससे तेरा स्वय का हित कुछ भी नहा है अत हे बुद्धिमान इन तपादि के साधारण कष्टो से जिन्हे तू जानबूझकर सहता है, मत डर और नरकादि महान कष्टो से दूर रहने का उपाय कर। तेरी माला, पाठ पूजा ओलिया या उपधान तुझे तब तक नही बचा सकेंगे जब तक कि तू उन्हे समझकर वीतराग के फरमाए हुए मार्गों व भावनाओ से न करेगा यदि दिखावा किया तो उनका फल कपूर की तरह उड जाएगा और तेरा सहन किया हुवा कष्ट निरर्थक जाएगा अत आत्म जागृति से क्रिया सब कर, कष्ट सहन कर, डर मत कल्याण निश्चित है।

उपसहार—पाप का डर

क्वचित्कषाय क्वचन प्रमाद, कदाग्रहै क्वापि च मत्सराद्य ।
आत्मानमात्मन् कलुषीकरोषि, बिभेषि धिङ् नो नरकादधर्मा २६

अर्थ—हे आत्मन ! कभी कषाय करके कभी प्रमाद करके, कभी हठ करके और कभी मात्सर्य करके तू अपने आपको मलिन (अपने आत्मा को कलुषित) करता है ! अरे तुझे धिक्कार है। तू ऐसा अधर्मी है कि नरक से भी नहीं डरता है ? ॥ २६ ॥ उपजाति

विवेचन—ससार मे रहते हुए अनेक कारणो से तू अपने आपको कलुषित करता है व सच्ची शान्ति को खो देता है। तेरे पर एक ऐसा नशा छाया रहता है कि तू अपने आपको

भूल जाता है और धन, धान्य, स्त्री पुत्र, आदि के लिए अनेक तरह की मेहनत करता है। तुझे ऐसा प्रमाण होना है कि, "मैं कभी मरूंगा ही नहीं, मेरे किए हुए अच्छे बुरे कामों का फल मिलेगा ही नहीं, जो कुछ मैं कर रहा हूं वह सब ठीक है, परन्तु हे सच्चिदानंद आत्मा! तू जाग, मोह नींद को त्याग कर विवेक दृष्टि से देख कि वास्तविकता किसमें है! इलायची कुमार मोहांध होकर बारह वर्ष तक नट कन्या से विवाह करने के विचार से ज्ञान शून्य रहा—उस नशे में उसने घर-बार माता पिता धन-संपत्ति लोक-लाज सब छोड़ दी परन्तु जब खेल करते हुए बांस पर चौथी बार चढ़ना है और एक मुनिवर को रूप सुंदरी के सम्मुख एकांत में नत नयना देखता है, तब उसे वैराग्य आता है व विवेक-दृष्टि प्राप्त होती है वह कहता है कि ओह मेरी मोहदशा को धिक्कार है! वैसे ही तुझे भी कई दृश्य ऐसे नजर आते हैं जिनमें सहज वैराग्य उत्पन्न होता है जैसे कि किसी रोग ग्रस्त हाड पिंजर वृद्ध को देखकर, से मोटर के नीचे कुचले हुए मृत प्राय कुत्ते को देखकर कोढ़ से गले हुए अंगो वाले मानव कलेवर को देखकर अस्पताल में मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए तीसरी श्रेणी के क्षय रोगी को देखकर। हे भाई! यदि तुझे इन सब दुखों से निवृत्त होना है तो क्रमशः सांसारिक आसक्ति से दूर होकर वीतराग की उपासना कर। वैराग्य तीन प्रकार के होते हैं—१ दुःख गर्भित, जो इष्ट वियोग अनिष्ट योग से होता है। २ मोहगर्भित, जो आत्मा के विपरीत स्वरूप का

वास्तविक ज्ञान न होने पर होता है। तीसरा ज्ञानगभित तीसरे प्रकार के वैराग्य से ही भव भ्रमण मिटता है व अनत सुखरूप मोक्ष प्राप्त होता है। यह निश्चित है कि हम यहा से जायेंगे जरूर और स्वकर्म भी जरूर भुगतना पडेगा तो फिर सद्कर्म द्वारा सद्गति में जाना ही सर्वश्रेष्ठ है।

इति दशम वैराग्योपदेशाधिकार

अथैकादशो
धर्मशुद्ध्युपदेशाधिकारः

[धम शुद्धि के बिना वराग्य भाव या मनोनिग्रह नही हो सकता है। शुद्ध देव, गुरु, धम को पहचान कर आग चलना यह प्रथम श्रणी है अत सवप्रथम धम शुद्धि क्यो और कसे करना चाहिए इसका उपदेश शास्त्रकार देत ह]

धम शुद्धि का उपदेश

भवेद्भवापायविनाशनाय य, तमज्ञ धम कलुषीकरोषि किम ।
प्रमादमानोपधिमत्सरादिभिन मिश्रित ह्यौषधमामयापहम ॥१॥

अथ—हे मूख ! जो धम तेरी सासारिक विडम्वनाओ को नाश करन वाला है उस धम को तू प्रमाद मान, माया, मात्सय आदि के द्वारा क्या मलीन करता है ? जसे (विरुद्ध द्रव्य) मिश्रित औषधि व्याधि का नाश नहीं कर सकती है। ॥ १ ॥ वशस्थविल

विवेचन—धम शब्द का अनेक तरह स अथ होता है, एक अथ स्वभाव भी होता है। वस्तु के स्वभाव को उसका धम कहते ह जस अग्नि का धम उष्णता, जल का शीतलता,

जड का बदलना नष्ट होकर फिर बनना वसे ही आत्मा का धम सत् चित्त आनद है। शास्त्रों की परिभाषा में कहता, धारयतीति धम (नरक निगाद आदि) अधोगति में पडते हुए जीव को जो धारण करता है (बचाता है—स्थिर रखता है) वही धम है। श्री वीतराग प्रणीत वचनानुसार मन वचन काया का शुद्ध व्यापार ही धम है। वसे शुद्ध धम को हे मूख तू प्रमाद, मान, माया, मात्सय आदि के द्वारा क्या मलीन करता है ? जसे विपरीत स्वभाव वाले पदाथ से मिश्रित औषधि व्याधि का नाश नही कर सकती है वसे ही दुर्गुणो से मिला हुआ धम भी आत्मा का हित नही कर सकता है। धम का अथ कत्तव्य है। अपने कत्तव्य को पूरा पालना ही धम है। सत्य बालना चोरी न करना किसी को नही ठगना यह कत्तव्य है। यदि हम वसा करते ह तो किसी पर एहसान नही करते हं यह तो हमारा फज है क्योकि आत्मा का स्वभाव ही यही है। पूजा, माला, पाठ, सामायिक आदि करना भी कत्तव्य ही है, आत्मा को अधोगति में स बचाने के लिए ये आवश्यक ह। यदि ये सब धार्मिक क्रियाए तो करते हो लेकिन जीवन व्यवहार में झूठ, कपट या ठग वत्ति करते हो, किसी के विश्वास व भालेपन का दुरुपयोग करते हो तो हमारे सब धार्मिक काम निरथक ह। कोई यदि ये क्रियाए न भी करता हो लेकिन जीवन में नीति से, सत्यता से वरतता हो तो वह अधिक उत्तम है। बक भक्ति से आत्मा का कुछ भी लाभ नही होता है।

शुद्ध पुण्य जल में मल

शथिल्यमात्सर्यकदाग्रहक्रुधो नुतापमदभाविधिगौरवाणि च ।
प्रमादमानौ कुगुरु कुसगति , श्लाघार्थिता वा सुकृते मलाइमे ॥२॥

अर्थ—सुकृत में इतने पदार्थ मल रूप ह—शिथिलता, मत्सर कदाग्रह, क्रोध अनुताप, दम्भ अविधि गौरव, प्रमाद, मान, कुगुरु कुसग तथा आत्म श्लाघार्थिता ॥ २ ॥ उपजाति

विवेचन शास्त्रकार कितने उपकारी है वीतराग द्वारा कथित विद्या के अनुसार उन्होंने कितनी महत्त्व की तात्त्विक बातें लिख दी ह । इनसे आत्मा को बडा आनन्द आता है, बडी शाति उत्पन्न होती है । कितनी बारीकी स वे शास्त्रो क अन्दर घुस गए ह अत सब बात स्पष्ट बताई ह । धन्य ह वीतराग व उनसे उपदिष्ट माग को बतान वाले गुरुओ का । इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि सुकृत में इतनी चीजें मन पैदा करने वाली ह—शिथिलता—धम क्रिया में मदता या ढिलाई मत्सर—परगुण की ईर्ष्या, कदाग्रह—अपनी भूल को जानते हुए भी दूसरो के सामने अच्छा बताना या जिद करना, क्रोध—गुस्सा अनुताप—शुभ काम करके पछताना कि न किया होता तो अच्छा रहता, माया कपट—कहन व करने में भिन्नता, अविधि—शास्त्रानुसार न करके अपनी मति स विपरीत आचरण, गौरव—मैंने यह बडा काम किया इसलिए म बडा हू मान—अभिमान प्रमाद—आलस्य कुगुरु—समकित व व्रतादि रहित दिखावटी वेशधारी, जिन वचन स विपरीत चलन वाला पुरुष, कुसग—हलके स्वभाव

या काम वाले की सगति, श्लाघायिता—अपनी बडाई सुनने की इच्छा। ये सब चीजें आत्मा में मैल रूप व भव में भटकाने वाली हैं। इनसे दूर रहा जाय तो आत्मा को परम शाति मिलती है व सच्चा सुख व ध्रुवपद मिलता है।

परगुण प्रशसा

यथा तवेष्टा स्वगुणप्रशसा, तथा परेषामिति मत्सरोज्झी।
तेषामिमा सतनु यल्लभेथास्तां नेष्टदानादि विनेष्टलाभ ॥३॥

अर्थ—जिस प्रकार से तुझे अपने गुणो की प्रशसा अच्छी लगती है, वैसे ही दूसरो को भी लगती है अत मात्सर्य छोड कर उनके गुणो की प्रशसा अच्छी तरह से करना शुरू कर, कारण कि प्रिय वस्तु दिए बिना प्रिय वस्तु मिलती नहीं है ॥ ३ ॥ उपजाति

विवेचन—मानव स्वभाव ही ऐसा है कि हरक को अपनी प्रशसा सुनने में मजा आता है चाहे वह झूठी ही क्यो न हो जब कि दूसरो की निंदा करने में आनद आता है जब कि वह निराधार ही क्यो न हो। दूसरो के गुणो को छुपाने की और अपने अल्प गुणो को बहुत बडा बनाने का साधारण रिवाज सा हो गया है। यही अधोगति का मूल है। वास्तव में होना तो यह चाहिए कि परगुणो की प्रशसा और आत्म गुणो का गोपन (छुपाना) परन्तु होता है विपरीत। यदि तुझे अपने गुणो की प्रशसा सुनने की अभिलाषा है तो दूसरो के गुणो की प्रशसा कर जिससे तुझ भी अपने गुणो की प्रशसा सुनने का समय आएगा। जो तू देगा वही मिलेगा।

गाली देगा तो गाली मिलेगा और प्रशंसा करेगा तो प्रशंसा मिलेगी। अतः मात्सर्य छोड़कर परगुणों की प्रशंसा कर।

अपनी प्रशंसा या निंदा की परवाह न करना

जनेषु गृह्णत्सु गुणान् प्रमोदसे, ततो भवित्री गुणरिक्तता तव।
गृह्णत्सु दोषान् परितप्यसे च चेद्, भवन्तु दोषास्त्वयि सुस्थिरास्तत

अर्थ—जब दूसरे मनुष्य तेरे गुणों की प्रशंसा करते हों तब तू यदि खुश हो जाता है तो तेरे में गुण रहितता आ जाएगी (खाली बन जाएगा) और यदि वे तेरे दोषों को देखें या कहें तब तू क्रोधित हो जाता है तो वे दोष तेरे में सुस्थ हो जाएंगे ॥ ४ ॥ वंशस्थ

विवेचन—जैसे किसी भी वस्तु से भरे हुए पात्र में से वह वस्तु ले ली जाती है तो वह पात्र खाली हो जाता है वैसे ही यदि तेरे में गुण हैं और लोग तेरे गुणों की प्रशंसा करते हों तब यदि तू गर्व का अनुभव कर खुश हो जाता हो तो समझ ले कि वे गुण तेरे में से खींच लिए गए हैं, तेरा वह गुण रूप पात्र खाली हो गया है और जब तेरे दोषों के लिए लोग निंदा करते हों और तू क्रोधित हो गया तो निश्चित जान ले कि वे दोष तेरे में और दृढ़ हो गए उनकी जड़ और गहरी हो गई। यदि तू दोष सुनकर आत्म चिंतन करता है कि ये लोग जो कह रहे हैं वह सत्य है या झूठ? यदि सत्य है तो उन दोषों को दूर करने का उपाय कर और यदि झूठ है और तू उनको शांति से सहन करता है तो समझ कि तू अग्नि परीक्षा में सफल हुआ, तेरा धर्म व सहनशीलता का

गुण एक पद और बढा। जीवन म प्रति दिन एसे अनेक प्रसग आते ह जब कि मनुष्य इस बात का अनुभव करता है।

शत्रु के गुणों की प्रशसा

प्रमोदसे स्वस्य यथान्यनिर्मित, स्तवस्तथा चेत्प्रतिपथिनामपि। विगर्हणे स्वस्य यथोपतप्यसे, तथा रिपुणामपि चेत्ततोसि वित् ।५

अथ—दूसरे मनुष्य के द्वारा की गई अपनी प्रशसा सुनकर जिस तरह से तू प्रसन्न होता है, वसे ही प्रसन्नता यदि शत्रु की प्रशसा सुनकर होती हो एव जसे स्वय की निंदा सुनकर तुझे दुख होता है वसे ही शत्रु की निंदा सुनकर तुझे दुख होता हो तो वास्तव म तू विद्वान है ॥ ५ ॥ वशस्थ

विवेचन—प्रशसा सुनकर प्रमोद व निंदा सुनकर खद होता है परन्तु किसकी ? अपनी ही ! यदि दूसरे की प्रशसा होती हो और अपनी निंदा होती हो तो परिणाम विपरीत होता है, अर्थात दुख होता है। होना तो यह चाहिए कि जिसम गुण ह उसकी प्रशसा व जिसमें दोष ह उसकी निंदा, पात्र कोई भी हो, चाह हम हो या हमारे मित्र या हमारे शत्रु। यह तो विपरीत वस्तु है कि हमारी या हमारे स्नेही की प्रशसा होती हो चाह वह झूठी ही हो हम प्रसन्न हो जावें और जब शत्रु की प्रशसा होती हो तो हम नाराज हो जावें। रुपया जिसके पास है उसकी कीमत होती है वह चाहे राजा के पास हो या भिखारी के पास, चाहे मित्र के पास हो चाहे शत्रु के पास। वसे ही प्रशसा केवल गुणो की होती है वह चाह किसी म हो और निंदा केवल दोषो की

हाती है वह चाह किसी म हा। कीमत रुपय की हो रही है न कि रुपय वाल की वसे ही प्रशसा गुणा का हो रही है न कि गुणवान की, निंदा दोषा की हो रही है न कि दोषी की। जो यह जानता है व वसा ही आचरण करता है वही वास्तव में विद्वान ह। यहा तात्पय यह है कि शत्रु मित्र पर सम भाव रहना व तात्विक दृष्टि से जो जसा है उसे वसा ही समझना, पात्रता का भेद बीच में न लाना तभी मनुष्य न्यायशील व सत्यान्वेषी रह सकता है।

परगुण प्रशसा

स्तवयथा स्वस्य विगर्हणश्च, प्रमोदतापौ भजसे तथा चेत ।
इमौ परेषामपि तश्चतुर्ष्व प्युदासतां वासि ततोऽथवेदी ॥६॥

अर्थ—जसे तुझ अपनी प्रशसा और निन्दा से क्रमश आनद व खद होता है वसे ही पर की प्रशसा और निंदा से आनद व खद हाता हो अथवा इन चारा दशाओं म उदासीनता (माध्यस्थ भाव) रखता हो तो तू सच्च अथ का जानन वाला है ॥ ६ ॥ उपेंद्रवज्रा

विवेचन—उदासीन वत्ति का अथ यह है कि जानते हुए, समझते हुए भी उपेक्षा वृत्ति रखना, इसका अथ बदरकारी या लापरवाही नही है। स्वगुण प्रशसा, स्वदोष निंदा, परगुण प्रशसा, परदोष निंदा, इन चारो भावा में मध्यस्थ भाव आ जाता है तो अच्छा है। अपनी प्रशसा सुनकर न फूलना, निंदा सुनकर क्रोध न करना, पर के गुण की प्रशसा

सुनकर दुखी न होना और पर के दोषो की निंदा सुनकर खुश न होना ही माध्यस्थ भाव या सच्ची समझ है ।

गुण स्तुति की इच्छा हानिकारक है

भवेन्न कोऽपि स्तुतिमात्रतो गुणी,
ख्यात्या न बह्वयापि हितं परत्र च ।
तदिच्छुरीर्ष्यादिभिरायति ततो,
मुधाभिमानग्रहिलो निहंसि किम् ।। ७ ।।

अर्थ—लोग प्रशसा करते हैं इससे मात्र कोई गुणी नहीं हो सकता है, एवं अधिक ख्याति से भी आते भव का हित नही होने वाला है, यदि तू आते भव में स्वहित करने का इच्छुक है तो निरर्थक अभिमान के वश होकर ईर्षा आदि करके आते भव को भी क्या बिगाड़ता है ? ।। ७ ।।

उपजाति

विवेचन—गुण होंगे तो स्वयं प्रशसा हो जाएगी, यदि तू प्रशसा का भूखा रहकर उसका प्रयत्न करेगा तो अपमानित होकर खिन्न वदन रहेगा । प्रशसा करने वाले भी अपना स्वार्थ देखकर ही प्रशसा करते हैं, वास्तव में गुणों के प्रशसक विरले ही मिलते हैं । झूठी प्रशसा से न तो आत्मा को सतोष होता है न परभव में कुछ हित होने वाला है । अल्प गुणी व अभिमानी की वही दशा होती है जो उस कव्वे की हुई जिसने लोमड़ी द्वारा झूठी प्रशसा सुनकर गाने के लिए मुह खोला और रोटी को खो बैठा अत अभिमान व ईर्षा के द्वारा आता भव न बिगाड़ ।

'शुद्ध' धर्म करने की आवश्यकता

सजन्ति के के न बहिर्मुखा जना, प्रमादमात्सर्यकुबोधविप्लुता ।
दानादिधर्माणि मलीमसान्यमून्युपेक्ष्य शुद्ध सुकृत चराण्वपि ॥८॥

अर्थ—प्रमाद, मत्सर और मिथ्यात्व से घिरे हुए कितने ही सामान्य मनुष्य दान आदि धर्म करते हैं परन्तु ये धर्म मलिन हैं अतः उनकी उपेक्षा करके शुद्ध सुकृत्य अणु जितना भी कर ॥ ८ ॥ वंशस्थवृत्त

विवेचन—शुद्ध धर्म एक अणु जितना भी श्रेष्ठ बताया है जब कि प्रमाद (मद्य विषय, कषाय, विकथा, निद्रा) मत्सर, (दूसरों की उन्नति पर ईर्षा) और मिथ्यात्व (दृष्टि रागादि) से किए गए दान शील तप आदि सब निरर्थक वहे हैं। निरभिमान से निष्काम भाव से, दिखावे या ढोंग रहित केवल आत्म कल्याण के लिए किया हुवा थोड़ा सा भी धर्म श्रेष्ठ होता है जब कि ढोल बजवाते हुए नारे लगवाते हुए कुंकुमपत्री व अखबारों में नाम छपवाते हुए व जनता की पूजा की इच्छा रखते हुए किए गए बड़े बड़े तप भी केवल अभिमान के लिए होने से निरर्थक हैं। अतः दान, शील, तप, भावना आदि गुप्त रूप से ही श्रेष्ठ होते हैं।

प्रशंसा रहित सुकृत की विशिष्टता

प्राच्छादितानि सुकृतानि यथा दधते,
सौभाग्यमत्र न तथा प्रकटीकृतानि ।
व्रीडानताननसरोजसरोजनेत्रा,
वक्षःस्थलानि कलितानि यथा दुकूल ॥ ९ ॥

अर्थ—इस ससार म गुप्त सुकृत (पुण्य) जसा सुख देत है वसा सुख खुले सुकृत (पुण्य) नही देत ह। जैसे लज्जायुनात वदना, कमलनयना भामिनी के वक्षस्थल खुले होने की अपेक्षा ढके होने पर अधिक सुदर दीखत ह। वसततिलका

विवेचन—गुप्त रीति स किए गए जप तप दान आदि जसा फल देत ह वसा खुले रूप से किए गए सुकृत फल नही देते ह। गुप्त रूप से करने वाले को आत्मशाति रहती है जब कि खुले रूप से करने वाले को प्रशसा की भूख, लोक दिखावा, कुल मर्यादा आदि सबका डर रहता है एव वह उस सुकृत का तुरत फल, प्रशसा के शब्दो के रूप म लेकर सतुष्ट हो जाता हे जब कि गुप्त रूप से करन वाल को गुप्त अगोचर स्थान (मोक्ष) की प्राप्ति होती है।

स्व गुण प्रशसा से जरा भी लाभ नहीं है

स्तुतै श्रुतर्वाप्यपरर्निरीक्षितर्गुणस्तवात्मन सुकृतर्न कश्चन।
फलति नव प्रकटीकृतभुवो, द्रुमा हि मूलनिपतत्यपि त्वच ॥१०॥

अर्थ—तेरे गुणो या सुकृत्या की अन्य लोग स्तुति करें, अथवा तेरे उत्तम कामो को दूसरे लोग देखें या सुन इससे हे चेतन! तुझे कोई लाभ नही है। जसे वृक्ष की जडें खुली कर दी जाय तो वह वृक्ष फलता नही हे वरन जमीन पर गिर जाता है॥ १०॥ वशस्थविल

विवेचन—जसे वृक्ष की जडा पर से मिट्टी हट जाती है तो वह गिरकर नष्ट हो जाता, मधुर फल मिलता तो]

दूर रहा उसका अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है वैसे ही गुणों को खुला करने से लाभ तो कुछ नहीं होता है वरन उन गुणों से मिलने वाला पुण्य ही नष्ट हो जाता है। यश या कीर्ति सुनने से प्रसन्नता जरूर होती है जो कि मन को खुश करती है परन्तु आत्मा की तो हानि ही होती है। प्रशंसा सुनने का आदी हुआ पुरुष प्रायः ऐसा ही काम करेगा जिसे लोग देखते रहें जब जब वह जरा सा भी सत्कार्य करेगा तो दिखावे के साथ ही करेगा बड़े आडंबर से व धूमधाम से करेगा और चापलूसों या खुशामदखोरों की संगति में करेगा जब कि सच्चा बात कहने वाले उससे दूर रहेंगे अतः उसके दोष कहने वाला कोई न रहेगा। परिणामतः उसका पतन होगा। स्वगुण प्रशंसा से हानि ही होती है लाभ कुछ भी नहीं है।

गुण पर मत्सर करने वाले की गति

तप क्रियावश्यकदानपूजनं, शिवं न गता गुणमत्सरी जनः।
अपथ्यभोजी न निरामयो भवद्रसायनैरप्यतुलैर्यदातुरः ॥११॥

अर्थ—गुण पर मत्सर करने वाला प्राणी तपश्चर्या, आवश्यक क्रिया, दान और पूजा से भी मोक्ष में नहीं जाता है। जैसे बीमार मनुष्य कुपथ्य करता हो तो चाहे जैसे रसायन सेवन करने से भी वह स्वस्थ नहीं हो सकता है ॥११॥

वंशस्थविल

विवेचन—जैसे कोई बीमार, उत्तम भस्मों का सेवन करता हुआ भी गुप्त रूप से अपथ्य करता हो, परहेज नहीं

रखना हो तो वह बच नही सकता है वसे ही बडी बडी तपस्याए क्रियाए करने वाला मनुष्य यदि मत्सर करता हो तो मोक्ष नही पा सकता है। आडबर व दिखावे के लिए किये गए सब अनुष्ठान व धार्मिक काम मात्सर्य से निरर्थक हो जाते है।

शुद्ध पुण्य अल्प हो तो भी उत्तम है

मन्त्रप्रभारत्नरसायनादि, निदर्शनादल्पमपीह शुद्धम ।
दानार्चनावश्यकपौषधादि, महाफल पुण्यमितोऽन्यथान्यत ॥१२॥

अर्थ—मत्र, प्रभा, रत्न, रसायण, आदि के दृष्टान्त से दान, पूजा आवश्यक, पौषध आदि बहुत कम हो लेकिन यदि वे शुद्ध हो तो बहुत फल को देते है और यदि बहुत होने हुए भी अशुद्ध हो तो मोक्ष रूप फल नही देते है ॥ १२ ॥

उपजाति

विवेचन—आज प्राय तत्त्वज्ञान के अभ्यास बिना समझते हुए भी, केवल क्रिया की तरफ अधिक रुचि रहती है, आयबिल की ओलीजी, उपधान, वर्षी तप आदि अनेक बार कर लिए जाते है व उनकी सख्या का महत्त्व दिया जाता है इसी तरह से सामायिक की सख्याओ की कीमत की जाती है यहा तक की जीवन पर्यत सामयिक (भागवति दीक्षा) करने वाले भी कई है लेकिन यदि इन सब मे शुद्धि नही है, आवेश, माया छल कपट परिग्रह, ममता कम नहीं नहीं हुवे हो तो वे सब काम उतने लाभकारी नही होते है जितने कि होने चाहिए। मन्त्र मे शब्द, सूर्य चद्र की प्रभा

हीरा माणक मोती आदि रत्न, पारा अभ्रक आदि भस्म कम मात्रा में हो गुणकारी व कीमती होते हैं यदि वे शुद्ध हों तो। एक सोना लोहा व एक ताना रत्न यद्यपि वजन में बराबर होने हैं तो भी मूल्य में अनेक गुणा अन्तर है। ठीक वैसे ही बिना आत्मा की साक्षी से, भाव अशुद्धि से, चित्त की अस्थिरता से की गई तमाम धार्मिक क्रियाएं व तपस्याएं उत्तम फल को नहीं देती हैं। बिना सत्त्व या तत्त्व से की गई अनेक क्रियाओं की अपेक्षा एक ही क्रिया जो शुद्ध रूप से सच्चे भाव से, केवल मोक्ष की अभिलाषा से, बिना दिखावे से या मन की भूख रहित की गई हो वह अनन्त गुण फल को देने वाली होती है अर्थात मोक्ष की तरफ ले जाने वाली होती है। कितने ही तपस्वी श्रावक व साधु अनेक तप करने पर भी शांत चित्त नहीं होते हैं। जीवन में उग्रता, माया, छल कपट प्रमाद असहिष्णुता, दुराग्रह, प्रपंच, परावलम्ब व परिग्रह के कारण जैन धर्म को बदनाम करते हैं। स्व को व पर को भव बिगाड़ते हैं। जो लोग केवल यश व दिखावे के लिए क्रियाएं व तप करते कराते हैं उन्हें निश्चित मानना चाहिए कि वे चाहे दूसरों को अंधेरे में रखते हों लेकिन अपनी आत्मा को व कालदेव को या कर्म को अंधेरे में नहीं रख सकेंगे। उनके गुप्त पाप, गुप्त रूप से ही उन्हें सजा देंगे। अतः शुद्ध पुण्य करो।

उक्त अर्थ के लिए दृष्टांत

दीपो यथाल्पोऽपि तमांसि हन्ति, लवोऽपि रोगान् हरते सुधायाः ।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्नेर्धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥१३॥

रखता हो तो वह बच नहीं सकता है वैसे ही तपस्याएं क्रियाएं करने वाला मनुष्य यदि मरमे तो मोक्ष नहीं पा सकता है। आडम्बर व दिखा किये गए सब अनुष्ठान व धार्मिक काम मात्सर्य हो जाते हैं।

शुद्ध पुण्य अल्प हो तो भी उत्तम है

मन्त्रप्रभारत्नरसायनादि, निदर्शनादल्पमपीह शुद्धम् ।
दानार्चनावश्यकपौषधादि, महाफलं पुण्यमितोऽन्यथान्यत् ॥

अर्थ—मन्त्र, प्रभा, रत्न, रसायन, आदि के दृ दान, पूजा आवश्यक, पौषध आदि बहुत कम हो लेकि वे शुद्ध हो तो बहुत फल को देते हैं और यदि न हुए भी अशुद्ध हो तो मोक्ष रूप फल नहीं देते हैं ॥ १२

उपजा

विवेचन—आज प्राय तत्त्वज्ञान के अभ्यास समझते हुए भी, केवल क्रिया की तरफ अधिक रुचि है, आयंबिल की ओलीजी, उपधान, वर्षी तप आदि वार कर लिए जाते हैं व उनकी संख्या को महत्त्व जाता है इसी तरह से सामायिक की संख्याओं की की जाती है यहा तक की जीवन पर्यंत सामयिक (भागवती दीक्षा) करने वाले भी कई हैं लेकिन यदि इन सब में शुद्धि नहीं है, आवेग क्रोध छल कपट, परिग्रह, ममता कम नहीं नहीं हुवे हो तो वे सब काम उतने लाभकारी नहीं होते हैं जितने कि होने चाहिए। मन्त्र के शब्द, सूर्य चन्द्र की प्रभा

हीरा माणक मोती आदि रत्न, पारा, अभ्रक आदि भस्म कम मात्रा में ही गुणकारी व कीमती होते हैं यदि वे शुद्ध हों तो। एक तोला लोहा व एक तोला रत्न यद्यपि वजन में बराबर होते हैं तो भी मूल्य में अनन्त गुणा अन्तर है। ठीक वैसे ही बिना आत्मा की साक्षी से, भाव अशुद्धि से, चित्त की अस्थिरता से की गई तमाम धार्मिक क्रियाएं व तपस्याएं उत्तम फल का नहीं देती हैं। बिना सत्त्व या तत्त्व से की गई अनेक क्रियाओं की अपेक्षा एक ही क्रिया जो शुद्ध रूप से, सच्चे भाव से, केवल मोक्ष की अभिलाषा से, बिना दिखावे से या यश की भूख रहित की गई हो वह अनेक गुण फल को देने वाली होती है प्रधान मोक्ष की तरफ ले जाने वाली होती है। कितने ही तपस्वी श्रावक व साधु अनेक तप करने पर भी शांत चित्त नहीं होते हैं। जीवन में उग्रता, माया, छल कपट प्रमाद असहिष्णुता दुराग्रह, प्रपंच, परावलम्ब व परिग्रह के कारण जैन धर्म को बदनाम करते हैं। स्व का व पर का भव बिगाड़ते हैं। जो लोग केवल यश व दिखावे के लिए क्रियाएं व तप करते कराते हैं उन्हें निश्चित मानना चाहिए कि वे चाहे दूसरों को अंधेरे में रखते हों लेकिन अपनी आत्मा को व कालदेव को या कर्म को अंधेरे में नहीं रख सकेंगे। उनके गुप्त पाप, गुप्त रूप से ही उन्हें सजा देंगे। अतः शुद्ध पुण्य करो।

उक्त अर्थ के लिए दृष्टांत

दीपो यथाल्पो पि तमांसि हन्ति, लवोऽपि रोगान हरते सुधायाः।
तृण्यां दहत्याशु कणोऽपि चाग्नेर्धर्मस्य लेशोऽप्यमलस्तथांहः ॥१३॥

अर्थ—एक छोटा सा दीपक भी अधकार का नाश करता है, अमृत की एक बूंद भी अनेक रोगो को हर लेती है, अग्नि की एक चिनगारी भी घास के ढेर को भस्म कर देती है, उसी प्रकार से धर्म का अल्प अश भी यदि शुद्ध हो तो पाप का नाश कर देता है ॥ १३ ॥ उपजाति

विवेचन—अनेक वर्षों के अधकार युक्त स्थान में यदि दीपक रखा हो तो वह अधकार को नष्ट कर देता है। जैसे अमृत की बूद रोग का, अग्नि का कण घास को नष्ट कर देता है वैसे ही धर्म का एक अश जो अति शुद्ध हो, केवल सवेग भाव से किया हो तो अनेक भवो के पापो का नष्ट कर देता है। आज आवश्यकता तो भाव शुद्धि व ठोस क्रिया की है, एव सच्चे भाव से की जाने वाली धर्म क्रिया व तपस्या की है। लाखो रुपयो का दान देने वाले, आयबिल खाता चलाने वाले, साधुओ का चौमासा कराने वाले व अनेक तरह से खर्च करने वाले भी कभी कभी ऐसे निर्दयी व स्वार्थी होते हैं कि साधर्मी भाई या साधु के लिए जरा सा खर्च या सेवा का कार्य नही कर सकते हैं। प्रचुर धन से सेवा करने वाले भी तन से साधारण सी सेवा नही कर सकते है। हम धर्म भी करते है तो अपनी आराम तलबी को कम न करते हुए या अपनी आनायश में कमी न रखते हुए ही। अत शुद्ध भाव भक्ति से किया गया धर्म कार्य ही मोक्ष दिला सकता है।

भाव व उपयोग बिना की क्रिया से काय क्लेश

भावोपयोगशून्या, कुर्वन्नावश्यकी क्रिया सर्वा ।
देहक्लेश लभसे, फलमाप्स्यसि नव पुनरासाम ॥ १४ ॥

अर्थ—भाव और उपयोग के बिना की जाने वाली सब आवश्यक क्रियाओं से तुझे मात्र शरीर—कष्ट प्राप्त होगा परन्तु तू इनका उत्तम फल नहीं पा सकेगा ॥ १४ ॥ आर्या

विवेचन—भाव का अर्थ है चित्त का उत्साह (वीर्योल्लास) और उपयोग का अर्थ है सावधानता (तन्मयपन), जैसे कि आवश्यक क्रिया में सूत्र, अर्थ व्यजन, ह्रस्व दीर्घ के उच्चारण आदि का ध्यान रखना। अत भाव एव उपयोग बिना की क्रिया करना यह मात्र काय क्लेश है और उसका फल भी शून्यवत है। मुक्त मुक्तावली में कहा है कि—

> मनविण मिलवो ज्यु, चाववो दतहीणे,
> गुरु विण भजवो ज्यु, जीमवो ज्यु अलूणे।
> जसविण बहुजीवी, जीवते ज्यु न सोहे,
> तिम धरम न साहे, भावना जो न होहे॥

अत स्पष्ट है कि भाव बिना की धार्मिक क्रिया एक दम निरर्थक है। धम एक ही तरह की भावना से नहीं होता है कारण कि पहले भी धम करने वालो ने भिन्न भिन्न कारणों से धम किया है जसे कि—नागिला को तजने वाले भवदत्त ने लज्जा से, मेताय मुनि को मारने वाले सोनी ने भय से, चडरुद्राचाय के शिष्य ने हास्य से, स्थूलिभद्र पर मात्सय करने वाले सिंह गुफावासी साधु ने मात्सय से, सुहस्तीसूरि द्वारा उपदिष्ट द्रुमक ने लोभ से, बाहुबली ने हठ से, दशाणभद्र,

गौतमस्वामी, सिद्धसेन दिवाकर ने अहकार से, नमिविनमि ने विनय से, कार्तिक सेठ ने दुःख से ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने शृगार से, आमीट तथा आय रक्षित आदि ने कीर्ति से, गौतमस्वामी द्वारा प्रतिबोधित १५०३ साधुओ न कौतुक से, इलापुत्र न विस्मय से, अभयकुमार व आर्द्रकुमार ने व्यवहार से, भरत चक्रवर्ती व चद्रावतस न भाव से, कीर्तिधर व सुकोशल ने कुलाचार से और जबुस्वामी, धनगिरि, वज्रस्वामी, प्रसन्नचद्र तथा चिलाती पुत्र ने वैराग्य से धर्म किया।

सभी तरह से किया हुवा धम महालाभकारी होता है। जो कुछ करना है उसे विचार कर करो, भाव से करो तभी सफलता मिलेगी किसी भी क्रिया का निषेध नही है मात्र निषध तो इसका है, कि हाथ, पर मुह आदि अपना काम कर रहे हैं लेकिन मन और कही जा रहा है ऐसी भाव शून्य दशा से की जाने वाली क्रिया निरथक है।

शास्त्रकार ने तीन बातो पर विशेष ध्यान दिया है—

(१) धम शुद्धि की आवश्यकता—मात्सय अभिमान या यश लोलुपता से रहित होकर शुभभावना से व मोक्षाभिलाषा से धम करना चाहिए।

(२) स्वगुण प्रशसा और मत्सर—धम शुद्धि में ये दोना बाधक हैं ये दोना स्वादिष्ट विष की तरह घातक हैं।

(३) भाव गुद्धि और उपयोग—प्रत्यक धार्मिक क्रिया में इन दाना की परम आवश्यकता है अत ध्यान रखना चाहिए।

मुन मानवो ! लाकरजन या यश कीर्ति क लिए धम न करते हुए स्वातम दशा का भान और मोक्षाभिलाषा से धम करो।

इति एकादशो धमगुद्ध्युपदेशाधिकार ।

अथ द्वादशः

देवगुरुधर्मशुद्धयाधिकारः

इस अध्याय में शुद्ध दव, गुरु धम का स्वरूप वतलाया गया है।

गुरुतत्व की महत्ता

तत्त्वेषु सर्वेषु गुरु प्रधान, हितायधर्मा हि तदुक्तिसाध्या ।
श्रयस्तमेवेत्यपरीक्ष्य मूढ, धर्मप्रयासान् कुरुपे वृथव ॥१॥

अर्थ—सब तत्त्वा म गुरु, मुख्य है, हितकारी सभी धर्म उनके कथनानुसार ही साधे जा सकते हैं। हे मूख ! उनकी परीक्षा किये बिना यदि तू उनका आश्रय लेगा तो तेरे (धर्म के लिए) किये गए सभी प्रयास निष्फल होगे ॥१॥

उपजाति

विवेचन—गुरु महाराज सभी तरह का ज्ञान करात ह, देव और धम की पहचान भी वही कराते ह अत गुरु करने से पूव उनके गुण दोष जानने आवश्यक ह जिनमें भी मुख्य कसौटी यह है कि वे कचन कामिनि के त्यागी ह कि नहीं क्योकि गुरु बिना ज्ञान नही है। कहा है कि गुरु कीजे जानकर पानी पीजें छानकर। अत गुरु की परीक्षा आव-

श्यक है क्योंकि हमें अपने जीवन को उनके आधार पर ही छोडना है। वे यदि उत्तम हैं तो हमें तार देंगे नहीं तो डुबा देंगे।

सदोष गुरु के बताए हुए धर्म भी सदोष हैं

भवी न धर्मैरविधिप्रयुक्तगमी शिवं येषु गुरुर्न शुद्धः ।
रोगी हि कल्यो न रसायनैस्तैर्येषा प्रयोक्ता भिषगेव मूढः ॥२॥

अर्थ—जहाँ धर्म का बताने वाले गुरु ही शुद्ध नहीं हैं, वहाँ अविधि से धर्म करने वाले प्राणी मोक्ष में जा नहीं सकते हैं, जिस रसायन को खिलाने वाला वैद्य ही मूर्ख हो तो वह रसायन व्याधियुक्त प्राणी को निरोगी नहीं कर सकती है ॥ २ ॥ उपजाति

विवेचन—जिसने स्वयं मार्ग नहीं देखा है यदि वह मार्ग दृष्टा बनता है तो स्वयं भी भटकता है और दूसरों को भी भटकाता है। यह तो स्पष्ट है कि अनजान ड्राइवर के द्वारा चलाई गई मोटर या रेल हजारों प्राणियों का नाश करती है। मूर्ख कारीगर के हाथ में दी गई मशीन या घडी सुधरने के बदले नष्ट हो जाती है। कूट वैद्य के पास ले जाए गए रोगी का जीवन खतरे में हो जाता है वैसे ही विषयी, रागी, कंचन कामिनी युक्त गुरु के उपदेश से लाभ तो कुछ नहीं होगा वरन भव परंपरा बढ़ेगी। यहाँ संसारी जीव को रोगी, धर्म को रसायन और वैद्य को गुरु के दृष्टांत से समझाया है।

स्वय डूबने और अन्य को डुबाने वाले कुगुरु

समाश्रितस्तारकबुद्धितो यो, यस्यास्त्यहो मज्जयिता स एव ।
ओघ तरीता विषम कथ स, तथव जतु कुगुरोर्भवाब्धिम ॥३॥

अर्थ—यह पुरुष तारने में समर्थ है ऐसी बुद्धि से जिसका आश्रय लिया हो, परतु उस आश्रयकर्ता का डुबाने में आश्रयदाता ही निमित्त हो तो वह विचारा आश्रयकर्ता प्राणी इस विषम प्रवाह को कैसे तर सकेगा ? इसी प्रकार से इस प्राणी को ससार समुद्र से कुगुरु किस तरह तार सकेगा ? उपजाति

विवेचन—जिस कप्तान के भरोसे जहाज में बैठे हो यदि वही कप्तान स्वय ही जहाज में छेदकर जहाज को डुबाने का प्रयत्न करता हो तब तो उस पार जाने की सभावना भी कैसे की जा सकती है, वैसे ही जिसको गुरु मानकर मोक्ष की अभिलाषा से अपना जीवन सौंप दिया हो यदि वह स्वय ही उस कप्तान की तरह मोह मदिरा पान कर जीवन जहाज को नष्ट करने वाला हो अर्थात् अनाचार दुराचार कर शिष्यों को भी वैसा करने को सिखाता हो तो मोक्ष की सभावना तो दूर रही वरन् पुन मानव भव पाना भी दुर्लभ हो जाएगा। जो गुरु नाम धराकर छत्र, चवर, मेघाडबर धारण कर दुनिया के सामने पूज्य बनते हो लेकिन छुपे छुपे कुत्सित कार्य का विचार करते हो उनसे मोक्ष दिलाने की क्या आशा रखी जाय, अलबत्ता नरक के मार्ग

में वे दीपक लेकर जन्म आगे आगे चलेंगे और अपने अनुयायियों के साथ वहा पहुच कर कई सागरोपम तक वहा रहेंगे।

शुद्ध देव गुरु और धम को भजने का उपदेश

गजाश्वपोतोक्षरथान् यथेष्टपदाप्तये भद्र निजान् परान् वा।
भजति विज्ञा सुगुणान् भजैवं, शिवाय शुद्धान् गुरुदेवधर्मान ॥४॥

अथ—हे भद्र! जिस प्रकार से चतुर पुरुष इच्छित स्थान पर पहुचने के लिए अपने या दूसरा के हाथी, घोडे, जहाज, बल और रथ उत्तम देखकर रख लेते ह उसी तरह से मोक्ष प्राप्त करने के लिए तू शुद्ध देव गुरु और धम का भज ॥ ४ ॥ उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—जसे गतव्य स्थान पर शीघ्र एव सुख से पहुचने के लिए अच्छी सवारी ली जाती है वसे ही मोक्ष नगर में पहुचने के लिए अठारह दोषा रहित देव, पाच महाव्रतधारी गुरु एव आप्त प्रणित (जिनोक्त) धम का आश्रय लेना चाहिए। सद देव रथ में हो। रथ हाकने वाले सदगुरु हो, सद धम की ध्वजा फरकती हो, तो वह रथ शीघ्र ही मोक्ष में पहुचेगा। अपने कुल के देव, गुरु या धम इन लक्षणो वाले हो तो ग्राह्य ह लेकिन यदि विपरीत हो तो हठ बुद्धि वह राग दृष्टि से उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए। जसे घर का घोडा भी अडियल हो तो उसे भी छोडना ही [illegible] है वसे ही कुल के गुरु परीक्षा में ठीक [illegible] योग्य ह।

कुगुरु के उपदेश से किया हुआ धर्म भी निष्फल है

फलाद्यथा स्यु कुगुरूपदेशत, कृता हि धर्मार्थमपीह सूद्यमा ।
तद्दृष्टिराग परिमुच्य भद्र ह, गुरु विशुद्ध भज चेद्धिताय्यसि। ५॥

गथ—अत्यत उद्यम से कुगुरू के उपदेश से किए गए धम के काय इस ससार यात्रा में फल की दृष्टि से वथा होते हं, अत हे भाई ! यदि तुम हित की इच्छा हो तो दृष्टि राग को छोडकर अत्यत शुद्ध गुरु को भज ॥ ५ ॥

उपजाति

विवेचन—आज साधारण जनता का धमशास्त्रो के अभ्यास करने की अनुकूलता नही है कारण कि लोग कमाई में इतने फसे रहते हं कि अभ्यास के लिए फुरसत ही नही मिलती है, जिनको फुरसत है उनके पास सस्कृत या प्राकृत का ज्ञान हो नही है, फिर भी ससार से सतप्त होकर, जीवन मे निराश हुए व चतुथ अवस्था को प्राप्त प्राणी व्याकुल होकर शाति की तलाश करते ह । उनकी दृष्टि ससार से विरक्त व्यक्तियो पर—साधुओ पर जाती है व समझते ह कि वैराग्य की निशानी रूप काषाय श्वेत या पीत वस्त्र को धारण करने वाले सन महापुरुष या मुनि पुगव हम अवश्य शाति देंगे। वे उनकी मीठी बातो म आकर विश्वास कर लेते हं । प्रतिदिन के सपक से उनके प्रति राग हो जाता है ज्यो ज्यो परिचय बढता जाता है त्यो २ राग बढ़ता जाता है, परन्तु क्योकि जनता में शास्त्र ज्ञान तो है

ही नही अन लोग उनको देव परमेश्वर गिनने लगते ह उनके प्रत्यक शब्द को दववाणी समझने हं यहा तक कि व चलत ह तब वे आग आग माग शोधन करते हं, व बालत हं तो खमा खमा पुकारते ह वे जिस तरह से कहत ह व वमा उमी तरह से वे करते ह। भक्तो का उनक दोष भी गुण प्रतीत हाने ह । यह वाडे बधी बढनी जाती है वे साधारण, आडवरी ढागी गुरु वड आचाय कहलाते ह । जनना भड चाल से अनुकरण करता है चाहे वे दया, दान तप का रूप कुछ और ही वताते हा चाहे तोथकरा स विरुद्ध हो बोलने हा वहा परवाह किसको है । व सोचत ह कि वस हमारे गुरु महा राज आचाय श्री ने जो फरमाया है वही सत्य है, उनकी लिखी पुस्तक ही आगम हं वे जा कुछ कहत या करने हं वही सत्य है बाकी सब मिथ्यात्व है । इस तरह स दष्टि राग स हम सब डूबन हं । शास्त्रकारो न गच्छाचार पयन्ना' में कहा है कि —अगीतार्थ के वचन स अमत भी न पियो जब कि गीनार्थ के वचन से विष भी पीलो । ज्ञानी गुरु का बात प्रत्यक्ष में विपरीन प्रतीत होनी हुई भी कल्याणकारी होती है जब कि ढागी व अज्ञानी गुरु की बात प्रत्यक्ष हितकारी दीखती हुई भी हानिकर तथा नरक गामी होनी है अत दष्टि राग को छोडकर शास्त्रोक्त विधि स गुरु की पहचान कर उनका अनुसरण करने स ही मोक्ष मिल सकता है । ससारी जीव माहनीय कम के राग करना ही है, राग उससे छूटता नहा है यदि राग करना ही … … उपाध्यायजी यशोविजयजी क लिखने

करना चाहिए जिससे वह व्यक्ति की अपेक्षा गुण पर अनुराग करना सीखा देंगे।

> राग न करशो कोई जन कोई शु रे,
> नवि रहेवाय नो करजा मुनि शु रे,
> मणी जेम फणि विषनो तेम तहो रे,
> रागनु भेपज सुजस सने हो रे ॥

श्री हेमचन्द्राचार्यजी ने वीतराग स्तोत्र में कहा है कि —

काम राग और स्नेह राग तो अल्प प्रयत्न से दूर किए जा सकते है परन्तु पापी दृष्टि राग तो सज्जन मनुष्यो के लिए भी दुरुच्छेद है, महान कठिनाई से काटने योग्य है। दृष्टिराग का अर्थ है मिथ्यात्व जन्य मोहनीय कर्म के उदय से होता हुवा अस्वाभाविक प्रेम। हमारी समाज में दृष्टिराग के कारण ही तिथिचर्चा जसे विषय कई वर्षों से समाज में उथल पथल मचा रहे हैं। आज इसी एक दृष्टिराग से अनेक मतमतान्तर वाडे व गच्छ परपराए बढती जा रही है। सच्चे गुरु के अभाव से समाज नायक रहित होकर छिन्न भिन्न हो रही है। अनेक आचार्य होते हुए भी समाज का कोई धणी नहीं है।

वीर परमात्मा से निवदन, शासन में लुटेरों का जोर

> यस्ता मुक्तिपथस्य वाहकतया श्रीवीर य प्राक् त्वया,
> लुटाकास्तदवृतेऽभवन् बहुतरास्त्वच्छासन ते कलौ।
> बिभ्राणा यतिनाम तत्तनुधियां मुष्णति पुण्यश्रिय
> पूत्कुर्म किमराजके ह्यपि तलारक्षा न किं दस्यव ॥६॥

अर्थ—हे वीर परमात्मा ! जिनको तू ने पहले मोक्षमार्ग के सार्थवाह स्थापित किए थे वे ही कलयुग में तेरी अनुपस्थिति में तेरे ही शासन में बड़े लुटेरे बन गए हैं। वे यति का नाम धारण करके अल्प बुद्धि वाले प्राणियों की पुण्यलक्ष्मी को चुरा रहे हैं। अब हम क्या पुकार करें ? क्या राजा के बिना राज्य में कानवाल ही चोर नहीं बन जाता है ? ॥ ६ ॥ शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—बाड़ ही स्वयं खेत खाने लग जाय तो किसान कहां जाय ! किसको पुकारे। आज कई पंचमहाव्रतधारी साधु ही भ्रष्टाचारी व्यभिचारी व पाखण्डी हो रहे हैं तब बिचारे श्री पूज्य, यति, व गोरजी की तो बात ही क्या वे तो चतुर्थ श्रेणी के गुरु हैं। हे वीर परमात्मा ! आपके अंतिम पट्टधर जम्बु स्वामी के पीछे कितने ही मुनिपुंगव हुए जिन्होंने शासन की वृद्धि की लेकिन आज उसी पदवी व वस्त्र पात्र की परिपाटी को धारण करने वाले साधु, उपाध्याय आचार्य समाज में कितना विष फैला रहे हैं बिचारे भोले श्रावकों का धन अपने नाम के लिए बहा रहे हैं व लुटेरे धर्म के नाम पर ढोंग कराकर धर्म को बदनाम कर रहे हैं। अब हम किसको पुकारें।

कुगुरु देव गुरु धर्म से भविष्य में पछताना

माद्यस्यशुद्धगुरुदेवधर्मधिगदृष्टिरागेण गुणानपेक्ष ।
अमुत्र शोचिष्यसि तत्फले तु, कुपथ्यभोजीव महामयार्त्तः ॥७॥

अथ—दृष्टि राग से गुण की अपेक्षा के बिना तू अशुद्ध दव गुरु धम के प्रति हृप बताता है उसके लिए तुझे धिक्कार है। जिस प्रकार मे कुपथ्य भोजन करने वाला महान पीडा पाकर हैरान होता है उसी प्रकार से तू भी आते भव में उनका (कु देव—गुरु धम सेवन का) फल पाकर चिंता करेगा ॥ ७ ॥ उपजाति

विवेचन—यदि हम कभी किसी बड शहर में किसी चौराहे पर पहुच गए हो जहा कि रास्ते चार फटते हों, हमें हमारा निर्दिष्ट माग मालूम नहीं हो किंकर्तव्य विमूढ होकर खड हुए हो इतन में कोई हमारा शत्रु आ जाय तो उसके बताए गए माग पर जान का हम विश्वास नही करग हमारे मन में शका हो जाएगी कि यह जरूर हमसे बदला लेन की फिराक म है हम जसे ही उस राह चले नही कि इसन धोखा देगा नही। इतने में कोई विश्वासी मित्र आ जाता है तो उसके कथनानुसार विश्वास कर उसके निर्दिष्ट माग पर चले जाते ह उसी प्रकार से हम भव में भटकते हुए प्राणी भी महावीर प्रभु के साधुओ के वेष पर विश्वास करत हं और जीवन उनके चरणो म रख देते हं लेकिन उनमें से कितने ही स्वार्थी गुरू हमारे जीवन को कुपथ म ले जाते हं कितने ही स्वार्थी धन लालुपी यति, श्रीपूज्य, व कोई कोई साधु मुनिराज भी डारे धागे, जतर मतर करके सट्टे के आक बताकर भोली प्रजा को बहकाते हं उनके धन का हरण कर स्वय गुप्त रीति से मिष्ठान्न पान करत व व्यभिचार

तव करते हैं ऐसे शासन धानवी लुटेरा पर विश्वास करने के पहले एवं उन पर दृष्टिराग लाने से पूर्व हमें पूर्णतया जाँच कर लेनी चाहिए नहीं तो भविष्य में (सारे जीवन में, भाते भव में) पछताना पड़ेगा। अतः अविश्वासी, भोले भगतों को अपनी आँखें खोलनी चाहिए।

अशुद्ध गुरु मोक्ष नहीं दिला सकते हैं दृष्टान्त

नाम्र सुसिक्तोऽपि ददाति निम्ब,
पुष्टा रसवंध्यगवी पयो न च।
दुःस्थो नृपो नय सुसेवित श्रियं,
धर्मं शिवं वा कुगुरुर्न संश्रित ॥ ८ ॥

अर्थ—उत्तम रीति से सींचे जाने पर भी नीम का वृक्ष आम्र फल नहीं दे सकता है, रस (गन्ना, घी, तेल) खिलाकर पुष्ट हुई भी वाँझ गाय दूध नहीं दे सकती है। राज्यभ्रष्ट राजा उत्तम रीति से सेवित होता हुवा भी लक्ष्मी नहीं दे सकता है। उसी प्रकार से कुगुरु भी आश्रय लेने पर शुद्ध धर्म और मोक्ष देने में या दिलाने में समर्थ नहीं हो सकता है ॥ ८ ॥

विवेचन—जैसे सुसींचित नीम से आम, सुरसखाद्य भोजन से वंध्या गाय से बच्चा, सुसेवित राज्य भ्रष्ट राजा से धन प्राप्त नहीं हो सकता वैसे ही कुगुरु से धर्म नहीं मिल सकता है।

सात्विक हित करने वाली वस्तु

कुल न जाति पितरौ गणो वा, विद्या च बधु स्वगुरुधन वा।
हिताय जतोन पर च किंचित, किंत्वादृता सद्गुरुदेवधर्मा ॥६॥

अर्थ--कुल, जाति, माता पिता, गण, विद्या, सग सबधी, कुलगुरु धन या अन्य कोई भी वस्तु इस प्राणी को हितकारी नही होती हैं, परन्तु आराधन किय हुए शुद्ध देव, गुरु और धम ही हितकर होते हं ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन--चल चित्त, चल वित्त, चल जीवित योवन,
चलाचले च ससारे धम एको हि निश्चला ॥

ह मोह में पडे हुए जीव! तेरा भला करने वाली कोई वस्तु नही है, मात्र निस्वार्थी परम उपकारी गुरु द्वारा उपदिष्ट धम सद् देव ही हितकारी ह। प्रतिदिन के ससग से तू कुटुम्ब में या धनादि पुदगल मं लुब्ध है और आराम की सास लेता है नोटो को गिनना है, गहनो को उथलपाथल करता है, बक की पास बुक में बलस (जमा पूजी) देखकर प्रसन्न होता है परन्तु हे भोले तुझे यह नही भलना चाहिए कि ये सब तो कुछ काल बाद पराए हो जाने वाले हं आख मीचते ही इन पर दूसरा का अधिकार हो जायगा अत इनमें से मन को हटाकर शुद्ध देव, गुरु और धम की आराधना कर, य ही तेरे हितषी हं।

जो धम में प्रवत्त करते ह वे ही सच्चे माता पिता ह

माता पिता स्व सुगुरुश्च तत्त्वात्प्रबोध्य यो योजति शुद्धधर्मे।
न तत्समोऽरि क्षिपते भवाब्धौ, यो धमविघ्नादिकृतेश्च जीवम् १०

अर्थ—जो तत्वों को ज्ञान कराकर शुद्ध धर्म में लगाते हैं वे ही सच्चे माता पिता और गुरु हैं। जो धर्म में विघ्न डालकर इस जीव को भव समुद्र में फेंक देते हैं उनके समान दूसरा कोई शत्रु नहीं है ॥ १० ॥ उपजाति

विवेचन—माता, पिता, या गुरु बालक को पाल पोषकर शिक्षित करते हैं उनका कर्त्तव्य है कि जब बालक युवा हो जाय तब उसे संसार की वास्तविकता, नरक निगोद आदि के दुःख गृहस्थाश्रम के बंधन आदि, भव भ्रमण के अनेक कारणों को स्पष्ट समझा दें यदि वह संवेगी (वैराग्यवान) होना चाहता है या आत्मकल्याण करने को उद्यत होता है तो उसे सहर्ष आज्ञा दे दें। यदि वे उसके धर्माराधन में विघ्न डालते हैं, अपने स्वार्थ के लिए उसे संसार के बंधन में डालते हैं तो वे उसके सबसे बड़े शत्रु हैं।

सम्पत्ति के कारण

दाक्षिण्यलज्जे गुरुदेवपूजा, पित्रादिभक्ति सुकृताभिलाषः।
परोपकारव्यवहारशुद्धि, नृणामिहामुत्र च संपदे स्युः ॥ ११ ॥

अर्थ—(दाक्षिण्य)—सरलता, लज्जा, देव गुरु की पूजा, पिता आदि बड़ों की भक्ति, सत्कार्य की अभिलाषा, परोपकार और व्यवहार शुद्धि, ये सातों मनुष्य को इस भव में और परभव में सम्पत्ति देते हैं ॥ ११ ॥ उपजाति

विवेचन—ऊपर के सातों का भाव समझकर शुद्ध हृदय से मननकर आचरण करने से इस भव में और परभव में

सम्पत्ति की प्राप्ति होती है। इन सातो में प्राय सभी गुणो का समावेश हो जाता है।

विपत्ति के कारण

जिनेष्वभक्तिर्यमिनामवज्ञा, कर्मस्वनौचित्यमधमसङ्ग ।
पित्राद्युपेक्षा परवचनञ्च, सृजति पुंसां विपद समतात् ॥१२॥

अर्थ—जिनेश्वर की तरफ अभक्ति (अशातना), साधुओं की अवज्ञा, व्यापार आदि में अनुचित प्रवृत्ति, अधम की सगति, पिता आदि की उपेक्षा (बेपरवाही) और ठगाई ये मनुष्य को चारो तरफ से आपत्तिया उत्पन्न करती है ॥ १२ ॥ उपजाति

विवेचन—वीतराग जिनेश्वर के प्रति अनादर, अप्रीति और अविनय, उपकारी गुरू का तिरस्कार अपमान और अवज्ञा, प्रतिदिन के धधे में अनीति व बेईमानी, पर स्त्री गमन, जूआ आदि, दुर्जन एव ढोंगी, विपरीत आचरण वाले अधम, पापी मनुष्य की सगति, माता पिता की सेवा से मुह मोडना, उनसे दुर्व्यवहार करना, उनके भोजन या सेवा का प्रबध न करना, दूसरो को ठगना छल कपट करना एव उनकी अज्ञानता से लाभ लेकर अपना स्वार्थ सिद्ध कर उनको हानि पहुचाना, ये छ बातें हर प्रकार से आपत्तिया को लाने वाली है।

इन दोनो श्लोको का अर्थ विचार कर गहराई से सोचना

चाहिए। कहन को मत है करने को कोई नहीं भत सूक्ष्म दृष्टि से विचार कर इनका पालन करना चाहिए।

पर भव में सुख पाने के लिए पुण्य धन

भक्त्यव नार्चसि जिन सुगुरोश्च धर्म,
नाकर्णयस्यविरत विरतीन धत्से।
सार्थं निरर्थमपि च प्रचिनोष्यघानि,
मूल्येन केन तदमुत्र समीहसे ऽम् ? ॥ १३ ॥

अर्थ—हे भाई ! तू भक्ति से श्री जिनराज की पूजा नहीं करता है एव उत्तम गुरू महाराज की सेवा नहीं करता है, निरन्तर धर्मश्रवण नहीं करता है, विरति (पाप से पीछे हटना—प्रत्याख्यान करना) भी धारण नहीं करता है प्रयोजन से या बिना प्रयोजन से पापों की पुष्टि करता है तो फिर किस मूल्य से प्रात भव में सुख प्राप्त करने की इच्छा रखता है ॥ १३ ॥ वसन्ततिलका

विवेचन—ससार में कोई भी वस्तु बिना कीमत से नहीं मिलती है। जैसे तू आराम के साधनों के लिए परिश्रम कर रुपया पैदा करता है और उन रुपयों से वस्तु खरीदता है वैसे ही यदि परभव में सुख पाने की इच्छा रखता है तो ऊपर बताए गए काम कर जिसके बदले में तुझे सुख मिलेगा। ससार में फसा हुवा तू हर समय धनोपार्जन में लगा रहता है और जब कभी धार्मिक कामों के लिए तुझे सलाह दी जाती है तब कहता है कि "फुरसत ही नहीं है, धंधे से सिर

भी ऊंचा नही हो सकता है !" अरे प्राणी ! इस लोक में पेट भरने के लिए दिन रात में १२ घंटे खर्च करना है जब कि परलोक के सुधारने के लिए तेरे पास १२ मिनट भी नही है ? तू बेखबर होकर अपने पूर्वसंचित पुण्य का नष्ट कर रहा है एव नया पुण्य धन कुछ कमा ही नहीं रहा है विपरीत इसके अनर्थ दड (नाटक, सिनेमा, सर्कस देखना मकान बगले, भोजन संबंधी बातचीत राजकथा एव युद्ध की बातें करना आदि) द्वारा पापधन कमा रहा है, तुझे ही तो अपनी करनी का फल भोगना पड़ेगा अत सावधान होकर इन चारो कामो को अवश्य कर जिससे तू भवोभव में सुख प्राप्त करेगा।

(१) भक्तिपूर्वक प्रभु का पूजन (द्रव्य से या भाव से)।
(२) सद्गुरु के पास से निरतर धर्मश्रवण।
(३) स्थूल विषयो से दूर रहकर उनका यथाशक्ति त्याग।
(४) अकारण या सकारण पापो से निवृत्ति।

सुगुरु सिंह, कुगुरु सियार

चतुष्पदा सिंहइव स्वजात्यैर्मिलन्निमांस्तारयतीह कश्चित।
सहैव तमज्जति कोऽपि दुर्गे, शृगालवच्चेत्यमिलन् वरस ॥१४॥

अर्थ—जिस प्रकार से अपनी जाति के प्राणियो को मिलकर सिंह ने तार दिया उसी प्रकार से कोइ (सुगुरु) अपने जाति भाई (भव्य पञ्चेंद्रिय) को मिलकर इस ससार समुद्र से तारते हैं, और जिस प्रकार से सियार अपने जाति भाइयो के साथ डूब मरा वैसे ही कोइ (कुगुरु) अपने

साथ सबको नरकादि अनंत संसार में डुबाते हैं, अतः ऐसे सियार जैसे पुरुष (कुगुरु) न मिलें तो ही अच्छा है ॥१४॥
उपेंद्रवज्रा

विवेचन—संसार में भटकते हुए प्राणी को कभी ही ऐसा सुयोग प्राप्त होता है जब कि वह सुगुरु का संगति करता है व उनके उपदेश श्रवण से आत्मकल्याण करता है। जो गुरु स्वयं भी तरने में समर्थ हैं और दूसरों को भी तारने में समर्थ हैं व उस सिंह के समान हैं जिसने एक जंगल में अपने आश्रित रहते हुए प्राणियों को दावानल से बचाया। जो कुगुरु स्वयं भी तरना नहीं जानते हैं और दूसरों को भी डुबाते हैं वे उस सियार की तरह हैं जो स्वयं भी डूब गया और अपने भरोसे रहे हुए अनेक प्राणियों को भी डुबा दिया। ऐसे कुगुरु न मिलें तो ही अच्छा है।

कथा—किसी वन के पशुओं ने अपनी रक्षा के लिए एक सिंह को राजा बनाया। एक बार वन में अग्नि का प्रकोप हुवा। सिंह सब पशुओं को नदी किनारे ले आया और सबको एक दूसरे की पूंछ पकड़ने को समझा दिया और सबसे आगे वाले ने उस सिंह की पूंछ पकड़ी इस तरह से उसने अपनी शक्ति से सबको लेकर नदी पार कर ली और उसके कारण सब ही पशु बच गए। अग्नि शांत होने पर वह सबको वापस उसी जंगल में ले आया।

इस जंगल के समीप ही एक और जंगल था, उसका एक सियार बना और यश पाने की इच्छा

लगने पर सिंह की तरह साहस करना शुरू किया। उसमें इतनी शक्ति व साहस कहा ? परिणाम यह हुवा कि बेचारे सब ही प्राणी बीच नदी में डूब मरे वह सियार तो खर डूबा ही मगर साथ में सबको ले डूबा।

इसी प्रकार से कई वेशधारी मुनि जो मात्र उपकरणो के लिए लडते झगडते हं जिन्हे तत्त्वज्ञान होता नही व उन बेचारे ग्रामीण अशिक्षित श्रद्धालु लोगो को विपरीत माग बताकर केवल कथा, कवित्त में फसाए रखकर मझधार में डुबाते हं खुद भी नरक नदी में डूबते हं दूसरो को भी डुबाते हैं। आज सिंह गुरु के दर्शन दुलभ हो रहे हैं।

गुरु का सयोग होनें पर भी जो प्रमाद करता है वह अभागा है

पूर्णे तटाके तृषित सदैव, भूतेऽपि गेहे क्षुधित स मूढ ।
कल्पद्रुमे सत्यपि ही दरिद्रो, गुर्वादियोगेऽपि हि य प्रमादी ॥१५॥

अर्थ—गुरु आदि के योग होने पर भी जो आलस्य करता है वह उस मनुष्य के जैसा है जो तालाब पास होन पर भी प्यासा रहता है, धनधान्य से भरे हुए घर में भी भूखा रहता है और कल्पवृक्ष पास होने पर भी दरिद्र ही रहता है ॥१५॥

उपजाति

विवेचन—गुरु महाराज का बडा महत्त्व है वे सच्चे मार्ग-दर्शक होते है। मुक्ति का बीज (सम्यक्त्व सच्ची श्रद्धा) बोने वाले भी वे ही होते हैं। शुद्ध देव-गुरु धर्म में श्रद्धा आए बिना मुक्ति नही होती है, इन तीनो रत्नो का ज्ञान कराने वाले ये गुरु

ही होते है। ऐसे गुरु का योग होने पर भी जो उनके ज्ञान का लाभ नहीं उठाता है वह ऊपर के दृष्टान्त की तरह प्यासा, भूखा व दरिद्री ही रहता है। श्रद्धा बिना की क्रिया व तप एक (१ सख्या) बिना का शून्य (०) समझना चाहिए। जैसे कोई अक १ न लिखकर चाहे जितने शून्य लिख दे उनका कोई महत्त्व नहीं है वैसे ही सच्ची श्रद्धा बिना की तपस्याए, शून्यवत् है उनका कोई महत्त्व नहीं है। अत उस (१) एक अक की प्राप्ति के लिए सद्गुरु का लाभ लेना चाहिए जो आलस्य में—प्रमाद में रहता है वह दुर्भागी है, मूर्ख है।

देव गुरु धर्म पर आंतरिक प्रेम के बिना जन्म निरर्थक है

न धर्मचिता गुरुदेवभक्तिर्येषां न वैराग्यलवो पि चित्ते।
तेषां प्रसूक्लेशफलः पशूनामिवोद्भवः स्यादुदरंभरीणाम ॥१६॥

अर्थ—जो प्राणी धर्मसबधी चिंता, गुरु और देव के प्रति भक्ति या वैराग्य का अंश भी चित्त में धारण न करते हो उन पेट भरो का जन्म पशु की तरह से जन्मदाता को कष्ट देने वाला ही हुआ ॥ १६ ॥

विवेचन -जो मनुष्य मनमानी तरह से दिनचर्या करते है, मौज शौक में पूरा जीवन बिताते हैं न धर्म का विचार है, न देव गुरु की भक्ति है, न हृदय में वैराग्य है, मस्त हाथी की तरह भूमते हुए चलते हैं कहते कुछ है करते कुछ है, अपढ़ो में सभ्य, करणी से असभ्य ऐसे मनुष्यो का जन्म निरर्थक गया, उनके जन्म से उनकी माता को

व यौवन का ह्रास ही हुवा जस कि पशुम्रा को होता है। क्योकि पशु, माता का कुछ भी उपकार नही करते है।

देव सघादि काय में द्रव्य व्यय

न देवकार्ये न च सघकार्ये, येषा धन नश्वरमाशु तेषाम् ।
तदजनाद्य वृ जिनर्भवाधौ, पतिष्यता कि त्ववलबन स्यात् ॥१७॥

अथ—धन या पसा एक दम नाशवान है। एसा धन जिनके पास हो यदि वे उसका देवकाय में या सघ काय में न खच करें तो उनको उस धन के कमाने में किए गए पापो से ससार समुद्र में गिरते गिरत आधार किसका होगा ? ॥ १ ॥

उपजाति

विवेचन—धन के लिए अनेक पाप करने पडते है। प्राय झूठ, धोखा व हिंसा इसका मुख्य आधार होता है फिर भी धन टिकता नही है, पापोदय से नष्ट हो ही जाता है। ऐसा धन का सग्रह या श्रावक जिसके पास हो वह देव, गुरु धम के लिए या सघ के लिए उसका खच नही करता है तो किए गए पापो के परिणाम स ससार समुद्र में गिरने से उसे कौन बचा सकेगा ? जसे समुद्र में गिरने वाले को लकडी की नाव या पाटिए का आधार होता है वसे ही नरक आदि के दुख से या ससार समुद्र से बचने के लिए जीव को धम की नाव या पाटिया का सहारा होता है। धन का उपयोग सावजनिक लाभ के लिए या जिन मदिर, जिनमूर्ति या जीर्णोधार आदि कराने में या गुरुकुल, पाठशाला, ज्ञानशाला, दानशाला, गौशाला आदि खोलकर या साधारण वर्ग के भाई बहिनो के लिए

उद्योगकेंद्र खोलकर उनकी सहायता करना व आजीविका दिलाने में मदत्गार बनना चाहिए। धर्म के उत्तम ग्रंथों का सरलभाषा में प्रकाशन करा मानव मात्र तक पहुंचाने के लिए सस्ते दामों में ज्ञान प्रचार करना चाहिए। ये सब ही एसे काम हैं जो हमें उस पाप से बचाने में समर्थ होंगे जिनका उपार्जन हमने धन कमाते हुए किया है।

गुरु का महत्त्व सबसे अधिक है, देव धर्म की पहिचान भी गुरु ही कराते हैं, अज्ञान से अंध मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश गुरु ही देते हैं अतः सच्चे गुरु का आधार लेकर तरने का उपाय करना चाहिए। ढोंगी, बदचलन, केवल वेशधारी, साधु समान वेश धारण कर आरंभ सारंभ करने वाले भ्रष्टाचारी गुरुओं का परित्याग कर हमें सच्चे गुरु का मानवत स्वीकार करना चाहिए। वेश देखकर ही बिना परीक्षा से गुरु नहीं करना चाहिए वरना हानि होगी।

इति द्वादश देव गुरु धर्म शुद्धि अधिकार

अथ त्रयोदशो
यतिशिक्षोपदेशाधिकारः

पिछले अधिकार में गुरु महाराज को स्वीकार करने के लाभो का वर्णन किया है। इस अधिकार में यति योग्य शिक्षा दी जाती है। यति शब्द में ससार से विरक्त रहने की प्रतिज्ञा करने वाले साधु, यति, श्रीपूज्य, द्रव्यलिंगी और भट्टारक इन सबका समावेश है। इस पाठ में प्रथम वर्ग को उद्देश्य कर शिक्षा दी गई है। केवल वेश देखने की आवश्यकता नही है वरन व्यवहार भी देखना चाहिए। यह अधिकार दभी, दुराचारी, या वेशधारी को पहचानने में सहायक होने से सभी को उपयोगी है।

मुनि महाराज का भावनामय स्वरूप

ते तीर्णा भववारिधिं मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुमहे,
यषां नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषायै प्लुतम्।
रागद्वेषविमुक्त प्रशातकलुष साम्याप्तशर्माद्वय,
नित्य खेलति चात्मसयमगुणाक्रीडे भजद्भावना ॥ १ ॥

अर्थ—जिनका मन इन्द्रियो के विषयो में आसक्त नही होता है या कषायो से व्याप्त नहीं होता है, जो (मन) राग

द्वेष से मुक्त रहता है, जिसने पाप कार्यों को शांत किया है, जिसने समता द्वारा अद्वैत सुख प्राप्त किया है और जो सद् भावना माना हुआ संयम गुण रूपी उद्यान में सदा खेलता है—इस प्रकार का जिनका मन हुवा है वे मुनि यह संसार समुद्र तर गए हैं अतः उनको हम नमस्कार करते हैं।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—सच्चे मोक्षार्थी आध्यात्मी मुनिराजों की स्थिति का पृथक्करण करते हुए नीचे के गुण स्पष्टतर आते हैं।

(१) शुद्ध मुनिराज पांच इन्द्रियों के तईस विषयों में आसक्त नहीं होते हैं। उनको विलेपन पर राग नहीं होता है। चाय, दूध, मिठाई या दूधपाक, श्रीखंड देखकर उनके मुंह में पानी नहीं छूटता है। दुर्गंध और सुगंध में वे समबुद्धि रहते हैं। स्त्रियों का रूप लावण्य उनको स्खलित नहीं करता है। मधुर संगीत, विषय रस पोषक गान उन्हें मरण समय के विलाप तुल्य प्रतीत होते हैं।

(२) क्रोध, मान, माया, लोभ को जिन्होंने जीत लिया होता है।

(३) संसार के कारणभूत राग, द्वेष को जिन्होंने छोड़ दिया होता है।

(४) अशुभ अध्यवसाय से रहित होने से वे अशुभ कर्म नहीं बांधते हैं।

(५) समतारूपी रंग से उनका जीव रंगा हुआ होता

अथ त्रयोदशो
यतिशिक्षोपदेशाधिकारः

पिछले अधिकार में गुरु महाराज को स्वीकार करने के लाभो का वणन किया है। इस अधिकार में यति योग्य शिक्षा दी जाती है। यति शब्द में ससार से विरक्त रहने की प्रतिज्ञा करने वाले साधु, यति, श्रीपूज्य, द्रव्यलिगी और भटटारक इन सबका समावेश है। इस पाठ में प्रथम वग को उद्देश्य कर शिक्षा दी गई है। केवल वेश देखन की आवश्यकता नही है वरन व्यवहार भी देखना चाहिए। यह अधिकार दभी, दुराचारी, या वेशधारी को पहचानन में सहायक होने से सभी को उपयोगी है।

मुनि महाराज का भावनामय स्वरूप

ते तीर्णा भववारिधि मुनिवरास्तेभ्यो नमस्कुमहे,
येषा नो विषयेषु गृध्यति मनो नो वा कषाय प्लुतम्।
रागद्वेषविमुक्त प्रशातकलुष साम्याप्तशर्माद्वय,
नित्य खेलति चात्मसयमगुणाक्रीडे भजद्भावना ॥ १ ॥

अथ—जिनका मन इन्द्रिया के विषयो में आसक्त नही होता है या कषायो स व्याप्त नही होता है, जो (मन) राग

कपाय करता है, परिषह तथा उपसर्ग सहन नही करता है। (अठारह हजार) शीलांग धारण नहीं करता है, फिर भी तू मोक्ष पाने की इच्छा रखता है, परन्तु हे मुनि! वेश मात्र से संसार समुद्र को कैसे पार करेगा? ॥ २-३ ॥

विवेचन—ऊपर भावनामय मुनि का रूप कहा, यहां व्यतिरेक रूप से उनको क्या करना चाहिए वह कहते हैं —

१ पाच प्रकार का स्वाध्याय प्रतिदिन करना चाहिए। जो इस प्रकार से है —वाचना, (पढ़ना), पृच्छना (शंका पूछना), परावर्तना (पिछला याद करना), अनुप्रेक्षा (विचारणा), धर्मकथा।

२ पांच समिति और तीन गुप्ति जो साधु के खास लक्षण हैं उन्हें आठ प्रवचन माता कहते हैं, इनका पालन अवश्य करना चाहिए। वे ये हैं —

अ—इर्या समिति—निर्जीव मार्ग में सूर्योदय के पश्चात साढ़ा तीन हाथ आगे नजर रखकर जीवों की रक्षा करते हुए चलना। रात को न चलना।

आ—भाषा समिति—निरवद्य (पाप रहित) सत्य, हितकारी और प्रिय वचन भी विचार कर बोलना।

इ—एषणा समिति—अन्नपाणी आदि लेते समय ४२ दोष टालना।

है और वास्तविक सुख (अव्याबाध सुख) के ज्ञाता होने से व आध्यात्मिक सुख में रमण करते रहते हैं।

(६) ये मुनि संयम गुण रूपी विकसित पुष्पोद्यान में क्रीडा करते हैं अर्थात् संयम आदि गुणों वाले होते हैं। उनका नश्चयिक चारित्र यही है।

(७) ऊपर लिखे अनुसार खेलते हुए भी वे निरन्तर अनित्य आदि बारह भावना और मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ इन चार भावनाओं को भाते रहते हैं।

यह आदर्श मात्र है। ऐसे गुणों से विशिष्ट जीवन वाले पुण्यात्मा स्वयं संसार तर गए हैं, तरते हैं और अन्य को तारने में अनुकरणीय बनते हैं। वैसे महात्माओं को हम नमस्कार कर उनके अनुकरण की भावना रखते हैं।

साधु के वेष मात्र से ही मोक्ष नहीं मिलता है

स्वाध्यायमाधित्ससि नो प्रमादै, शुद्धा न गुप्ती समितीश्च धत्से।
तपो द्विधा नार्जसि देहमोहादल्पेऽपि हेतौ दधसे कषायान् ॥२॥
परीषहान्नो सहसे न चोपसर्गान्न शीलाङ्गधरोऽपि चासि।
तन्मोक्ष्यमाणोऽपि भवाब्धिपारं, मुने कथं यास्यसि वेषमात्रात्।
युग्मम् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे मुनि! तू विकथा आदि प्रमाद के कारण स्वाध्याय (सज्झाय ध्यान) करने की इच्छा नहीं रखता है, विषयादि प्रमाद से समिति और गुप्ति प्राप्त नहीं करता है, शरीर के मोह से दोनों प्रकार के तप नहीं करता है, तुच्छ कारण से

विनय करना, पाच प्रकार का स्वाध्याय करना, ध्यान करना और काउसग करना।

चार कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) और उनको जन्म देने वाले और उनके साथ रहने वाले हास्य, रति, अरति आदि नोकषाय न करना। उनका स्वरूप सातवें अध्याय म बताया गया है।

५ बाईस परिषह (भूख, प्यास आदि) एव देव या मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले अनुकूल या प्रतिकूल उपसग समता से सहन चाहिए जरा सा भी क्रोध, द्वेष या क्लेश नही लाना चाहिए। एसे बर्ताव से अपना जीवन समता मय करना चाहिए।

६ शास्त्रकार ने उपसग के चार मुख्य भेद व उनके १६ उपभेद कहे ह।

१—देवकृत—हास्य से, द्वेष से विमश, (विचार सहन कर सकता है कि नही यह देखन के लिए परीक्षा करना), पृथक् विमात्रा—(धम की ईर्षा आदि के लिए वक्रिय शरीर बनाकर जो उपसग दिया जाता है)।

२—मनुष्यकृत—हास्य से द्वेष से, विमश स, कुशील (काम विकार उत्पन्न करके या सतान उत्पत्ति के लिए जबरदस्ती प्रयोग करना कि यह ब्रह्मचारी है इससे यदि सतान होगी तो बलवान होगी इस विचार से ब्रह्मचय का खडन कराने की कोशिश करना है)।

ई—आदान भडमत्त निक्षपणा समिति—किसी भी वस्तु को देखकर, साफ कर, (निर्जीव भमि पर) रखना या लेना। किसी वस्तु को घसीटना नही।

उ—पारिष्ठापतिका समिति—मल, मूत्र, कफ आदि तजते या डालते समय जमीन का या स्थान को पूरी तरह से देखना। मल मूत्र आदि जीव रहित स्थान पर छोडना।

ऊ—मन गुप्ति—अशुभ विचार के लिए मन पर अकुश रखना अथवा सवथा मनोव्यापार न करना।

ए—वचा गुप्ति—किसी भी प्रकार का वचन नही बोलना या पापकारी वचन छोडकर निष्पाप वचन बोलना।

ऐ—काय गुप्ति—शरीर को विना यत्न से प्रवर्त नही करना अर्थात् चाहे जसे हिलने डुलने या काम करने नही देना या उसे विल्कुल क्रिया रहित रखना।

३ दो प्रकार के तप—

ओ—वाह्य तप छ प्रकार का —उपवास आदि करके बिल्कुल नही खाना, कम खाना, कम वस्तुए खाना, रस वाली घी दूध आदि वस्तुए न खाना, कम क्षय के लिए शरीर को कष्ट देना, इद्रियो व शरीर को सकोच कर रखना यह वाह्य तप कहलाता है।

औ—अभ्यतर तप—छ प्रकार का—किए हुए पापो का प्रायश्चित करना, जिन आदि दस का यथायोग्य

विवेचन—कोई संसार से संतप्त व्यक्ति स्मशान वैराग्य से दीक्षित होकर यति या साधु का वेष धारण कर लेता है और क्षणिक वैराग्य के लुप्त होने पर मनमाने आचरण करता है। भोले जीवों को धोखे में डालने वाला उसका वह वेष अनेक अनाचारों पर परदा डालता है। उसकी जीभ नित्य नए पदार्थों के लिए लालायित रहती है उसकी आँखें उसके सम्पर्क में आने वाली रूप सुन्दरियों के अंगों में फिरती हैं उसका परिग्रह बढ़ जाता है अतः मोह बढ़ जाता है इस तरह से बिना वैराग्य के धारण किया हुवा उसका वेष उसकी लालसाओं की पूर्ति का साधन बन जाता है, व क्रमशः उसके पतन का कारण बनता है। वह ढोंगी नीचे उतरता उतरता शील भ्रष्ट हो जाता है और अपने उस वेष द्वारा उपार्जित देवद्रव्य या ज्ञानद्रव्य के आड में किये गए कुत्सित धन के संचय से भावी जीवन का निर्वाह चलाता है।

कोई कोई साधु तो जरा भी तप नहीं करते हैं। वे उपसर्ग और परिषह से डरते हैं और चारित्र में दृढ़ नहीं रहते हैं, जब वे अपनी छुपी पापलीला को समाप्त कर मृत्यु को पाते हैं तब उनके इस वेष से मृत्यु देवी लिहाज नहीं रखती है, उनके लिए नरक प्रतीक्षा करते रहते हैं। मृत्यु व नरक उनके वेष से ठगे नहीं जायेंगे। कई विरले महापुरुष उन नरक व मृत्यु को भी सच्चरित्र द्वारा जीत लेते हैं अतः वेष के साथ बरताव भी वैसा ही रखकर स्वपर का कल्याण करें।

३—तियचकृत्—भय से, द्वेष से, आहार के लिए, व अपने बच्चे की रक्षा के लिए पशु सामने मारने दौडता है वह कष्ट ।

४—आत्मकृत—वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि ।

७ अठारह हजार शीलाग धारण करना चाहिए जिन्हे शास्त्रो से समझें ।

इस प्रकार से ऊपर वर्णित सात तरह के आचरण करना चाहिए। तू जानता है कि ये मोक्ष जाने के साधन है एव तू चाहता भी है मोक्ष में जाना, परन्तु काम विपरीत करता है। वसे साधन बिना केवल वेष से मोक्ष नही जाया जाता अत सद्धम रूपी नाव में बैठ कर मोक्ष में जा पहुच ।

केवल वेष से कोई लाभ नहीं ह

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष,
धत्से चरित्रममल न तु कष्टभीरु ।
तद्वेत्सि कि न न बिभेति जगज्जिघृक्षु
मृत्यु कुतोपि नरकश्च न वेषमात्रात् ।। ४ ।।

अर्थ—तू आजिविका के लिए ही इस ससार में यति का भेष धारण करता है परन्तु कष्टो से डरकर शुद्ध चारित्र नही पालता है, परन्तु तुझे मालूम नहीं है कि समस्त ससार को ग्रहण करने की (हडपने की) इच्छा वाला मौत और नरक किसी भी प्राणी के वेष से डर नही जाते ह ।। ४ ।।

विवेचन—कोई ससार से सतप्त व्यक्ति स्मशान वराग्य से दीक्षित होकर यति या साधु का वेष धारण कर नता है और क्षणिक वराग्य के लुप्त होने पर मनमाने आचरण करता है। भोले जीवो को धाखे म डालने वाला उसका वह वेष अनक अनाचारा पर परदा डालता है। उसकी जीभ नित्य नए पदार्थों के लिए लालायित रहती है, उसकी आखें उसके सम्पक में आन वाली रूप सु दरियो के अगा में फिरती ह उसका परिग्रह बढ जाता है अत मोह बढ जाता है इस तरह से बिना वराग्य क धारण किया हुवा उसका वेष उसकी लालसाओ की पूर्ति का साधन वन जाना है, व क्रमश उसके पतन का कारण बनता है। वह ढागी नीच उतरता उतरता शील भ्रष्ट हो जाता है और अपने उस वेष द्वारा उपार्जित दवद्रव्य या ज्ञानद्रव्य क आड में किये गए कुत्सित धन के सचय से भावी जीवन का निर्वाह चलाता है।

कोई कोई साधु तो जरा भी तप नही करते ह। वे उप सग और परिषह से डरत ह और चारित्र में दृढ नही रहते ह, जब वे अपनी छुपी पापलीला को समाप्त कर मत्यु को पात ह तब उनके उस वेष से मृत्यु देवी लिहाज नही रखती है, उनके लिए नरक प्रतीक्षा करते रहते हैं। मृत्यु व नरक उनके वेष से ठगे नही जायेंगे। कई विरले महापुरुष उन नरक व मृयु को भी सच्चरित्र द्वारा जीत लते ह अत वेष के साथ वरताव भी वसा ही रखकर स्वपर का कल्याण करें।

३—तियचकृत्—भय से, द्वेष से, आहार के लिए, व अपने बच्चे की रक्षा के लिए पशु सामने मारने दौडता है वह कष्ट।

४—आत्मकृत—वात, पित्त, कफ, सन्निपात आदि।

७ अठारह हजार शीलाग धारण करना चाहिए जिन्हें शास्त्रो से समझें।

इस प्रकार से ऊपर वर्णित सात तरह के आचरण करना चाहिए। तू जानता है कि ये मोक्ष जाने के साधन है एवं तू चाहता भी है मोक्ष में जाना, परन्तु काम विपरीत करता है। वैसे साधन बिना केवल वेष से मोक्ष नही जाया जाता अत सद्धर्म रूपी नाव में बैठ कर मोक्ष में जा पहुच।

केवल वेष से कोई लाभ नहीं ह

t

आजीविकार्थमिह यद्यतिवेषमेष,
धत्से चरित्रममल न तु कष्टभीरु।
तद्वेत्सि किं न न बिभेति जगज्जिघृक्षु
र्मृत्यु कुतोपि नरकश्च न वेषमात्रात ॥ ४ ॥

अर्थ—तू आजिविका के लिए ही इस ससार में यति का भेष धारण करता है परन्तु कष्टो से डरकर शुद्ध चारित्र नही पालता है, परन्तु तुझे मालूम नही है कि समस्त ससार को ग्रहण करने की (हडपने की) इच्छा वाला मौत और नरक किसी भी प्राणी के वेष स डर नही जात है ॥ ४ ॥

भावना से साधुपन स्वीकार करने पर भी यदि तू बरताव शुद्ध नहीं रखता है और केवल साधु के भेष से ही फूला फला फिरता है और उस वेश के कारण भोले लोग तुझे सच्चा साधु समझते हैं तू उनकी श्रद्धा का दुरुपयोग करके कई तरह के बहाने या झूठे कारण बताकर कपड़े, दवाइयां घड़ियां, पेन, पोस्ट कार्ड और आदि रीति से रुपये भी मंगाकर अपने विश्वस्तनीय व्यक्ति के पास भजवाता है या किसी व्यक्ति को नौकर रखकर उसके पास जमा करवाता है और पश्चात् उस धन से मनमाना खानपान करता है इससे तू स्वयं अपने आप के लिए नरक के कष्ट निश्चित करता है। बिना गुण के ही तू पूजा की इच्छा रखता है इसीलिए लौकिक दृष्टांत बना है कि —

> मूड मुडाए तीन गुण मिटे सिर की खाज।
> खाने को मोदक मिले लोग कहे महाराज॥

यदि तू केवल वेष ही साधु का रखता है, बर्ताव क्षमा नहीं रखता तो निश्चित ही तू नरक में जाने वाला प्रतीत होता है। अतः वेष के अनुरूप आचरण कर।

बाह्य वेश धारण करने का फल

> जानेऽस्ति संयमतपोभिरमीभिरात्मन्
> अस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोऽपि।
> किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
> सौख्यं च दास्यति परत्र किमित्यवेहि॥ ६॥

केवल वेश धारण करने वाले को तो दोष ही प्राप्त होता है

वेषेण माद्यसि यतेश्चरण विनात्मन,
पूजा च वाछसि जनाद्बहुधोपधि च ।
मुग्धप्रतारणभवे नरकेऽपि गता,
न्याय बिभर्षि तदजागलकर्तरीयम ॥ ५ ॥

अर्थ—हे आत्मा ! तू बरताव (चारित्र) रहित, केवल यति के वेश से ही अक्कड (अहकार) करता है और फिर लोको से पूजा की इच्छा रखता है और अनेक प्रकार से (वस्त्र पात्र आदि) उपाधि पाने की इच्छा रखता है, जिससे भोले (विश्वास करने वाले) लोगो को ठगने से प्राप्त किए हुए नरक में तू अवश्य जाने वाला है ऐसा प्रतीत होता है। निश्चित ही तू अजागल कर्तरी न्याय को धारण करता है ॥ ५ ॥ वसततिलका

विवेचन—किसी कसाई ने मास की इच्छा से एक बकरी पाली। एक बार उसे मारने के लिए वह छुरी ढूढने लगा परन्तु छुरी नही मिली। बकरी स्वभाव से ही पर से मिट्टी खुरचती रहती है एक दिन मिट्टी खुरचते खुरचते जमीन में से एक छुरी निकला, उसे ढाकने के लिए वह ज्यो ही गरदन उसपर रखकर बैठी कि गला कट गया। इसे अजागल कर्त्तरी न्याय कहते है। जैसे बकरी ने स्वय ही अपनी मूर्खता से गला कटाया एव छुरी को छुपाने की इच्छा से अज्ञानता से अपना नाश किया वैसे ही अपनी आत्मा के कल्याण की

भावना से साधुपन स्वीकार करने पर भी यदि तू बरताव शुद्ध नहीं रखता है और केवल साधु के भेष से ही फूला फला फिरता है और उस वेश के कारण भोले लोग तुझे सच्चा साधु समझते हैं तू उनकी श्रद्धा का दुरुपयोग करके कई तरह के बहाने या झूठे कारण बनाकर कपड़े दवाइयाँ घड़ियाँ, पेन, पोस्ट कार्ड और आदि रीति से रुपये भी मंगाकर अपने विश्वस्यनीय व्यक्ति के पास भजवाता है या किसी व्यक्ति को नौकर रखकर उसके पास जमा करवाता है और पश्चात् उस धन से मनमाना खानपान करता है इससे तू स्वयं अपने आप के लिए नरक के कष्ट निश्चित करता है। बिना गुण के ही तू पूजा की इच्छा रखता है इसीलिए लौकिक दृष्टांत बना है कि —

> मूंड मुडाए तीन गुण मिटे सिर की खाज।
> मान का मोदक मिले लोग कहे महाराज॥

यदि तू केवल वेष ही साधु का रखता है, बर्ताव वैसा नहीं रखता तो निश्चित ही तू नरक में जाने वाला प्रतीत होता है। अतः वेष के अनुरूप आचरण कर।

बाह्य वेश धारण करने का फल

> जानेऽस्ति संयमतपोभिरमीभिरात्मन्
> ग्रस्य प्रतिग्रहभरस्य न निष्क्रयोपि।
> किं दुर्गतौ निपततः शरणं तवास्ते,
> सौख्यं च दास्यति परत्र किमित्यवेहि॥ ६॥

अर्थ—मेरी जानकारी के अनुसार तो हे आत्मा ! इस प्रकार के संयम और तप से (गृहस्थ के पास से लिए पात्र, भोजन आदि) वस्तुओं का किराया भी पूरा नही होता है। तब दुर्गति में गिरते हुए तुझे शरण किसका होगा ? परलोक म सुख कौन देगा ? उसका तू विचार कर ॥ ६ ॥

वसंततिलका

विवेचन—गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं का ध्यान न रखते हुए खान पहनन व कभी २ कीमती वस्तुए तक साधु को निसंकोच दे देते ह जिसका बदला व साधु स नही चाहते हं। उनकी भावना यही रहती है कि य धर्मात्मा स्वय का व अन्य का कल्याण करन में तत्पर हं अत हमें इनकी आवश्यकताए श्रद्धापूर्वक पूरी करनी चाहिए। यदि हे साधु तू तप सयम आदि नही करता है तो फिर उन गृहस्थो के ऋण स कैसे उऋण होगा और ऋण चुकान योग्य सयम तप आदि की मात्रा को और अधिक नहीं बढाता है तब तुझे दुर्गति में गिरत वक्त शरण किसका होगा, परलोक में सुख किस धर्म पूजी से मिलेगा ? यह तेरा वेश बुरे कामो स अटकाकर धर्म काम में प्रवृत्त होने के लिए सहायक रूप है इस वेश को देखकर गृहस्थ लोग अनायास ही तेरे पास हाथ जोडत पाव पडने आते ह अत तू उनको स्वय आचरित सद्धर्म का मार्ग बताकर उनसे प्राप्त उपाधि व भोजन वस्त्र के ऋण से मुक्त होता जा। परन्तु मात्र इतने से सतुष्ट न होकर कुछ अधिक तप कर जिससे तेरे पास उनके ऋण चुकाने के बाद

भी अच्छा धर्म का खजाना बच जाय जो तुझे नरक निगोद के दुःखों से बचावे।

बरताव बिना का लोकरंजन बोधिवृक्ष का कुहाड़ा संसार समुद्र में पात

> किं लोकसत्कृतिनमस्करणार्चनाद्यै,
> रे मुग्ध तुष्यसि विनापि विशुद्धयोगान्।
> कृन्तन् भवांबुपतने तव यत्प्रमादो,
> बोधिद्रुमाश्रयमिमानि करोति पर्शून्॥ ७॥

अर्थ—तेरे त्रिकरण योग शुद्ध नहीं हैं फिर भी लोग तेरा आदर सत्कार करते हैं, तुझे नमस्कार करते हैं अथवा तेरी पूजा सेवा करते हैं तब हे मूढ! तू क्यों संतोष मानता है? संसार समुद्र में गिरते हुए तुझे आधार ही केवल बोधिवृक्ष का है उस वृक्ष को काट डालने में नमस्कार आदि से होता हुवा संताप आदि प्रमाद, इसको (लोकसत्कार आदि को) कुहाडा बनाते हैं॥ ७॥ वसंततिलका

विवेचन—लोग तो ऊपरी वेश से ही तुझे साधु माने हुए हैं यदि तेरा मन अस्थिर है वचन पर अंकुश नहीं है और काया तेरे वश में नहीं है तो तू लोगों के वंदन पूजन सत्कार से संतुष्ट होकर अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी मारता है अथवा संसार की गर्मी से बचाने वाले बोधिवृक्ष पर इस वंदन पूजन की अभिलाषा व संतापरूपी कुल्हाड़ी से तू प्रहार कर मोक्ष की शीतल छाया को नष्ट कर रहा है व अपने आधार को नष्ट कर रहा है।

आज का जमाना तो बडा विचित्र होता जा रहा है। बालकों म धार्मिक संस्कार डाले ही नही जाते अत जब वे युवा हो जाते ह तब कुल परपरा से पर्युषणादि म क्रिया तो करने जाते हं लेकिन वह रूढी पालने मात्र का ही जात ह इसका परिणाम यह होता है कि प्रभावना द्वारा तिवारा भी लेने नही सकुचाते ह एव धम श्रवण के बदले हसी मजाक करते ह। मन पर अकुश तो हो ही कैसे सकता है जब कि ज्ञान पढा ही नही है, फलत साथ को प्रतिक्रमण करने के लिए सवत्सरी जसे महापव के दिन, उपवास करके भी लडत ह गाली गलौच करते हं और उनका यह टटा बढते बढते कचहरी तक जाता है। उपासरे में वष म एक ही बार आते ह और सावत्सरिक प्रतिक्रमण के लिए उस धम का अपमानित करने के काम करते हं। इस तरह वे नाम मात्र के श्रावक सघ व धम पर आफत लाते ह वे स्वय ससार समुद्र में गिरते ह अत साधु या श्रावक की जो प्रतिज्ञाए नियत हं उनको वास्तविक रीति से मानना चाहिए।

लोक सत्कार का हेतु गुण बिना की गति

गुणास्तवाश्रित्य नमन्त्यमी जना, ददत्युपध्यालयभक्ष्यशिष्यकान।
विना गुणान वेषमृषर्बिभर्षिचेत, ततष्ठकानां तव भाविनी गति ८

अर्थ—ये लोग तेरे गुणो के कारण तुझे नमस्कार करते हैं उपाधि, उपाश्रय, आहार और शिष्य तुझे देते ह। अब यदि तू गुण बिना ही ऋषि (यति साधु) का भष धारण करता है तो तेरी गति ठग के जसी होगी॥ ९॥ वंशस्थविल

विवेचन—जनता भालो है और वय पर विश्वास करती है तेर वय से मालूम होता है कि तू उपकारी है, निष्कपट है अहिंसक है दोष से दूर रहने वाला अपरिग्रही है एव केवल आत्मार्थी है अत तेरा आवश्यकताओं का बिना ही तेरे कहने वे वे पूरी करते रहते हैं । तुझे ठहरने का स्थान देते हैं, पहनने को वस्त्र देते हैं, खाने का आहार देते हैं और सेवा करने के लिए अपने सतान रत्न भी देते हैं । इतना होने पर भी तू निगुणी, विषयी कषायी, वाचाल व पेट भरा है तो साधु के बजाय तू स्वादु है और तेरा गति ठग जैसी होगी अर्थात सद गति के बजाय दुर्गति होगी तेरा वेष तुझे बचा नहीं सकेगा ।

यतिपन का सत्य और कर्तव्य

नाजीविका प्रणयिनी तनयादिचिता,
नो राजभीश्च भगवत्समय च वत्सि ।
शुद्धे तथापि चरण यतसे न भिक्षो,
तत्त परिग्रहभरो नरकायमेव ॥ ६ ॥

अर्थ—तुझे आजीविका स्त्री पुत्र आदि की चिंता नहीं है न राज्य तरफ से भय है । भगवान के सिद्धांत तू जानता है अथवा सिद्धांत की पुस्तक तेरे पास हैं फिर भी हे यति ! यदि तू शुद्ध चरित्र के लिए प्रयत्न नहीं करता है तो तेरे पास रही हुई वस्तुओं का वजन (परिग्रह) नरक के लिए ही है ॥ ६ ॥ वसततिलका

विवेचन—हे साधु ! हे यति ! तू कितना निश्चिन्त है। तुझे अपने या अपने परिवार के पेट भरने की चिंता नहीं है, कारण कि तेरे तो परिवार ही नहीं है और तुझे स्वयं के लिए भिक्षा नित्य मिल ही जाती है। तू व्यापार आदि नहीं करता है, राज्य के कानून को भंग नहीं करता है अतः राज्य भय भी नहीं है। इस तरह से एक गृहस्थी के लिए जो इह लौकिक प्रमुख कष्टकारी भय (आजीविका) व राज्य के हैं उनसे तू दूर है। परलोक के भय से निर्भय होने के लिए भगवान के सिद्धान्तों को तू जानता है एवं उन सिद्धान्तों के ग्रंथ भी तेरे पास रखे हुए हैं यदि तू उन पर चलता है तो परलोक का भय भी नष्ट है अतः तू निश्चिन्त है। यदि इतने पर भी तू चारित्र के लिए प्रयत्न नहीं करता है एवं विपरीत आचरण करता है तो तेरे पास रहे हुए सब ग्रंथ व अन्य परिग्रह तुझे नरक समुद्र में डुबाने के लिए ही समझे जावेंगे।

यहां जो परिग्रह कहा वह मात्र वस्त्र, पात्र व पुस्तक तक ही सीमित है। पंच महाव्रतधारी होकर जो पैसा या स्त्री का परिग्रह रखते हैं तो वे प्रत्यक्ष दुराचारी ही हैं, परन्तु जो मोटरें, गाडी, घोडा, बैल रखते हों, खेतीवाडी बाग बगीचे रखते हों, छडी चंवर मेघाडम्बर धरते हों, किसी के बुलाने पर पधरामणी करवाते हों उनकी बात तो सूरिजी करते ही नहीं अर्थात् उनके लिए तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता कि कैसी दुर्गति होगी। जैन धर्म का विधान बडा ही उत्तम है। साधु व श्रावक के आचार व्यवहार बहुत विचार करके बांधे

गए हैं। कितने ही पेटू दुष्ट व कपट व्यवहारी केवल यति का भेष पहन कर आधा मुँह पत्ति रखते हुए पैरों में चप्पल सिर पर बालों की पट्टियां में सुगंधित तेल, हाथों में इत्र के फाये घर में पानदान (ग्वाल सिग्रेट) जगत में मस्त हुए बाजारों में दुकानें व कारखाने रखते हैं ऐसे नीच कुकर्मियों को धिक्कार है। वे लोग स्वयं भी अधोगति में जाते हैं व अपने यति के वेश के द्वारा धर्म को बदनाम करते हैं उनको दान देने वालों को भी वे नरक में ले जाते हैं। पहले तो ऐसे कुकर्म मात्र कुछ लोग ही करते थे अब तो अधिक संख्या में ऐसा करते देखे सुने व पढ़े जाते हैं। साधु वर्ग के एक स्थान पर जमे रहने से बगीचों व उपाश्रयों में पड़े रहने से व जिह्वा के वशीभूत होकर सरस भोजन करने के ये दुष्परिणाम हैं। साधु लोग गृहस्थों के खान पान को छोड़कर अन्यत्र बस जाते हैं अतः दुष्परिणाम प्रत्यक्ष है।

ज्ञानी भी प्रमाद के वश हो जाते हैं—इसके दो कारण

शास्त्रज्ञोऽपि धृतव्रतोऽपि गृहिणीपुत्रादिबंधोज्झितोऽ-
प्यंगी यद्यतते प्रमादवशगो न प्रेत्यसौख्यश्रिये।
तन्मोहद्विषतस्त्रिलोकजयिनः काचित्परा दुष्टता,
बद्धायुष्कतया स वा नरपशुर्नूनं गमी दुर्गतौ ॥ १० ॥

अर्थ—शास्त्र का जानकार हो व्रत ग्रहण किए हुए हो, तथा स्त्री पुत्र आदि बंधन से मुक्त हो फिर भी प्रमाद के वश होकर पारलौकिक सुखरूप लक्ष्मी के लिए यह प्राणी

कुछ भी प्रयत्न नही करता है उसका कारण तीन लोक को जीतने वाले मोह नामक शत्रु की अकथनीय दुष्टता होनी चाहिए अथवा वह नरपशु पूर्व में कसी बाधी हुई आयु के कारण से अवश्य दुर्गति म जाने वाला होना चाहिए।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—आत्मा का शत्रु रूप मोह राजा अपना साम्राज्य फलाकर समस्त ससार को प्रमाद मदिरा का पान कराकर नचाता है। उसने साधारण लोगो को तो पागल बना ही दिया है परन्तु तुझ जसे त्यागी व ज्ञानी अपरिग्रही को भी नही छोडा है तू भी उसके पंजे में फस गया है, अथवा तूने पहले ऐसे कर्म किए हैं कि जिनसे तू अवश्य ही दुर्गति में जाने वाला है, क्योंकि इतना त्याग करने पर भी एवं शास्त्राभ्यास करने पर भी तुझे मोह के बाण लग रहे हैं और उनका जहरी असर तेरी तपस्या क्रिया व त्याग को क्षीण कर देता है अर्थात् तू भी साधारण जनता की तरह से विषय वासना, मग्न हुवा, ममता और अहकार का त्याग नही सका है।

यति यदि सावद्य आचरण करता है तो उसमें मृषोक्ति का भी दोष है

> उच्चारयस्यनुदिन न करोमि सर्व,
> सावद्यमित्यसकृदेतदथो करोषि ।
> नित्य मृषोक्तिजिनवचनभारितात्तत,
> सावद्यतो नरकमेव विभावये ते ॥ ११ ॥

अर्थ—तू हमेशा रात और दिन मिलाकर नौ बार करेमिभंते का उच्चारण करता है कि म सावद्य काम नही करूगा

और फिर भी वसे काम करता जाता है। एसे मावद्य काम करके तू भूठ बोलने वाला होने स प्रभु को भी ठगता है और इस पाप के भार से भारी बन हुए तेरे लिए तो नरक निश्चित है ही एसा म मानता हू ॥ ११ ॥ वशस्तिनवृत्त

विवेचन—श्रावक या श्राविका भी दिन म जब सामायिक करते हं तब करेमिभते का पाठ बोलकर निश्चित समय के लिए पापकारी काम से दूर रहने की प्रतिज्ञा करते हं जब कि साधु या साध्वी व्रत अंगीकार करते ही यावत रहे हुए पूरे जीवन के लिए वसी प्रतिज्ञा ते ह उस सूत्र को करेमिभते कहते ह । सूत्र है — करेमिभते सामाइय सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामी जावज्जीवाए तिविह तिविहेण आदि ॥ श्रावक श्राविका की प्रतिज्ञा में 'जावनियम' होता है जब कि साधु साध्वी की प्रतिज्ञा म "जावज्जीवाए" शब्द होता है । साधु साध्वी को अपनी इस प्रतिज्ञा का स्मरण दिन रात में मिलाकर नौ वार करना पडता है कि म पाप कारी (सावद्य) काय मन, वचन और काय से नहीं करूगा, न कराऊगा आदि ॥ इस प्रतिज्ञा में बध होते हुए भी ह साधु—यति ! जब तू पाप करता है तब तो भूठ भी बोलता है और भूठी प्रतिज्ञा लेकर भगवान को भी ठगता है । अत तेरे लिए वसो दशा म नरक गति निश्चित है ।

यति यदि सावद्य का आचरण करता है उसमें ठगाई का दोष

वधोपदेशाद्य पधिप्रतारिता, ददत्यभीष्टानृजयोऽधुना जना ।
भुक्षे च शेषे च सुख विचेष्टसे, भवांतरे ज्ञास्यसि तत्फल पुन १२

अर्थ—वेश, उपदेश और कपट से ठगे हुए भोले लोग तुझे अभी इच्छित वस्तुएं देते हैं, तू सुख से खाता है, सोता है और फिरता है परन्तु आगे भव में तुझे उनका फल मालूम पड़ेगा ॥ १२ ॥ उपजाति

विवेचन—लोग केवल वेश से ही प्रभावित होकर तुझे खाने पीने को देते हैं यदि तू आचरण विपरीत करता है तो इस ठगाई का फल अगले भव में मिलेगा। उपाध्यायजी ने फरमाया है कि 'जो झूठा दे उपदेश, जनरंजन को धरे वेश, उसका झूठा सकल कलेश हो लाल माया मोस न कीजे।

संयम में प्रयत्न न करने वाले को हितोपदेश

आजीविकादिविविधार्त्तिभृशानिशार्त्ता,
कृच्छ्रेण केऽपि महतैव सृजन्ति धर्मान् ।
तेभ्योऽपि निर्दय जिघृक्षसि सर्वमिष्टं,
नो संयमे च यतसे भविता कथं हि ॥ १३ ॥

अर्थ—आजीविका चलाना आदि अनेक प्रकार की पीड़ाओं से रात दिन बहुत हैरान तंग हुए कितने ही गृहस्थ महा मुसीबत से धर्म काम करते हैं उनके पास से हे दयाहीन यति ! तू अपनी सब इष्ट वस्तुएं प्राप्त करना चाहता है और संयम में यत्न नहीं करता है, तब तेरा क्या होगा ? ॥ १३ ॥ वसंततिलका

विवेचन—हे यति ! तुझे अपनी व दूसरे की जरा भी दया नहीं है। गृहस्थाश्रम में अनेक प्रपंच व खर्च में फंसे

ऐसे लोग महामुमावन में पर पच जाते हैं फिर भी उन में से कतिपय धर्म के नाम में द्रव्य लगाने के हेतु तुझे इष्ट वस्तुएं देते हैं या तेरे कथनानुसार द्रव्य लगाते हैं परन्तु तू अपने प्रतिगुप्त अथ भवना में पाप उस द्रव्य को पहुंचाने का प्रयत्न करता है तब वहां उस जमा द्रव्य का इच्छित उपभोग करता है कोई कोई तो साधु वेश को त्याग कर किसी भोली विधवा आदि को फंसाकर घर माड बैठता है महामुनिराज के अनाकार लिए गए चारित्र का मडन करके नरकगामी बनता है इस तरह से तुझे पराई दया भी नहीं है और अपनी स्वयं की दया भी नहीं है।

निर्गुण मुनि का भक्ति से स्वयं उन तथा उसके भक्तों को कुछ भी फल नहीं मिलता है

आराधितो वा गुणवान् स्वयं तरन्
भवाब्धिमस्मानपि तारयिष्यति ।
श्रयन्ति ये त्वामिति भूरिभक्तिभि
फलं तवैषां च किमस्ति निर्गुण ॥ १४ ॥

अर्थ—इस गुणवान पुरुष की आराधना की जाय तो यह जब भवसमुद्र तरेगा तब हम भी तारेगा इस प्रकार का बहुत भक्ति से कई मनुष्य तेरा आश्रय लेते हैं। इससे हे निर्गुण ! तुझे और उनको क्या लाभ होगा ॥ १४ ॥

इद्रवज्रा तथा वंशस्थ (उपजाति)

विवेचन—विचारे अल्पज्ञानी जीव, भद्रिक भाव से व धर्म बुद्धि से तेरा आसरा लेते हैं जिनका ध्येय संसार समुद्र

मे तरने में तेरी सहायता लेता है, ऐसी सहायता तो तू कुछ देता नही है, दे सकता भी नही है तब तुझे क्या लाभ होगा क्योंकि तू निर्गुणी है।

तुझे सुपात्र जानकर—धर्मक्षेत्र जानकर उत्तम वस्तुए वोराते है और उनको पुण्य बध होगा व उस पुण्यबध में तू निमित्त है अत तुझे भी पुण्यबध होगा ऐसा सान्त्वना मात्र कल्पना है। यदि तू वास्तव मे गुणवान व सयमी है और वेश के अनुरूप ही तेरा व्यवहार है तब तो उनको और तुझको पुण्य का बध होगा नही तो तुम दोनो को कोई लाभ नही मिलेगा।

निर्गुणी मुनि को पाप का बध होता है

स्वय प्रमादैर्निपतन भवाम्बुधौ, कथ स्वभक्तानपि तारयिष्यसि।
प्रतारयन स्वार्थमृजून शिवार्थिन, स्वतोऽन्यतश्चैव विलुप्यसेंऽहसा॥

अर्थ—तू स्वय प्रमाद के द्वारा समुद्र में पडता जाता है तो फिर अपने भक्तो को किस प्रकार से तार सकेगा? बिचारे मोक्षार्थी सरल जीवो को अपने स्वार्थ के लिए ठगकर स्वय के द्वारा व दूसरो के द्वारा तू स्वय पाप से लिप्त होता है॥ १५॥ वशस्थविल

विवेचन—जैसे कोई मनुष्य किसी वृक्ष के नीचे विश्राम करने के लिए शान्ति से बैठे परतु यदि वह वृक्ष अग्नि उगलता हो तो कितना आश्चर्य होता है! क्या फिर कभी कोई मनुष्य किसी हरे वृक्ष के नीचे बैठेगा? नही, कदापि

नहीं! ऐसी अनहोनी विश्वास घातक घटना में वह क्षुब्ध होगा! यह असंभव बात है कि कोई वृक्ष आग उगले। इसी तरह से संसार माया से त्रस्त दुःखी संतप्त जीव तेरा आसरा ढूंढते हैं तेरे चरणों में अपना जीवन समर्पण कर देते हैं परन्तु हे ठग, यदि तू स्वयं ही प्रमाद आदि के द्वारा संतप्त है, संसार समुद्र में गिरता जा रहा है तो तेरे आसरे रहे हुए प्राणी को तू क्या बचा सकता है। जैसे हरे पेड़ में से अग्नि की ज्वाला असंभव है वैसे ही सच्चे यति या मुनि के लिए पतन या पातन अशक्य है। जैसे कृत्रिम वृक्ष में से अग्नि प्रगट हो सकता है वैसे ही मात्र वेशधारी कृत्रिम साधु में सब दोष संभव हो सकते हैं। वैसा साधु या यति स्वयं भी पाप में लिप्त होता है और भक्तों को भी पाप में लपेटता जाता है। हे साधु, तेरे वेश में और वतन में वह शक्ति है कि तू स्वयं भी तर सकता है और अन्य को भी तार सकता है। प्रमाद को छोड़कर तू वीर बन और इस बीसवीं सदी के संतप्त, भयग्रस्त और मार्ग ढूंढते हुए प्राणियों का मार्गदर्शक बन। उनका दुःख दूर कर। इसी आशा में तेरा आसरा श्रद्धालु लेते हैं अतः स्वयं भी तर और दूसरों को भी तार। नहीं तो पत्थर की नाव की तरह से तू स्वयं भी डूबेगा और अन्य को भी डुबावेगा। केवल अपने अंध भक्तों के बाड़े में बंधा हुआ तू अपना जीवन बर्बाद न कर, धर्म की सेवा कर।

निर्गुणी को होता हुआ ऋण और उसका परिणाम

गृह्णासि शय्याहृतिपुस्तकोपधीन् सदा परेभ्यस्तपसस्त्वियं स्थितिः।
तत्ते प्रमादाद्भरितात्प्रतिग्रहैर्ऋणार्णमग्नस्य परत्र ॥१६॥

अथ—तू दूसरा के पास मे वसनि (उपाश्रय) आहार पुस्तक और उपधि (वस्त्र पात्रादि) ग्रहण करता है। यह स्थिति तो तपस्वी लोगो की (शुद्ध चारित्र वाला की) है (अत यह लेने का अधिकार ता मात्र तपस्वियो का है)। तू तो उनको स्वीकार करके वापस प्रमाद के वश म हो जाना है, तब बडे करज में डूबे हुए तेरे जसे की परभव म क्या दशा होगी? ॥ १६ ॥ उपजाति

विवेचन—जसे किसी वीर पुरुष को उत्साहित करने के लिए या उसके आलस्य को हटाने के लिए वीरोचित कटु शब्दो का प्रयोग किया जाकर उस इच्छित मार्ग पर लाया जाता है वसे ही धमवीर महाभाग्यवान पुरुष जो चारित्र ग्रहण कर मोक्षमाग की तरफ प्रयाण करता है परतु प्रमाद के वश या रसो के लोभ के वश या अध श्रद्धालुओ की अधिक भक्ति के वश या धीरे धीरे बढते हुए परिग्रह के वश वह अपने वीर माग मे स्खलना करता है या चरित्र पालन में ढील करता है या धीमे धीमे अपने कत्तव्य से च्युत होता जाता है वसे धमवीर को वापस माग पर लाने के लिए ग्रथकार कहते हैं कि हे मुनि! तू तो दुतरफा करज में डूबा जाता है। एक तो चारि ... के प्रमाद आच-रता है ... दूसरा शुद्ध चारि ... हुए भी आहार ... अत जस प ... सिर ... तेरी गति ... प्रिय ... प्ररित ... नहीं होती

तू अपने कौन से गुण के लिए मान की इच्छा रखता है ?

न क्वापि सिद्धिर्न च तेऽतिशायि, मुने क्रियायोगतपः श्रुतादि ।
तथाप्यहंकारकदर्थितस्त्वं ख्यातीच्छया ताम्यसि धिङ् मुधा किम्

अर्थ—हे मुनि ! न तो तेरे में कोई विशेष सिद्धि है, न उच्च प्रकार की क्रिया योग, तपस्या या ज्ञान ही है फिर भी अहंकार से कदर्थना पाया हुवा प्रसिद्धि पाने की इच्छा से हे अधम ! तू फालतू परिताप क्या सहता है ? ॥ १७ ॥

उपजाति

विवेचन—हे मुनि तू निरर्थक परिताप क्या सहन करता है ? यदि तेरे में अणिमा आदि आठ सिद्धियां हों अथवा उच्च प्रकार की आतापना सहन की हो या घोर परिषह उपसर्ग आदि सहने की शक्ति हो या योग वहन अथवा योग चूर्णादि तुझे प्राप्त हों या घोर तपस्या मासक्षमण आदि तूने किए हों अथवा सूत्र सिद्धान्त का रहस्य पाने जितना अभ्यास किया हो या गीतार्थ बनने योग्य ज्ञान तूने पाया हो तब तू मान पाने की इच्छा करता हो तो ठीक है (यद्यपि इतने विद्वान या तपस्वी मान करते ही नहीं हैं) यदि इतना नहीं है तो तू क्या देखकर अभिमान करता है । हे साधु ! गुण तो कस्तूरी जैसा है । वह जहां होता है प्रगट हो ही जाता है, जैसे कस्तूरी छुपी नहीं रह सकती वैसे ही गुण भी छुपा नहीं रह सकता है, गुणी की पूजा तो अवश्यमेव होती है ।

अर्थ—तू दूसरा के पास से वसति (उपाश्रय) आहार, पुस्तक और उपधि (वस्त्र पात्रादि) ग्रहण करता है। यह स्थिति तो तपस्वी लोगों की (शुद्ध चारित्र वालों की) है (अत यह लेने का अधिकार तो मात्र तपस्वियों का है)। तू तो उनको स्वीकार करके वापस प्रमाद के वश में हो जाता है, तब बडे करज म डूब हुए तेरे जैसे की परभव में क्या दशा होगी ? ॥ १६ ॥ उपजाति

विवेचन—जसे किसी वीर पुरुष को उत्साहित करने के लिए या उसके आलस्य को हटाने के लिए तीराचित कट शब्दों का प्रयोग किया जाकर उस इच्छित माग पर लाया जाता है वसे ही धमवीर महाभाग्यवान पुरुष जो चारित्र ग्रहण कर मोक्षमाग की तरफ प्रयाण करता है परतु प्रमाद के वश या रसना के लोभ के वश या अध श्रद्धालुओं की अधिक भक्ति के वश या धीरे धीरे बढत हुए परिग्रह के वश वह अपने वीर माग में स्खलना करता है या चरित्र पालन में ढील करता है या धीमे धीमे अपन कत्तव्य से च्युत होता जाता है वसे धमवीर को वापस माग पर लाने के लिए ग्रथकार कहते ह कि हे मुनि ! तू तो दुतरफा करज म डूबा जाता है। एक तो चारित्र ग्रहण करके प्रमाद आचरता है और दूसरा शुद्ध चारित्र न पालते हुए भी आहार आदि लेता है अत जस करजदार मनुष्य ऊंचा सिर नहीं कर सकता है वसे ही तेरी गति होगी। अपने प्रिय शिष्य या पुत्र को कटु शब्द कहकर प्रेरित किया जाता है इसमें पिता या गुरु की भावना दूषित नहीं होती है वस ही यहा भी है।

(स) योगचूण—पुद्गल में अनत शक्ति है। दो या अधिक वस्तुओं के सयोग से एस चूण बनाए जा सक्ते ह जो चमत्कारी होत ह। जस कि उस चूण का पानी में डालन से मछलिया उत्पन्न हो जाती ह। सिंह बन जाना है। जल में रास्ता बन जाता है। पुदगल की शक्ति को वस्तु विज्ञान शास्त्री जल्दी समभ सकता है।

(ब) योगवहन सूत्र—इस सूत्र को साधु ही पढ सकते ह जिसमें भी निश्चित वर्षों की दीक्षा के पश्चात् एव तत्सबधी क्रिया करन के बाद ही। इसका सामान्य हेतु यह है कि इससे मन वचन काया पर योग्य अकुश आता है।

योगवहन की क्रिया में अमुक विधि और तपस्या करन क बाद पाठ पढन की आज्ञा मिलती है, इसे उद्देश कहते ह। इसस अधिक योग्यता होन पर गुरु महाराज इस पाठ की पुनरावृत्ति करन को स्थिर करने की और तत्सबधी शका समाधान आदि की बातचीत करने की आज्ञा देते ह इसे समुद्देश कहने ह। इससे भी अधिक योग्यता होने पर उन्ही पाठो को पढान की और उनका योग्य उपयोग करन की आज्ञा देत ह उसे अनुज्ञा कहते ह।

जो निर्गुणी होता हुआ भी स्तुति की इच्छा रखता हो उसका फल

हीनोऽप्यरे भाग्यगुणैर्मुधात्मन्, वांछस्तवार्चाद्यनवाप्नुवश्च।
ईर्ष्यन् परेभ्यो लभसेऽतितापमिहापि याता कुगति परत्र ॥१८॥

(अ) आठ सिद्धिया —

१ अणिमा—शरीर को इतना छोटा कर देना कि वह सूई के छेद में से पार हो सके।

२ महिमा—इतना बडा रूप करना कि मेरुपवत भी घुटने तक ऊचा प्रतीत हो।

३ लघिमा—वजन में पवन से भी हलका हो जाना।

४ गरिमा—वज्र से भी अधिक भारी हो जाना यह भार इतना अधिक होता है कि इन्द्र भी जिसे सहन नही कर सकता हो।

५ प्राप्ति शक्ति—शरीर को इतना ऊचा कर देना कि पृथ्वी पर खडे खडे मेरु पवत की चोटी को अगुली से छू सकना और ग्रह आदि का स्पश कर सकना (वैक्रिय शरीर से नही, आत्म-शक्ति से)।

६ प्राकाम्य शक्ति—पानी में गोते लगाने की तरह जमीन में गोता लगाना और जमीन की तरह पानी पर चलना।

७ इशित्व—चक्रवर्ती और इन्द्र की ऋद्धि प्रकट करने की शक्ति।

८ वशित्व—सिंह आदि हिंसक पशु भी वश में हो जाय।

(आदिश्वर चरित्र सग १ पृ० ८५२–८५६)

अर्थ—तू गुण रहित है फिर भी लोगो के पास से वदन, स्तुति, आहार पानी आदि खुश होकर पाने की इच्छा रखता है परन्तु याद रखना कि भैंस गाय घोडा, ऊँट या गधे की योनि में जन्मे बिना तेरा छुटकारा नही है ॥१६॥ वंशस्थ

विवेचन—जो जिसका ऋणी होता है उसमे उऋण हुए बिना उसका छुटकारा नहीं होता है। हे साधु तू निर्गुणी है फिर भी भोले लोगो से वदन सत्कार और खान पान ग्रहण करता है इसका चुकारा तुझे कभी भैंसा, गाय घोडा ऊँट या गधा बनकर करना होगा। तू यह न समझ रखना कि लोग तुझे विनति कर खूब सत्कार से अपने घर गोचरी के लिए ले जाते है उसका बदला देना ही नही पडेगा ? उसका बदला तुझे उनके यहा गाडी में जुतकर या सवारी में काम आकर या बोझ लाद कर देना होगा कारण कि वे तुझे गुणी धर्मात्मा और उपकारी जानकर यह सब देते है जब कि तू उनका अन्न खाकर वस्त्र पहन कर या सत्कार पाकर मन में फूला नही समाता है, प्रमादी बनकर अपनी कीर्ति फैलाने में लगा हुआ है और गुप्त रूप से अपनी वृद्धावस्था आराम से निकले वैसे स्थान बनाने में या धन संग्रह करने में या ऐसे व्यक्ति ढूढने में लगा है जो तेरे स्वार्थों की पूर्ति कर सकते हो उनको सहायता से तू विपरीत मार्ग का आलम्बन कर स्वयं का व उनका पतन करता है अत गुण के बिना स्तुति की इच्छा मत रख। गुण के लिए प्रयत्न कर। जैसे पशुओ के पीछे पूछ अपने आप चली आती है वैसे ही गुण के

अर्थ—हे आत्मा ! तू पुण्य रहित है फिर भी पूजा आदि की इच्छा रखता है और जब वह नहीं मिलती है तब तू दूसरों पर द्वेष करता है ! (परन्तु क्षमा करने से) इस भव में संताप पाता है और परभव में कुगति में जाता है ॥ १८ ॥ उपजाति

विवेचन—पूर्व पुण्य के बिना पूजा सत्कार आदि की प्राप्ति नहीं होती है। हे आत्मा, तू ने पिछले भव में दान शील तप आदि नहीं किए अतः इस भव में तुझे पूजा सत्कार नहीं मिल रहे हैं। तू तो मात्र साधु का बाना धारण करके ही पूजा चाहने लगा है परन्तु जिसका तू उपासक है व जिसके बताए हुए मार्ग पर अग्रसर हो रहा है वह वीर परमात्मा तो मान अपमान या पूजा निंदा में समान दृष्टि वाले थे। इन्द्र के महोत्सव या दशार्णभद्रराजा द्वारा किए गए स्वागत का उनके मन पर जरा सा भी असर नहीं हुवा। तेरे पहले के पुण्य न होने से अभी पूजा का अभाव है तथा तू औरों पर द्वेष करता है अतः कुगति निश्चित है। पहले योग्य तो बन बाद में योग्यतानुसार इज्जत व सत्कार स्वयं ही मिलेगा। स्तुति ऐसी वस्तु है कि जो उसकी इच्छा करता है उससे वह दूर भागती है परंतु जो उसको लात मारता है या उसके कारणों को प्राप्त करता है उसके पास स्वयं चली आती है अतः प्रथम योग्यता प्राप्त कर, बाद में उसकी इच्छा करना।

गुण बिना स्तुति की इच्छा करने वाले का ऋण

गुणैर्विहीनोऽपि जनानतिस्तुतिप्रतिग्रहान् यन्मुदितः प्रतीच्छसि।
लुलायगोऽश्वोष्ट्रखरादिजन्मभिर्विना ततस्ते भविता न निष्क्रयः १६

अथ—तू गुण रहित है फिर भी लोगो के पास से वदन, स्तुति, आहार पानी प्राप्ति सुख और पान की इच्छा रखता है परन्तु याद रखना कि भव, गाय घोडा, ऊंट या गध की योनि म जन्म बिना तेरा छुटकारा नहीं है ॥१६॥ वनस्थ

विवेचन—जो जिसका ऋणी होता है उससे उऋण हुए बिना उसका छुटकारा नही होता है। हे साधु तू निर्गुणा है फिर भी भोले लोगो से वदन म स्कार और मान पान ग्रहण करता है इसका पुकारा तुझ कभी भैसा गाय घोड़ा ऊट या गधा बनकर करना होगा। तू यह न समझ रखना कि लोग तुझ विनति कर खूब सत्कार से अपने घर गोचरी क लिए ले जाते ह उसका बदला देना ही नहीं पडेगा ? उसका बदला तुझ उनके यहा गाडी में जुतकर या सवारी में काम आकर या बोझ लाद कर देना होगा कारण कि व तुझ गुणी धर्मात्मा और उपकारी जानकर यह सब देते ह जब कि तू उनका अन्न खाकर वस्त्र पहन कर या सत्कार पाकर मन में फला नही समाता है, प्रमादी बनकर अपनी कीर्ति फैलाने में लगा हुवा है और गुप्त रूप से अपनी वृद्धावस्था आराम से निकले वैसे स्थान बनाने में या धन सग्रह करने में या एसे व्यक्ति ढूंढने में लगा है जो तेरे स्वार्थों की पूर्ति कर सकते हो उनकी सहायता स तू विपरीत मार्ग का अवलबन कर स्वय का व उनका पतन करता है अत गुण के बिना स्तुति की इच्छा मत रख। गुण के लिए प्रयत्न कर। जस पशुओ के पीछ पूछ अपने आप चली आती है वस ही गुण के

अर्थ—हे आत्मा ! तू पुण्य रहित है फिर भी पूजा आदि की इच्छा रखता है और जब वह नही मिलती है तब तू दूसरा पर द्वेष करता है ! (परन्तु वैसा करने से) इस भव में संताप पाता है और परभव में कुगति में जाता है ॥ १८ ॥ उपजाति

विवेचन—पूर्व पुण्य के बिना पूजा सत्कार आदि की प्राप्ति नही होती है। हे आत्मा, तू ने पिछले भव में दान शील तप आदि नही किए अतः इस भव में शुभ पूजा सत्कार नही मिल रहे हैं। तू तो मात्र साधु का वाना धारण करके ही पूजा चाहने लगा है परन्तु जिसका तू उपासक है व जिसके बताए हुए मार्ग पर अग्रसर हो रहा है वह वीर परमात्मा तो मान अपमान या पूजा निंदा में समान दृष्टि वाले थे। इन्द्र के महोत्सव या दशार्णभद्रराजा द्वारा किए गए स्वागत का उनके मन पर जरा सा भी असर नही हुवा। तेरे पहले के पुण्य न होने से अभी पूजा का अभाव है तथा तू औरो पर द्वेष करता है अतः कुगति निश्चित है। पहले योग्य तो बन बाद में योग्यतानुसार इज्जत व सत्कार स्वयं ही मिलेंगे। स्तुति ऐसी वस्तु है कि जो उसकी इच्छा करता है उससे वह दूर भागती है परन्तु जो उसको लात मारता है या उसकी धारणा को प्राप्त करता है उसके पास स्वयं चली आती है अतः प्रथम योग्यता प्राप्त कर, बाद में उसकी इच्छा करना।

गुण बिना स्तुति की इच्छा करने वाले का ऋण

गुणैर्विहीनोपि जनानतिस्तुतिप्रतिग्रहान् यन्मुदित प्रतीच्छसि ।
सुलायगो इवोष्ट्रखरादिजन्मभिर्विना ततस्ते भविता न निष्क्रय १९

अर्थ—तू गुण रहित है फिर भी लोगो के पास से वदन स्तुति आहार पानी आदि खुश होकर पान की इच्छा रखता है परतु याद रखना कि भैस गाय घोडा, ऊट या गधे की योनि मे जन्मे बिना तेरा छुटकारा नही है ॥१६॥ वंशस्थ

विवेचन—जो जिसका ऋणी होता है उससे उऋण हुए बिना उसका छुटकारा नही होता है। हे साधु तू निर्गुणी है फिर भी भोले लोगो से वदन सत्कार और खान पान ग्रहण करता है इसका चुकारा तुझे कभी भैसा, गाय घोडा ऊट या गधा बनकर करना होगा। तू यह न समझ रखना कि लोग तुझे विनति कर खूब सत्कार से अपने घर गोचरी के लिए ले जाते है उसका बदला देना ही नही पडेगा ? उसका बदला तुझे उनके यहा गाडी में जुतकर या सवारी में काम आकर या बोझ लाद कर देना होगा कारण कि वे तुझे गुणी धर्मात्मा और उपकारी जानकर यह सब देते है जब कि तू उनका अन्न खाकर वस्त्र पहन कर या सत्कार पाकर मन में फूला नही समाता है, प्रमादी बनकर अपनी कीर्ति फैलाने में लगा हुवा है और गुप्त रूप से अपनी वृद्धावस्था आराम से निकले ऐसे स्थान बनाने में या धन सग्रह करने में या ऐसे व्यक्ति ढूढने में लगा है जो तेरे स्वार्थों की पूर्ति कर सकते हो उनकी सहायता से तू विपरीत मार्ग का आलबन कर स्वय का व उनका पतन करता है अत गुण के बिना स्तुति की इच्छा मत रख। गुण के लिए प्रयत्न कर। जैसे पशुओ के पीछे पूछ अपने आप चली आती है वैसे ही गुण के

पीछे स्तुति तो अपने आप ही चली आएगी। हे वेषधारी ! तू क्या सावधान नही होता है। तू अपने नाम के आगे बडे बडे विशेषण लगवाते क्या नही शर्माता है। कभी कभी तो तू एसे विशेषण लगवाता है जिनको पढकर तेरे प्रति घृणा पैदा हो जाती है। तेरे अंध भक्त तुझे परमात्मा के बराबर मानकर पूजते हैं परन्तु तू तो स्वय अपने आप को जान रहा है कि तू कैसा है। कभी तूने विचार किया है कि क्या ये विशेषण तेरे योग्य हैं ? यदि नही तो तू पढा लिखा मूर्ख है।

गुण बिना के वदन पूजन के फल

गुणेषु नोद्यच्छसि चेन्मुने तत, प्रगीयसे यदपि वद्यसेऽर्च्यसे।
जुगुप्सिता प्रेत्य गतिं गतोऽपि तद्हसिष्यसे चाभिभविष्यसेऽपि वा २०

अर्थ—हे मुनि ! तू गुण प्राप्त करने का प्रयत्न नही करता है अत जो अभी तेरे गुणो की स्तुति करते हैं तुझे वदना करते हैं और पूजते हैं वही लोग जब तू कुगति में जाएगा तब वे वास्तव में हसेंगे और तेरा अपमान करेंगे ॥ २० ॥

वशस्थविल

विवेचन—जसे कोई आदमी बहुत दिखावा करता हुआ दूसरो को उपदेश देता फिरता हो, सबके सामने पडित व सदाचारी बना हुवा इमानदारी से काम करता हुआ नजर आता हो परन्तु यदि कभी वह चोरी या व्यभिचार करता हुआ पकडा जाय तब उसका क्या हाल होता है ? जो लोग उसकी स्तुति करते थे वही मजाक उडाएगे व अपमान करेंग। वसे ही हे मुनि ! तू,

गुण रहित होकर मात्र बाहरी दिखावे से ज्ञानी तथा उपकारी बना फिर रहा है लेकिन जब तू अपनी करनी का फल पाने को कुगति में जाएगा तब वे ही लोग जा तेरा सत्कार करते थ तेरा अपमान करेंगे व तेरी हंसी उडाएंगे। किए हुए कर्म तुझे अवश्य भुगतने पड़ेंगे। अतः उस स्थिति का विचार करके दंभ छोड दे। सन्मार्ग पर आ।

गुण बिना के वंदन पूजन से हित का नाश

दानमाननुतिवंदनापरमोंदसे निकृतिरजिजनः ।
न त्ववयि सुकृतस्य चेत्लव कोऽपि सो पि तय लुटचते हि त २१

अर्थ—तेरे कपट जाल मे रजित हुए लोग जब तुझे दान देते हैं, नमस्कार करते हैं या वंदन करते हैं तब तू राजा होता है परन्तु तू यह नहीं जानता है कि यदि तेरे पास लेश मात्र सुकृत्य रहा होगा उसे भी वे लूट रहे हैं ॥ २१ ॥

रथोद्धता

विवेचन—हे मुनि ! तू कैसा आत्मघातक है ? बाह्य वेश, झूठा उपदेश और निरा आडम्बर करके तू कपट जाल बिछाता है। उस जाल में अनजान पक्षियों की तरह कई भोले मनुष्य भूल से फंस जाते हैं और तुझे दान, मान और खान पान देते हैं तू प्रसन्न होता है। अरे तुझे नहीं मालूम कि वे भोले तो श्रद्धा व धर्म की भावना से तेरी जाल में फंसते हैं लेकिन उनके दान, मान या खानपान से अपना अल्प रहा हुआ पुण्य भी तू खोता जाता है। समय आने पर वे भोले मानव पक्षी तेरी जाल में

से उडते हुए तेरे पुण्य को भी उडा ले जाते हैं। तू बिल्कुल पुण्यहीन रह जायगा। अत गुणवान बन।

स्तवन का रहस्य - गुणार्जन

भवेद्गुणी मुग्धकृतैर्न हि स्तवैर्न ख्यातिदानार्चनवंदनादिभि ।
विना गुणान्नो भवदु खसंक्षयस्ततो गुणानर्जय किं स्तवादिभि २२

अर्थ—भोले जीवो द्वारा की गई स्तुति से कोई मनुष्य गुणवान नही बनता है, एव कीर्ति अर्चन या पूजा पा जाने से भी गुणवान नही बनता है। गुण के बिना ससार के दु खो का क्षय नही होता है इसीलिए हे भाई! तू गुण उपार्जन कर। इन स्तुति आदि से क्या लाभ है? ॥ २२ ॥

वंशस्थ और इन्द्रवंशा (उपजाति)

विवेचन—यदि कोई कुभकार किसी चित्रकार के गुणो की प्रशसा करता हो इससे चित्रकार को प्रसन्न नही होना चाहिए कारण कि कुभकार को चित्रकला का भान नही है वह तो मात्र ऊपरी रग व बनावट से ही प्रसन्न होकर चित्र की प्रशसा कर रहा है। हा यदि कोई दूसरा चित्रकार जो इस कला की बारीकिया का जानता है वह प्रशसा करता है तब तो ठीक ही है और उस चित्रकार को प्रसन्न होने का अधिकार भी है। इसी प्रकार से भोले अध श्रद्धालु व अज्ञानी लोग तेरी प्रशसा करते हुए तुझे ऐसा कहें कि, "महाराज आप तो समताशील हो, शात चित्त व महात्यागी हो, या महाज्ञानी

हो" इतना सुनने मात्र से महाराज में ये गुण नहीं आ जावेंगे। तू इससे फूल मत जा। गुण तो गुणी के अनुकरण से आवेंगे। यद्यपि वंदन, नमन रुचिकर लगते हैं सुनने में मीठे लगते हैं परन्तु उनका परिणाम पतन है। क्रोध पर विजय, ब्रह्मचर्य का पालन मान माया का त्याग, निस्पृहता, न्यायवृत्ति और शुद्ध व्यवहार आदि गुणों को प्राप्त कर और उनकी सुगंध सब तक पहुंचा। तभी तू स्तुति का पात्र होगा।

भवांतर का विचार—लोकरंजन पर असर

अध्यापि शास्त्रं सदसद्विचित्रालापादिभिस्ताम्यसि वा समाय ।
येषां जनानामिह रंजनाय, भवांतरे ते क्व मुने क्व च त्वम् २३

अर्थ—जिन मनुष्यों का मनरंजन करने के लिए तू अच्छे और बुरे अनेक शास्त्र पढ़ता है और मायापूर्वक विचित्र प्रकार के भाषणों से (कंठ शोषादि) खेद सहन करता है आते भव में वे कहां जाएंगे और तू कहां जायगा ॥ २३ ॥

उपजाति

विवेचन—इस प्रवृत्तिमय जीवन में व्याख्यान सुनने का समय जनता के पास कम है। प्रतिदिन के व्याख्यान में श्रोताओं की संख्या बहुत ही कम होती है जिनमें भी प्रायः जीवन यात्रा के अंतिम वर्षों को व्यतीत करने वाले वृद्ध स्त्री-पुरुष ही होते हैं। जवानों का तूफानी जीवन उपासरे से दूर रहता है। कभी कभी पर्व तिथियों को वे आते हैं अतः श्रोताओं की इस अनुपस्थिति को दूर करने के

व्याख्याता तरह तरह से लौकिक शास्त्रों में से मनोरंजन पाठ उद्धरित करता है। शब्दों के तोड़ मरोड़ या उच्चारण के नये तरीकों से वह उनका मन खुश करने का प्रयत्न करता है। व्याकरणशास्त्र या सिद्धिशास्त्र तक पढ़ने का वह साहस करता है। नवीन कथा या दोहे कहता हुआ वह नट की तरह से हिलता डुलता व धमधमाट भी करता है। जनता खुश हो जाती है व श्रोताओं की संख्या बढ़ जाती है। आज के युग में प्रथम तो लोगों के पास समय ही नहीं है, फिर भी ज्यों त्यों समय निकालकर वे सुनने आते हैं एवं धन खर्च करके दूसरे गावों से भी श्रद्धा से गुरु वंदन को आते हैं वहां उनको मात्र कहानी किस्से व गल्प चौपाइयां ही सुनने को मिलती हैं। तत्त्व की बात कुछ भी नहीं कही जाती है इससे सुनने वालों को और सुनाने वाले को कोई लाभ नहीं होता है। अतः हे साधु! मात्र मनोरंजन को छोड़कर तत्त्व के उपदेश द्वारा अपना व उनका कल्याण कर। लोकरंजन से लोग तेरी प्रशंसा तो अवश्य करेंगे परन्तु इससे तुझे कुछ भी लाभ न होगा। जैसे रामलीला में बने हुए राम को आरती में आए हुए रुपयों की थाली में से मात्र उसके वेतन का एक रुपया ही मिलता वैसी ही स्थिति तेरी भी होगी। तू जैसा आया था वैसा ही चला जावेगा। इस जीवन में कष्ट सहता हुआ, एकाकी जीवन बिताता हुआ, घर बार स्त्री का त्याग करके भी यदि तू इस प्रशंसारूपी शहद लगी तलवार के स्वाद में पड़ जाएगा तो तेरा जीवन निष्फल जाएगा। तू अपना जीवन लोकरंजन की अपेक्षा विद्याअध्ययन में लगा

जिससे तेरे मान चक्षु खुल जाएंगे और तू मोक्ष महल में जा पहुचेगा। स्वयं भी तरेगा और अन्य को भी तारेगा।

परिग्रह त्याग

परिग्रह चेद्वयजहा गृहादेस्तत्किं नु धर्मोपकृतिच्छलात्तम।
करोषि शय्योपधिपुस्तकादेगरोपि नामांतरतोपि हता ॥ २४ ॥

अर्थ—घर आदि परिग्रह को तूने छोड़ दिये हैं तो फिर धर्म के उपकरण के बहाने शय्या, उपधि पुस्तक आदि का परिग्रह क्यों करता है? (क्योंकि) जहर का नाम बदल देने से भी वह मारता ही है ॥ २४ ॥ उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—जब तूने घर द्वार स्वत छुए, धन, धान्य, नौकर चाकर, पशु आदि परिग्रह का त्याग किया है फिर धर्म के नाम पर मिलने वाली वस्तुओं पर क्यों मूर्च्छा करता है। परिग्रह का नाम ही मूर्च्छा है। कई साधु भोले श्रावकों के पास से नानाविधि से क्रियाएं समारोह या तपस्याओं का या ज्ञान प्रकाशन का आयोजन कर धन व वस्त्र मंगवाते हैं और अपने निर्धारित केंद्रों पर पहुचा देते हैं। ओह मानव का मन कितना क्षुद्र है। एक तरफ वह सर्वस्व का त्याग करता है दूसरी तरफ वह तुच्छ वस्तुओं पर मूर्छित (आसक्त) रहता है। विष को मिठाई कहकर खिलाया जाएगा तो भी उसका असर हुए बिना नहीं रहेगा। परिग्रह, परिग्रह ही रहेगा चाहे वह धन माल का हो चाहे उपकरण का हो। अत शास्त्रों में आज्ञा दिए गए उपकरण के अतिरिक्त तू कुछ भी न रख,

न अपने नाम के उपासरे बनवा, न अपने नाम के ग्रंथ भंडार या अलमारियां बनवा। परिग्रह की मूर्च्छा में तू बार बार जन्मेगा व मरेगा। अतः इस मूर्च्छा को दूर कर।

धर्म के निमित्त से रखा हुआ परिग्रह

परिग्रहात्स्वीकृतधर्मसाधनाभिधानमात्रात्किमु मूढ ! तुष्यसि।
न वेत्सि हेम्नाप्यतिभारिता तरी, निमज्जयत्यङ्गिनमम्बुधौ द्रुतम् २५

अर्थ—हे मूढ ! धर्म के साधना का उपकरण आदि का नाम देकर स्वीकृत किए गए परिग्रह से तू क्या खुश होता है ? क्या तू नहीं जानता है कि जहाज में अधिक भार चाहे सोने का भी लादा जाय तो वह भी बैठने वाले प्राणी को शीघ्र ही समुद्र में डुबा देता है ! ॥ २५ ॥ वंशस्थ

विवेचन—संसार रूपी समुद्र में मुनिपन रूप नाव के द्वारा आत्मा तर सकती है। यदि उस नाव में अधिक परिग्रह रूप भार अधिक भर दिया जाय तो वह नाव अवश्य डूबेगी। वह परिग्रह धर्म के नाम पर किया गया भी हो तो भी भार ही है। राग दशा का पोषण करने के लिए अनावश्यक ढंग से अधिक उपधि वस्त्र व पात्र रखना त्याज्य है। दवाइयों की शीशियां फाउंटेन पेन, घडी, पेन और कीमती वस्तुएं रखना कितना अशोभनीय है। आज इस प्रकार का परिग्रह बढ़ता जा रहा है जो डुबाने वाला है अतः सब त्याज्य है।
॥ २५ ॥

धर्मोपकरण पर मूर्छा भी परिग्रह है

यऽह कपायकलिकर्मनिबंधभाजन,
स्यु पुस्तकादिभिरपोहितमप्यसाधन ।
तेषा रसायनवररपि सपदामय-
रार्त्तात्मनां गदहृते सुखकृत् कि भवेत ।। २६ ।।

अर्थ—जिनके द्वारा धर्म साधने की अभिलाषा रखी हो वैसे पुस्तकादि द्वारा भी जो प्राणी पाप कषाय, कलह और कर्म बंध करते हों वैसी दशा में उनके लिए सुख का साधन क्या हो सकता है ? जिस प्राणी की व्याधिया उत्तम प्रकार के रसायनों के सेवन से अधिक बढ़ती जाती हों उसके लिए व्याधियों की शांति का उपाय क्या हो सकता है ? ।। २६ ।।

मदग

विवेचन—महावीर जिनेश्वर के मोक्ष के पश्चात् गणधर भी मोक्ष पहुंचे। उनके पीछे उनकी वाणी का संग्रह आगम ग्रंथों में किया गया है अत अब तो उन्हीं का आधार है। ऐसे धार्मिक पुस्तकों से (आगमों से) संसार तैरा जा सकता है। कम पुस्तकों का अनावश्यक संग्रह जिसे संभाला ही नहीं जाता उसमें उदई दीमक लिया आदि जीव पड जाते हैं व मरते हैं। अरे नाम के मोह में मच्र्छागत प्राणी ! तू धर्म के साधनों से भी जीव हिंसा रूप पाप बढ़ा कर संसार बढ़ा रहा है भवकूप में डूब रहा है। तेरे नाम से खुलवाए गए ज्ञान भंडार क्या तूने कभी संभाले हैं ? उनकी तरफ तेरा कितना समय बीतता है ?

धर्मोपकरण पर मूर्छा से दोष

रक्षार्थं खलु सयमस्य गरिता येऽर्था यतिनां जिन-
र्वास पुस्तकपात्रकप्रभृतयो धर्मोपकृत्यात्मका ।
मूर्छामोहवशात्त एव कुधिया ससारपाताय धिक्
स्व स्वस्यव वधाय शस्त्रमधियां यतद्दु प्रयुक्त भवेत ।।२७।।

अर्थ—वस्त्र, पुस्तक और पात्र आदि धार्मिक उपकरण की वस्तुए श्री तीर्थकर भगवान ने सयम की रक्षा के लिए यतियों को बताई ह फिर भी मद बुद्धि मूढ जीव मोह में पडकर उनको ससार म गिरने के साधन बनाते ह, उनको धिक्कार है। मूर्ख मनुष्य के द्वारा अकुशलता स काम में लिया गया शस्त्र उसके स्वय के ही नाश का कारण बनता है ।।२७।।

शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जसे मूढ मनुष्य या बालक के हाथ में रहा हुवा शस्त्र (चाकू छुरी तलवार आदि) उसी की उगलियों को काटता है। जसे अनजान आदमी भरी बदूक का कुदा अपनी तरफ करके दुश्मन को मारने के लिए घोडा दबाता है परतु वह स्वय अपने ही हाथो से गोली का शिकार होता है ठीक उसी तरह से मुनि, तू भी जिनोपदिष्ट निश्चित उपधि के अतिरिक्त वस्तुए रखकर स्वय का ही घात कर रहा है। ये वस्तुए तुझे ससार में डुबाने वाली ह अत उनको तज दे।

धर्मोपकरण को दूसरों से उठवाने में दोष

सयमोपकरणच्छलात्परान्भारयन् यदसि पुस्तकादिभि ।
गोखरोष्ट्रमहिषादिरूपभृत्तच्चिर त्वमपि भारयिष्यसे ।। २८ ।।

अर्थ—सयम उपकरण के बहाने से पुस्तक आदि का बोझ जो तू दूसरा स उठवाता है (उनपर बोझ लदवाता है) परन्तु वे भी तुझसे अनन्त काल तक गाय, गधा, ऊट, पाडा आदि रूप में भार उठवाएग ॥ २८ ॥ रथोद्धता

विवेचन—हे महाव्रतधारी साधु ! (या आचाय !) तू जीव रक्षा व अहिंसा का व्रत लेकर भी अपने तन का बोझ मजदूर से उठवाता है, यह कितनी निर्दयता है। तू पुस्तका के बोझ के बहाने खान व पदाथ पानी का घडा व अन्य बोझा भी उससे उठवाता है लेकिन याद रख अगले भव में तुझे भी गधा, ऊट, घोडा या बल होकर भार ढोना पडेगा। तू श्रावकों स मजदूर तो मागता है रास्ता बताने के लिए लेकिन उसके पास से भार उठवाने का काम भी लेता है यह अनुचित है।

सयम और उपकरण की शोभा की तुलना

वस्त्रपात्रतनुपुस्तकादिन शोभया न खलु सयमस्य सा।
आदिमा च ददते भव परा, मुक्तिमाश्रय तदिच्छयकिकाम् ॥२९॥

अथ—वस्त्र, पात्र, शरीर या पुस्तक आदि की शोभा करने से सयम की शोभा नहीं होती है। प्रथम प्रकार की शोभा भव वृद्धि देती है जब कि दूसरे प्रकार की (सयम की) शोभा मोक्ष देती है अत इन दोनों में से तेरी इच्छा नुसार एक शोभा का आश्रय ग्रहण कर। (अथवा उन वस्त्र पुस्तक आदि की शोभा का त्याग कर। हे यति ! मोक्ष प्राप्ति

का इच्छा वाला भी तू सयम की शाभा में प्रयत्न क्यो नही करता है) ? ॥ २६ ॥

विवेचन—प्राय अपने या अपने गुरु के नाम से ज्ञान मदिर, पाठशाला, गुरुकुल आश्रम, या उपाश्रय बनवा कर उसमें तैल चित्र लगवाने का रिवाज बढ़ता जा रहा है। अपना चित्र बनवाते समय बढ़िया चादर उत्तम उत्तरीय व सुदर पुट्ठो वाले आगम ग्रथो का उसमें प्रदर्शन किया जाता है और नीचे द्रव्य खर्चने वाले का नाम भी अपने नाम के साथ लिखा जाता है इस तरह स परस्पर कामना से तुझे जो यश होता नजर आता है वह भी परिग्रह की मूर्च्छा म सम्मिलित है। कभी बाह्य शोभा को छोड़कर सयम की शोभा को बढा जिससे तुझे मोक्ष प्राप्त हो सके। जो धम के नाम पर या धम का वेश धारण करके भी म्याना, पालकी या घोडा गाडी मोटर रखते हैं उनकी दुर्दशा का वर्णन तो करना ही क्या? खेद का विषय तो यह है कि अब कई नाम के साधुओ ने रेल या मोटर में बैठना शुरु कर दिया है जब कि वेष, ओघा, पात्रे पूर्ववत ही रख हुए हैं। यह प्रवृत्ति पतन की ओर ले जाने वाली है, अध पतन का यह सूक्ष्म छिद्र उनके सयम घट को खाली कर देगा। इस प्रकार की वस्तुए (मोटर आदि) रखने से स्वामीपन का अभिमान और उनको सभालने या चलाने में जीवहिंसा, परिग्रह आदि का महादोष प्रत्यक्ष ही है। समाज ऐसी शिथिलता को बरदाश्त करता जाएगा तो धीरे धीरे साधुओ का वेष तो कायम रह जायगा लेकिन

उनके अंदर का शील, जनता का गौरव एवं प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट आचार नष्ट हो जाएगा। कारण पश्चात व्यभिचार व अनाचार के लिए यह भय उपयुक्त गिना जायगा अतः इस उत्तम वेष का अपमान एवं दुरुपयोग होना दुवा बचाना चाहिए नहीं तो भयंकर दुष्परिणाम होगा।

परीषह सहन—संवर

शीतातपाद्यान्न मनागपीह, परीषहांश्चेत्क्षमसे विसोढुम।
क्व तत्तो नारकगर्भवासदुःखानि सोढासि भवान्तरे त्वम ॥३०॥

अर्थ—जब तू इस भव में जरा भी सर्दी गर्मी आदि परीषह सहने में समर्थ नहीं है तो फिर दूसरे भव में नरक के या गर्भवास के दुःखों को कैसे सहन करेगा? ॥ ३० ॥

उपजाति

विवेचन—साधु जीवन में कितने ही प्रकार के अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्ग—(कष्ट) आते हैं उनको परिषह कहते हैं जिनको शांति से सहना साधु का धर्म है। यदि साधु मार्ग स्वीकार करके तू भय, प्यास, सर्दी गर्मी आदि परीषह को न सह सकेगा तो आगे भव में होने वाले नरक के दुःखों का या गर्भवास की पीड़ाओं को कैसे सह सकता है? प्रतिकूल संयोगों में द्वेष और अनुकूल संयोगों में राग का त्यागना और इन दोनों भावों से बंधते हुए आते हुए कर्मों को रोकना ही संवर है। यदि तू परीषहों को सहता है तो संवर करता है जो मोक्ष का एक साधन है। यदि प्रसन्नतापूर्वक इन परीषहों

को सह लेगा तो भावी जन्मो के कष्ट कम होकर शीघ्र ही इस जन्म मरण के चक्र में से निकल जाएगा, यदि यहा सुख की इच्छा या प्रमाद या विपरीत आचरण से इन परीषहो को न सहेगा तो अगले भवो में ये बढ़ते ही रहगे और तुझे इनको भुगतना ही होगा। अत सहनशील बन।

देह विनाशी है—जप तप कर

मुने न किं नश्वरमस्वदेहमृत्पिण्डमेन सुतपोव्रताद्यै ।
निपीडय भीतिभवदु खराशेर्हित्वात्मसाच्छवसुख करोषि ॥३१॥

अर्थ—हे मुनि ! यह शरीर रूपी मिट्टी का पिंड नाशवान है, यह तेरा नही है, इसे उत्तम प्रकार के तप और व्रतो से पीडा देकर अनत भव में प्राप्त होने वाले दुखो को दूर करके मोक्ष सुख को आत्म सन्मुख क्यो नही कर डालता है ? ॥ ३१ ॥ उपजाति

विवेचन—यह शरीर मिट्टी का पिंड है अत नाशवान है। तू इससे अधिक से अधिक लाभ प्राप्त कर ले। तेरे आधार मे यह रह रहा है न कि इसके आधार से तू रह रहा है। इसका स्वामी तू है न कि यह तेरा स्वामी है अत इस शरीर से विविध प्रकार के तप, जप, सयम द्वारा अपना मोक्ष समीप बुला ले। इसे मात्र खाने पीने या सोने में ही मत काम मे ले क्योकि प्राय देखा जा रहा है कि दीक्षा लेने के बाद तेरा शरीर जाडा हो रहा है तेरा पेट बढ रहा है, बादशाही सुख का तू अनुभव कर रहा है अत इस शरीर के सामने

हजारो व्यक्तियो को सिर झुकाते हुए देखकर तू फूल मत जा। इस शरीर से खूब तपस्या कर सपूर्ण सयम पाल व उत्तम चारित्र के द्वारा अपना वास्तविक लक्ष (मोक्ष) प्राप्त कर ले।

चारित्र के कष्ट के सामने नरक तियच के कष्ट

यदत्र कष्ट चरणस्य पालन, परत्र तिर्यङ्नरकेषु यत्पुन ।
तयोमिथ सप्रतिपक्षता स्थिता, विशेषदृष्टयान्यतर जहीहि तत ३२

अथ—चारित्र पालन मे इस भव मे जो कष्ट पडते है और परभव में नरक और तियच गति मे जो कष्ट पडते है उन दोनो में पारस्परिक प्रतिपक्षता है अत बुद्धि का उपयोग करके दोनो में से एक को छोड दे ॥ ३२ ॥ वशस्थविल

विवेचन—सच्ची बुद्धि की सहायता से ही अच्छी व बुरी वस्तु की पहचान होती है। जो वस्तु अभी दु खकर प्रतीत होती है, परन्तु भविष्य में सुखकर होगी वह है चारित्र पालन का कष्ट सहना, परन्तु अभी सुखकर प्रतीत होती हुई भविष्य में दु खकर होगी वह है चारित्र पालन का कष्ट न सहना। चारित्र का अथ है बर्ताव। शुद्ध बर्ताव रखने में और आत्मगुण रमणता करने में मुनि को अभ्यासकाल में बहुत सहन करना पडता है। चारित्र अर्थात साधु जीवन पालन में उपधि त्याग परिग्रह त्याग, स्वाद का त्याग भूमि शय्या सतत विहार, केश लोचन आदि के कष्ट सहन करने पडते है जब कि नरक के वैतरणी नदी, कुभी पाक आदि एव तियच के वधबधन आदि दु ख ये भी कष्ट है। इन दोनो कष्टो में

को सह लेगा तो भावी जन्मा के कष्ट कम होकर शीघ्र ही इस जन्म मरण के चक्र में से निकल जाएगा, यदि यहा सुख की इच्छा या प्रमाद या विपरीत आचरण से इन परीषहा को न सहेगा तो अगले भवों में ये बढते ही रहगे और तुझे इनको भुगतना ही होगा। अत सहनशील बन।

देह विनाशी है—जप तप कर

मुने न किं नश्वरमस्वदेहमृत्पिण्डमेन सुतपोव्रताद्यैः ।
निपीड्य भीतिर्भवदु खराशेर्हित्वात्मसाच्छिवसुख करोषि ॥३१॥

अर्थ—हे मुनि ! यह शरीर रूपी मिट्टी का पिंड नाशवान है, यह तेरा नहीं है, इसे उत्तम प्रकार के तप और व्रता से पीडा देकर अनत भव म प्राप्त होन वाल दु खा को दूर करके मोक्ष सुख को आत्म सन्मुख क्या नहीं कर डालता है ? ॥ ३१ ॥ उपजाति

विवेचन—यह शरीर मिट्टी का पिंड है अत नाशवान है। तू इससे अधिक स अधिक लाभ प्राप्त कर ले। तेरे आधार मे यह रह रहा है न कि इसके आधार से तू रह रहा है। इसका स्वामी तू है न कि यह तेरा स्वामी है अत इस शरीर से विविध प्रकार के तप, जप, सयम द्वारा अपना मोक्ष समीप बुला ले। इसे मात्र खाने पीने या सोने में ही मत काम में ले क्योंकि प्राय देखा जा रहा है कि दीक्षा लेने के बाद तेरा शरीर जाडा हो रहा है तेरा पेट बढ रहा है, बादशाही सुख का तू अनुभव कर रहा है अत इस शरीर के सामने

हजारों व्यक्तियों को सिर झुकाते हुए देखकर तू फूल मत जा। इस शरीर से गुरु तपस्या कर सम्पूर्ण संयम पाल व उत्तम चारित्र के द्वारा अपना वास्तविक लाभ (मोक्ष) प्राप्त कर ले।

चारित्र के कष्ट के सामने नरक तिर्यच के कष्ट

यदत्र कष्टं चरणस्य पालने, परत्र तिर्यङ् नरकेषु यत्पुनः ।
तयोर्मिथः सप्रतिपक्षता स्थिता, विशेषदृष्ट्यान्यतरं जहीहि तत् ३२

अर्थ—चारित्र पालन में इस भव में जो कष्ट पड़ते हैं और परभव में नरक और तिर्यच गति में जो कष्ट पड़ते हैं उन दोनों में पारस्परिक प्रतिपक्षता है अतः बुद्धि का उपयोग करके दोनों में से एक को छोड़ दे ॥ ३२ ॥ वंशस्थविल

विवेचन—सच्ची बुद्धि की सहायता से ही अच्छी व बुरी वस्तु की पहचान होती है। जो वस्तु अभी दुःखकर प्रतीत होती है, परन्तु भविष्य में सुखकर होगी वह है चारित्र पालन का कष्ट सहना, परन्तु अभी सुखकर प्रतीत होती हुई भविष्य में दुःखकर होगी वह है चारित्र पालन का कष्ट न सहना। चारित्र का अर्थ है वर्ताव। शुद्ध वर्ताव रखने में और आत्मगुण रमणता करने में मुनि को अभ्यासकाल में बहुत सहन करना पड़ता है। चारित्र अर्थात साधु जीवन पालने में उपधि त्याग परिग्रह त्याग, स्वाद का त्याग भूमि शय्या सनन विहार केश लोचन आदि के कष्ट सहन करने पड़ते हैं जब कि नरक के वैतरणी नदी, कुंभी पाक आदि एवं तिर्यंच के वधबंधन आदि दुःख ये भी कष्ट हैं। इन दोनों कष्टों में

विरोध है। जो चारित्र के कष्ट सहता है उसे नरक व तिर्यंच के दु ख नही सहने पड़ने हं परंतु जो नही सहता है एव विषयी है, कपट व्यवहार से जीवन व्यतीत करता है उसे दुर्गति के (नरक तियच) के दु ख सहने ही पडग। तू दोनो में से एक को चुन ले। कौन सा कष्ट एक ही भव म सहना पडेगा और कौन सा कष्ट कई भवो म सहना पडेगा ? कौन सा कष्ट शुभ राशी की परपरा को बढाने वाला है और कौन सा अशुभ राशि की परपरा को बढ़ाने वाला है, यह विचार ले।

प्रमाद क सुख के सामने मक्ति का सुख

शमत्र यदविंदुरिव प्रमादज, परत्र यच्चाब्धिरिवद्युमुक्तिजम्।
तयोर्मिथ सप्रतिपक्षता स्थिता, विशषदष्ट्यान्यतरद गृहाण तत् ३२

अथ—इस भव में प्रमाद से जो सुख होता है वह बिंदु जितना है और परभव में देवलोक व मोक्ष सबधी जो सुख होता है वह समुद्र जितना है, इन दोनो सुखो म परस्पर प्रतिपक्षता है, अत विवेक को काम लकर दोनो म से एक का ग्रहण कर॥ ३२॥ वशस्थविल

विवेचन—इस भव के प्रमाद जन्य सुख अल्प, दुखान्त व दु ख जन्य ह जब कि परभव के सुख सुखमय और परपरा से बढते हुए ह व अन्त में चिरस्थायी ह अत इन्हे ग्रहण कर।

चारित्र नियमणा का दुख विपरीत गर्भावास आदि का दु ख

नियन्त्रणा या चरणेऽत्र तिर्यक्स्त्रीगर्भकुम्भीनरकेषु या च।
तयोर्मिथ सप्रतिपक्षभावाद्विशेषदृष्ट्यान्यतरां गृहाण॥ ३४॥

अर्थ—चारित्र पालने में इस भव में तेरे पर नियन्त्रणा होती है और परभव में भी तिर्यंचगति में स्त्री के गर्भ में अथवा नरक के कुम्भी पाक में भी नियन्त्रणा (कष्ट, पराधीनता) होती है। इन दोनों नियन्त्रणाओं में पारस्परिक विरोध है अतः विवेक से काम लेकर दोनों में से एक को ग्रहण कर ॥ ३४ ॥ उपजाति

विवेचन—साधु जीवन में बहुत ही नियन्त्रणा सहनी पड़ती है। अन आदि के कारण से सहना पड़ता हुआ कष्ट तथा तीर्थंकर महाराज व गुरु महाराज की आज्ञा पालने की पराधीनता, प्रत्येक कार्य गुरु की आज्ञा व देख रेख में करना आदि भी नियन्त्रणा है। परभव में माता की कुक्षि में निवास करते हुए सहना पड़ता कष्ट, पशु पक्षी योनि का कष्ट अथवा नरक की कुम्भी पाक का कष्ट जो पराधीनता से सहना पड़ता है यह भी नियन्त्रणा है। इन दोनों में परस्पर विरोध है। दोनों में से एक को तुझे स्वीकार करना पड़ेगा। इन दोनों में से एक को चुनना पड़ेगा अतः तू विवेक से काम लेकर एक को चुन ले। समझदार तो चारित्र की नियन्त्रणा को ही पसंद करेगा।

परीषह सहन का उपदेश (स्ववशता में सुख)

सह तपोयमसंयमयन्त्रणां, स्ववशतासहने हि गुणो महान्।
परवशस्त्वति भूरिसहिष्यसे, न च गुणं बहुमाप्स्यसि कंचन ॥३५॥

अर्थ—तू तप, यम, संयम की नियन्त्रणा को सहन कर, स्व के वश में रहकर (परीषह आदि का दुःख) सहन करने

में बडा गुण है। जब तू परवश पड जाएगा तब तो बहुत दुःख सहना पडेगा और उसका फल कुछ भी नही होगा ॥ ३५ ॥

द्रुतविलंबित

विवेचन—तप बारह प्रकार का होता है। छ बाह्य और छ अभ्यतर। अनशन, उणोदरी, वृत्ति सक्षेप, रस त्याग, काय क्लेश, संलीणता यह बाह्य तप है जो शरीर से किया जाने वाला है। प्रायश्चित, विनय, वैयावच्च सज्झाय, ध्यान, उपसर्ग सहन ये आतरिक तप हैं। यम पाच प्रकार के हैं। जीव वध त्याग, सत्य वचन भाषण, अस्तेय (नष्ट हुवा गिरा हुवा, भूला हुवा, या फेंका हुवा द्रव्य न लेना) अखड ब्रह्मचर्य, और धन की मूर्च्छा का त्याग। सक्षेप से कहे तो पाच अणुव्रत या महाव्रत का पालन ही यम है। सयम सत्तरह प्रकार का है। पाच महाव्रत का आचरण, चार कषाय का त्याग तीन योगो (मन, वचन, काय) पर अकुश और पाचो इन्द्रियो का दमन। तप, यम और सयम के पालन करने म बाह्य कष्ट को यत्रणा कहते है। यद्यपि यह यत्रणा है फिर भी इसे स्वेच्छा से स्वीकृत किया गया है क्योकि आत्मा अपने वश में रहकर सब सहता है अत इसका परिणाम शुभ है।

इन्द्रियो के विषयो को अपनी इच्छा से छोडने में आनद है नही तो वृद्धावस्था में ये बहुत दुःख देगे। वृद्धावस्था म रसना का स्वाद तो बढ़ता जाता है लेकिन दातो की शक्ति जाती रहती है। सेव या पापड खाने की इच्छा होने पर उसे कूटकर चूरा करके ही खाया जाता है। सुपारी का

खूब फतर कर या मूटकर ही खाते है और यदि इनको युवावस्था में छोड दिया होता तो इस प्रकार की बाल चेष्टाएं न करना पडती। अत परिषह सहन में मजबूत बन।

परिषह सहने के शुभ फल

अणीयसा साम्यनियन्त्रणाभुवा, मुनेऽत्र कष्टेन चरित्रजेन च।
यदि क्षयो दुर्गतिगर्भवासगाऽसुखावलेस्तत्किमवापि नार्थितम।।३६।।

अर्थ—समता से और नियन्त्रण से होते हुए थोडे से कष्ट के द्वारा एव चारित्र पालन से होते हुए थोड से दुःख के द्वारा यदि दुर्गति में जाने का और गर्भ परपरा का सर्वथा क्षय हो जाता हो तो फिर तुझे कौन सा इच्छित प्राप्त नही हुवा है?।। ३६।। वशस्थविल

विवेचन—यद्यपि समता में आत्मा को आनद ही आता है, इसमें सकल्प विकल्प का नाश होकर अत्यन्त सुख प्रकट होता है तथा चारित्र पालन में भी विशेष कष्ट नही होता है वरन आत्म सताप व शांति की प्राप्ति होती है तो भी इसे यदि कष्ट ही मान लिया जाय तो इन दोनों प्रकार से तुझे थोडा कष्ट होकर परिणामत दुर्गति का व भवपरपरा का (पुनर्जन्म का) सर्वथा नाश होता हो तो फिर तुझे और क्या चाहिए। थोड से कष्ट सहन से हमेशा का कष्ट तो नष्ट हुवा। ऐसा विचार करके समता से परिषह सह।

परिषह से दूर भागने के बुरे फल

त्यज स्पृहा स्व शिवशर्मलाभ, स्वीकृत्य तिर्यङ् नरकादिदुःखम।
सुखाणुभिश्चेद्विषयादिजात, सतोष्यसे सयमकष्टभीरु।। ३७।।

अर्थ—संयम पालने के कष्ट से डरकर विषय कषाय से होते हुए अल्प सुख में यदि तू संतोष मानता हो तो फिर तिर्यंच, नारकी के भावी दुखो का स्वीकार करले और स्वर्ग या मोक्ष लाभ की इच्छा को छोड़ दे ॥ ३७ ॥ उपजाति

विवेचन—यदि कोई बीमार दवा न पीता हो तो उसे कटाक्ष से कहा जाता है कि मिठाई खा, बासूदी खा, आचार खा ? यदि तेरी इच्छा अच्छा होने की नहीं है तो यह खा ! इसी तरह से सूरिश्वर ने कटाक्ष वचनों से मुनि को जागृत करने के लिए कहा है कि यदि तुझे संयम में कष्ट प्रतीत होता हो और विषय कषाय में आनंद आता हो तो फिर स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा छोड़कर तिर्यच या नरक के दुःखो को स्वीकार कर ले ।

परिषह सहन में विशेष लाभ फल की प्राप्ति

समग्रचिंतार्त्तिहृतेरिहापि, यस्मिन्सुखं स्यात्परमं रतताम ।
परत्र चेंद्रादिमहोदयश्री, प्रमाद्यसीहापि कथं चरित्रे ॥ ३८ ॥

अर्थ—चारित्र से इस भव में सब प्रकार की चिंता और मन की आधि का नाश होता है अतः उसमें जिसका मन लगा हो उनको बड़ा सुख होता है और पर भव में इन्द्रासन या मोक्ष की महालक्ष्मी प्राप्त होती है । (इस प्रकार से फल होने हुए भी) तू चारित्र में प्रमाद क्यों करता है ॥ ३८ ॥

उपजाति

विवेचन—चारित्र पालन में स्वात्म संतोष और प्राप्त

वस्तु का भी त्याग मुख्य होता है। ऐसा करने से आत्मा को बहुत आनन्द आता है। उसे चिंता (राज्य भय और चोर भय) नहीं होती है। उसे मानसिक पीड़ा अर्थात् आर्ति (अपने और दूसरे के भरण पोषण की मानसिक पीड़ा) नहीं होती है। इस निश्चिंतता के स्थूल सुख के अतिरिक्त चारित्र से शुभ बंधन के कारण पर भव में इन्द्र, महर्धिक देव आदि की ऋद्धि प्राप्त होती है तथा कर्म बंधन के अभाव से मोक्ष प्राप्त होता है। टीकाकार कहते हैं कि —

न च राज्यभयं न च चौरभयं, न च वृत्तिभयं न वियोगभयम्।
इहलोकसुखं परलोकसुखं, श्रमणत्वमिदं रमणीयतरम्॥

जो परभव आत्मा और पुद्गल का भिन्न स्वभाव तथा जीव की भिन्न भिन्न स्थिति का स्वीकार करते हैं उन्हीं को इस आध्यात्मिक विषय में आनंद आता है। साधु जीवन को उद्देश में रखकर लिखी गई यह शिक्षा गृहस्थ के लिए भी हितकर है अतः इसका खूब मनन कर पालन करना चाहिए। बाईस परीषह ये हैं —

समता से भूख,[१] प्यास,[२] सर्दी,[३] गरमी[४] सहना। मच्छरों का डंक[५] सहना। शास्त्र के प्रमाण से अधिक वस्त्र[६] नहीं रखना। संयम[७] में अप्रीति न करना। स्त्री संग का सर्वथा त्याग।[८] अप्रतिबद्ध[९] विहार। अभ्यास के स्थान की मर्यादा रखना। सख्त या कम शय्या[१०] के कारण रागद्वेष न करना।

तिरस्कार[११] सहना। स्ववध होने के अवसर पर भी धर्म त्याग[१२] न करना। भिक्षा मागते न शर्माना[१३]। भिक्षा इच्छित[१४] न मिलने पर मन का सतुलन न खोना। रोग[१५] सहना। घास या तृण[१६] का चुभना सहना। शरीर[१७] के मैल से घृणा न करना। सत्कार न हो तो परवाह[१८] न करना। सत्कार मिले तो फूलना[१९] नही। ज्ञानपन का अहकार[२०] न करना। अज्ञानता पर रोष[२१] न करना। धम श्रद्धा[२२] दृढ़ रखना।

सुख साध्य धम कतव्य—प्रकारांतर

महातपोध्यानपरीषहादि, न सत्वसाध्य यदि धर्तुमीश ।
तद्भावना कि समितीश्च गुप्तीर्धत्से शिवार्थिन्न मन प्रसाध्या ३६

अर्थ—हे मोक्षार्थी ! उग्र तपस्या, ध्यान, परीषह आदि सत्व से साधे जा सकते ह, यदि उन्ह साधने म तू अशक्त है तो भी बारह भावना, समिति और गुप्ति जो मन स साधी जा सकती हैं उनके साधने की भावना तू क्या नहीं धारण करता है ? ॥ ३६ ॥ उपजाति

विवेचन—इस पचम काल में यदि उग्र तपस्या, (छ माह के उपवास या मास खमण आदि), महाप्राणायाम आदि ध्यान और बाईस परीषह आदि सहन करने की तेरी शक्ति नहीं

है यद्यपि प्रयत्न से वे साध जा सकते हैं तो भी तू यदि मन पर अकुश रखता हो तो इन्द्रिय दमन आत्म सयम, योग आदि शारीरिक कष्ट के सहे बिना भी महाविकट कार्य साध सकेगा। मन के द्वारा साधी जा सकने वाली अनित्य आदि बारह भावनाए, ईर्यादि पाच समिति और मन आदि तीन गुप्ति तो तू सरलता से धारण कर सकता है इनमें तो कोई शारीरिक कष्ट नही पड़ता है तो फिर इनके साधने म तू प्रयत्न क्या नही करता है ?

भावना सयम त्यान—उसका आश्रय

अनित्यताद्या भज भावना सदा, यतस्व दु साध्यगुणेऽपि सयमे।
जिघत्सया ते त्वरते ह्यय यम, श्रयन प्रमादान्न भवाद्विभेषि किम

अथ अनित्य आदि सभी भावनाए सदा भाता रह सयम के (मूल और उत्तर) गुण जो दु साध्य ह उनमे यत्न कर, यह यमराज तुझे खा जाने की जल्दी कर रहा है। क्या प्रमाद का सहारा लेते समय तू ससार भ्रमण से नही डरता है ?
॥ ४० ॥ वंशस्थविल

विवेचन—हे साधु ! प्रमाद से ससार बढता जा रहा है मृत्यु नजदीक आती जा रही है और समय बीतता जा रहा है। यह मनुष्य देह फिर मिलना महा दुर्लभ है अत तू सदा बारह भावना भा, चरणसित्तरी का पालन कर, जिसमें महाव्रत, यति धर्म, सयम, वैयावच्च, ब्रह्मचर्य की गुप्ति, कषाय त्याग आदि का समावेश है एव करणसित्तरी का

पालन कर, जिसमे पिंड आदि की शुद्धि, समिति, भावना, साधु की प्रतिमा, इंद्रिय निरोध, प्रतिलेखना गुप्ति व अभिग्रह आदि का समावेश है ।

चरणसित्तरी के ७० भेद

५ <u>महाव्रत</u>—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह का पालन ।

१० <u>यतिधर्म</u>—१ क्षमा, २ अहंकारत्याग, ३ सरलता, ४ निर्लोभ, ५ तप, ६ आश्रव की विरति, ७ सत्य, ८ संयम, ९ धनत्याग, १० अखण्ड ब्रह्मचर्य ।

१७ <u>प्रकार से संयम</u>—

५ नए कर्मबंध कराने वाले प्राणातिपात मृषावाद आदि महादोषों से अलग रहना, ५ इंद्रियों का दमन, ४ कषाय का त्याग, ३ मन, वचन, काया के पाप कार्यों से दूर रहना ।

१० <u>प्रकार से वैयावच्च</u>—

१ आचार्य, २ उपाध्याय, ३ तपस्वी, ४ नवदीक्षित शिष्य, ५ रोगी साधु ६ सामान्य साधु, ७ स्थविर, ८ चतुर्विध संघ, ९ कुल १० गण इन सबकी योग्य सेवा करना, उन्हें आहार पानी ला देना एवं उनकी अन्य सेवा करना ।

९ <u>ब्रह्मचर्य गुप्ति</u>—

१ वसति—जिस स्थान में, स्त्री, पशु, या नपुंसक हो या उनकी मूर्ति या चित्र हो वैसे स्थान में नहीं रहना ।

२ कथा—स्त्री सबधी कथा न कहना, न पढ़ना, मात्र स्त्री वर्ग के सामने कथा नही कहना, स्त्री से एकात में बात न करना।

३ आसन—स्त्री के साथ एक आसन पर न बठना, उसके उठ जान पर भी उस आसन या स्थान पर दो घडी (४८ मिनट) तक न बठना।

४ इद्रिय निरीक्षण—स्त्री के अगोपाग नही देखना।

५ पर्दे का ओट से काम श्रवण—भीत, कनात, या पर्दे की ओट क पीछे रहते हुए पति पत्नि या स्त्री की बातें न सुनना।

६ पूव भोग चितन—पहले के भोग हुए विकारो की स्मृति न करना।

७ प्रणीत—दुध दही, घी, मधुर और चीकन पदाथ अधिक न खाना।

८ अति मात्राहार—अविकारी सादा भोजन भी मात्र शरीर निर्वाह जितना ही खाना खब पेट भरकर न खाना एव अधिक भूख आवे वसा आहार न करना।

९—विभूषण—स्नान विलेपन या शरीर की शोभा न करना।

३ ज्ञान—शुद्ध अवबोध, शुद्ध श्रद्धा और निरतिचार वतन।

१२ तप—१ उपवास करना, २ कम खाना, ३ वस्तुए कम खाना, ४ रस त्याग, ५ शरीर को लोचादि कष्ट देना,

६ अगोपांग का संकोच ये छ बाह्य तप। ७ प्रायश्चित, ८ विनय, ९ वयावच्च, १० ज्ञानाभ्यास, ११ ध्यान, १२ उत्सग ये छ आंतरिक तप करना। कुल १२ तप तपना।

४ कषाय त्याग—क्रोध, मान, माया, लोभ का त्याग।

करणसित्तरी के ७० भेद

४ पिंडशुद्धि[1] में ४२ दोष रहित आहार लेना शय्या[2] शुद्धि, वस्त्र[3] और पात्र[4] शुद्धि।

५ समिति—१ मार्ग में साड तीन हाथ आगे दृष्टि रखकर चलना, इर्यासमिति, २ निरभ, सत्य अल्प, हितकर बोलना, भाषा समिति, ३ दोष रहित आहार पानी लेना, एषणा समिति, ४ वस्तु लेते या रखते जोवो की रक्षा करना, आदान भडमत्त प्रक्षपणा समिति, ५ लघुशंका, शौच आदि करते या डालते या खेंखार कफ थूक या कचरा आदि फेंकते समय जमीन को देखकर जीवो की रक्षा करते हुए डालना, पारिठापनिका समिति।

१२ बारह भावना—

१ अनित्य—इस ससार म आत्मा के सिवाय अन्य समस्त वस्तुए नाशवत हं, यह सोचना।

२ अशरण—मृत्यु के समय जीव का कोई रक्षक नहो है मात्र शुभ कर्म का ही शरण है।

३ ससार—ससार समुद्र में से कब निकलू, ससार की जजीर से कब छूटू यह विचारना ।

४ एकत्व—यह जीव अकेला आया है, अकेला जाएगा, इसका कोई नही है न यह किसी का है ।

५ अन्यत्व—हे जीव ! तू किसी का नही है ये सब जड व चेतन पदार्थ तेरे नही हं तू सबसे भिन्न है ।

६ अशुचि—यह शरीर मलमूत्र का धाम है, रोग, जरा का स्थान है, मास, रुधिर हड्डी आदि अपवित्र वस्तुओ से बना हुवा है मं इससे अलग हू इसकी अपवित्रता को विचारना ।

७ आश्रव—राग द्वेष अज्ञान मिथ्यात्व, अविरति आदि से कर्म आते हं ये आश्रव ह इन्हे त्यागना चाहिए ।

८ सवर—समिति, गुप्ति, यति धर्म चारित्र आदि से नए कर्म नही बधते ह ।

९ निर्जरा—ज्ञान सहित क्रिया व तप से पहले के कर्मों का खपाना चाहिए एसा सोचना चाहिए ।

१० लोकस्वरूप—लोकस्वरूप की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश सोचना ।

११ बोधि दुर्लभ—ससार म भटकते हुए आत्मा को सम्यक ज्ञान का प्राप्त होना दुलभ है, यदि वसा ज्ञान पाया तो भी चारित्र सव विरति धर्म पाना दुलभ है ।

१२, धर्म दुलभ—शुद्ध, देव, गुरु और धर्म

दुलभ है, उनको पहचान कर उनको पूजना, नमना, आराधना करना अधिक दुर्लभ है।

१२ साधु की प्रतिमा—विशेष प्रकार के तप। ज्ञानी' से या शास्त्रो से जानें।

५ इद्रिय निरोध—इद्रियो का दमन।

२५ प्रतिलेखना—सुबह, दुपहर और सायकाल को सब उपकरणा की प्रतिलेखना करना। (उन्हे झाडना पोछना)

३ गुप्ति—मन वचन और काया के योगा पर अकुश रखना या उनको रोकना।

४ अभिग्रह—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अभिग्रह करना या नियम लना, मन में साचकर उसका पालन करना।

चरणसित्तरी नित्य अनुष्ठान है और करणसित्तरी प्रयाजन के वश करने याग्य अनुष्ठान है।

योग दमन की आवश्यकता

हत मनस्ते कुविकल्पजालैर्वचोप्यवद्य इच वपु प्रमाद ।
लब्धीश्च सिद्धीश्च तथापि वाछन, मनोरथैरेव हहा हतोसि ॥४१॥

अर्थ—तेरा मन खराब संकल्प विकल्प से आहत है, तेरे वचन असत्य और कठोर भाषण से भर हुए हं और तेरा शरीर प्रमाद से बिगडा हुवा है फिर भी तू लब्धि और सिद्धि की इच्छा करता है। वास्तव में तू (मिथ्या) मनोरथ से मारा गया है ॥ ४१ ॥ उपजाति

विवेचन—योग प्रधान मन, वचन और काया का पाप काम आत्मशक्ति स वद करना। इन तीनो को वश में रखना इससे सासारिक दु खो का नाश और मोक्ष की प्राप्ति सुलभ होती है। ग्रथकार कह रहे हैं कि तेरे मन, वचन और काया श्लोक के कथन के अनुसार बिगड हुए हैं फिर भी तू लब्धि और सिद्धि चाहता है, कितना आश्चर्य है? वास्तव में तुझ मिथ्या मनोरथो न परवश कर रखा है। साराश कि जिसके मन वचन और काया स्ववश हो जावें तो बाद में उसे लब्धि या ऋद्धि की इच्छा भी नहीं रहती है। वास्तव म न लब्धि व ऋद्धि स मोक्ष ही मिलता है।

मनोयोग पर नियत्रण—मन शक्ति

मनोवशस्ते सुखदु खसगमो, मनो मिलेद्य स्तु तदात्मक भवेत।
प्रमादचोरैरिति वायतो मिलच्छीलागमित्ररतुपजयानिशम ॥४२॥

अर्थ—सुख और दु ख पाना तेरे मन के आधीन है। मन जिसके साथ मिलता है उसके साथ एकाकार हो जाता है। अत प्रमाद रूप चोर से मिलते हुए तेरे मन को रोक रख और शीलागरूप मित्रो के साथ उसे निरतर मिलने दे ॥४२॥

वशस्थ

विवेचन—मन का स्वभाव जल या तेल जसा है। जल में जसा रग मिलता है वह वैसा ही रगीन नजर आता है। तेल में जसा सुगधी पदार्थ मिलाना हो वसा मिल सकता है। तेल, जल में जल्दी फल जाता है वस ही मन ससार में शीघ्र

आसक्त हो जाता है इसके स्वभाव को विचारने हुए इस चचल मनरूप घोडे को सदा काबू में रखने के लिए, समता, दया, उदारता, सत्य, क्षमा, धैय ये गुण धारण करने चाहिए इनके साथ मिलकर यह वैसा ही बन जावेगा जब कि प्रमाद के साथ मिलकर प्रमादी बन जावेगा अत तू इसे शीलाग के साथ जोड दे।

मत्सर त्याग

ध्रुव प्रमादैर्भववारिधौ मुने, तव प्रपात परमत्सर पुन ।
गले निबद्धोरु शिलोपमोऽस्ति चेत्कथ तदोन्मज्जनमप्यवाप्स्यसि ४३

अर्थ—हे मुनि ! तू प्रमाद करता है इस कारण मे ससार समुद्र में तेरा पतन तो निश्चित है ही साथ ही दूसरो पर तू मत्सर करता है वह गले में बधी हुई बडी शिला जैसा है अत तू उस समुद्र तल म से ऊपर भी कैसे आ सकेगा ॥ ४३ ॥ वशस्थ

विवेचन—हे मुनि तू प्रमाद (मद्य, विषय, कषाय, विकथा निद्रा) के कारण भव समुद्र में अवश्य डूबेगा साथ में ही मत्सर (ईर्षा) करने से समुद्र के तले में ही पडा रहेगा, मत्सररूपी पत्थर की शिला तेरे गले में बधी रहने से तू ऊपर न आ सकेगा। जीवन में प्रमाद के साथ ही मत्सर को भी नरक का व भव भ्रमण का कारण बताया है अत चाहे गृहस्थी हो चाहे साधु उसे प्रमाद व मत्सर से दूर रहना चाहिए। आत्म जागति के बिना इनसे दूर नही रहा जा सकता है एव इनसे दूर रहे बिना आत्मजागृति भी नही हो सकती है।

निर्जरा निमित्त परीषह सहन

महर्षय केऽपि सहन्त्युदीर्याप्युग्रातपादीन्यदि निर्जरायम् ।
कष्टं प्रसंगागतमप्यणीयोऽपीच्छन् शिवं किं सहसे स न भिक्षो ४४

अर्थ—जब बड़े ऋषि भी कर्म की निर्जरा के लिए उदीरणा करके भी आतापना आदि सहन करते हैं तब तू मोक्ष की इच्छा रखता हुवा भी प्रसंग से आए हुए अत्यंत अल्प कष्टों को क्यों नहीं सहता है ? ॥ ४४ ॥ उपजाति

विवेचन—गत भवों व इस भव में बांधे हुए कर्मों की निर्जरा करने के लिए उन कर्मों की स्थिति आने से पहले ही उनको उदय में लाकर, उनको भोगकर उन्हें आत्मप्रदेश से अलग कर देने के लिए जान बूझकर कष्ट सहन करने को उदीरणा कहते हैं। उत्कट मोक्षाभिलाषी आत्मा प्रायः ऐसा ही करते हैं। गर्मी में दुपहर को गरम रेत में तप करना, पोष मास की सख्त सर्दी में कपड़े उतार कर नदी किनारे या अन्य ठंडे स्थान में तप करना आदि उदीरणा है। हे साधु जब तेरा लक्ष ही मोक्ष पाने का है तब तू उदीरणा करना तो दूर रहा, विपरीत इसके चारित्र पालते हुए साधारण कष्ट भूख प्यास, विहार आदि में भी असहनशील बनता है, निराश होता है, निश्वास डालता है यह अयोग्य है। तू भी उदीरणा करके या कष्ट सहन करके अपना हित कर ले।

यति स्वरूप—भाव वर्णन

यो दान मानस्तुतिवंदनाभिर्न मोदतेऽन्यैर्न तु
अलाभलाभादि परीषहान् सहन यति सं

अर्थ—जो प्राणी दान, मान (सत्कार) स्तुति और नमस्कार से प्रसन्न नही हो जाता है और उनसे विपरीत (असत्कार, निंदा) से अप्रसन्न नहीं होता है और अलाभ आदि परीपहा को सहन करता है वह परमार्थी यति है, बाकी दूसरे तो वेशविडबक हैं। इन्द्रवज्रा

विवेचन—जिसका मन अपने काबू में हो और स्तुति या निंदा में खुश या नाराज न होता हो तथा आए हुए परीपहों को बिना खेद से सहता हो वही वास्तव में सच्चा यति है बाकी तो वेश की विडबना करने वाले वेशधारी नट जसे हैं। ऐसे वेशधारी, अपने उपकरणा को भिन्न भिन्न रूप व विधि से धारण करके, समेट करके या कुछ भिन्नता लाकर अपना अलग ही साग रचते हैं, न तो वे सिद्धात को जानते हैं न अपना या दूसरो का भला ही कर सकते हैं। इस पचम काल में ऐसे वेशधारी दिन प्रतिदिन बढ़ते व पुजाते जा रहे हैं, काल का प्रभाव है। वे अनपढ लोगो के आदर सत्कार व वदन पूजन योग्य व आराध्यदेव तक बन रहे हैं। कर्मों के वशी भूत प्राणी सच्चे देवगुरु धम को न पहचान कर ऐसो के फेर में पडकर अपनी भव परपरा को बढा रहे हैं यही तो यम गति है। जीवो को पूवभव में ज्ञान नही मिला इसीलिए तो गुरु को पहचान नही है, जब गुरु की पहचान नहीं है अत ऐसे वेशधारी के फदे में पडे हैं अब तरने का रास्ता कहा रहा आश्चर्य है। ऐसे, वेपधारी, जो धम को बदनाम करके स्व पर का अहित करते हैं उनसे सावधान रहना चाहिए।

यति, गृहस्थ की चिंता न करे

श्रयदगृहस्थेपु ममत्वबुद्धि तदीयतप्त्या परितप्यमान ।
श्रनिवर्तात करण सदा स्वस्तेपां च पापभ्रमिता भवेसि ॥४६॥

श्रर्थ—गृहस्थ पर ममत्व बुद्धि रखने से उनके सुख दु ख की चिंता से संतप्त रहने स तेरा श्रन्त करण सदा व्याकुल रहेगा श्रौर तू श्रपने श्रौर उनके पापा स ससार में भटकता रहेगा ॥ ४६ ॥ उपजाति

विवेचन—साधु एक स्थान पर श्रधिक न टिकें। शास्त्रोक्त विधि स नव कल्पी विहार करते रहें। एक ही शहर में बहुत श्रधिक रहने से या बार बार उसी शहर में चातुर्मास करने के निमित्त श्राकर श्राठ श्राठ मास तक स्थिर रहने से कई दोष उत्पन्न होते हं जिनमें से मोह व दृष्टिराग मुख्य ह। ये मेरे श्रावक हं य मेरे भक्त हं उनमें एसो ममत्व बुद्धि श्रा जाती है जिससे गृहस्था की घरेलु बातो में पडने से उनके सुख दु ख के भागी बना जाता है एव शाति का भग होता है श्रौर परिणामत स्वय का व उन श्रावकों का संसार भ्रमण बढता है। गृहस्था पर से राग दूर करने का एक तो उपाय यह है कि उनस परिचय कम करना, फालतु बातो का त्याग कर श्रभ्यास में चित्त लगाना नवकल्पी विहार करना, एक ही स्थान पर सिवाय वृद्धावस्था, श्रशक्ति, रोगादि या श्रावश्यक धार्मिक कारण के विशेष स्थिरता न करना। दूसरा उपाय है राग का कटु विपाकपन सोचना श्रौर श्रात्मपरिणिति को डिगने नहीं देना।

आजप्राय चातुर्मास करने को स्थिरता की अवधि चार मास की हद को छोडकर ८ मास या १० मास तक पहुच गई है। खेद है *कि कहा किसको जाय ! जो उपदेशक, गीतार्थ आचार्य* कहे जाते ह वे भी इसी रोग के शिकार बने हुए हं परिणामत एक ही प्रात में साधुओ का जमाव है वही प्रात (गुजरात) उनका विहार व चातुर्मास का केंद्र बना हुवा है। बडे बडे शहरो में (अहमदाबाद, बबई, पालीताणा,) उनका जमाव नजर आता है चाहे वहा उनकी अवज्ञा ही क्यो न होती हो, चाहे वे समाज को भाररूप क्या न दिखते हो, चाहे उनके कारण से गृहस्था को विपरीत विचारणा में क्यो न जाना पडता हो, चाहे उनकी स्थिरता से दूसरे साधुओ को स्थान का अभाव ही क्या न होता हो। इन सब बाता की परवाह आज किसे है। आहार विहार का सुगमता स वे लाचार हं। विशेषत दनिक व्यवहार के साधन या दवा आदि उन्ह सुखपूर्वक मिल जाने से या अध श्रद्धालुओ की भक्ति के कारण वे मधुमक्खी की तरह अपने छत्तो रूप शहरा को छोडना पसद नही करते हं। उनके ऐसे बर्ताव से अन्य प्रांत धम से वचित हं। वहा श्रावका में रात्रि भोजन तथा कदमूल का खूब प्रचार है और पतन की पराकाष्ठा यहा तक पहुच गई है कि वे जिन देव की मूर्ति व मदिरा के द्वषी बन गए हं। इसी शास्त्र के प्रणेता जिस भूमि (मेवाड) में विचरे थे आज वहा की दुदशा देखकर बडा दुख होता है। अत दृष्टि राग से बचने के लिए नवकल्पी विहार अत्यत आवश्यक है जो कल्याण का माग है।

गृहस्थ की चिन्ता का फल

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिंतातप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे ।
आजीविकास्ते यतिवेषतोऽत्र, सुदुर्गति प्रेत्य तु दुर्निवारा ॥४७॥

अर्थ—अपना घर छोड़कर दूसरे के घर की चिन्ता से संतप्त है यति ! तुझे क्या लाभ होने वाला है ? (अधिक से अधिक तो) यति के वेष से इस भव में तेरी आजीविका सुख से चलेगी परन्तु (इस वेष से) परभव में अत्यंत नष्ट दुर्गति नहीं रोकी जा सकेगी ॥ ४७ ॥

उपजाति

विवेचन—जिस ध्येय को (मोक्ष को) सामने रखकर तूने यह वेश धारण किया है और अपने घर की चिंता से मुक्त हुवा है तो फिर दूसरों के घर की चिंता क्यों करता है इससे तेरी हानि होगी । इस वेष से इस भव में चाहे तुझे खान, पान, मान अधिक मात्रा में मिलते हों परन्तु पर भव में दुर्गति को रोकने में यह तेरा सहायक न होगा । अतः गृहस्थ की चिंता को छोड़कर आत्मचिंतन कर ।

तेरी प्रतिज्ञा से विपरीत तेरी चलन

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां, वदन्नकुर्वन्नपि देहमात्रात् ।
शय्यादिकृत्येषु नुदन् गृहस्थान् हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः ४८

अर्थ—'मैं सावद्य नहीं करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा का तू प्रतिदिन उच्चारण करता है फिर भी सिर्फ शरीर से ही तू सावद्य

आज प्राय चातुर्मास करने की स्थिरता की अवधि चार मास की हद को छोडकर ८ मास या १० मास तक पहुच गई है। खेद है कि कहा किसको जाय ! जो उपदेशक, गीतार्थ आचार्य कहे जाते हं वे भी इसी रोग के शिकार बने हुए हं परिणामत एक ही प्रात में साधुओ का जमाव है वही प्रात (गुजरात) उनका विहार व चातुर्मास का केंद्र बना हुवा है। बडे बडे शहरो में (अहमदाबाद, बबई, पालीताणा,) उनका जमाव नजर आता है चाहे वहा उनकी अवज्ञा ही क्यों न होती हो, चाहे वे समाज को भाररूप क्यो न दिखते हो, चाहे उनके कारण से गृहस्था को विपरीत विचारणा में क्या न जाना पडता हो, चाहे उनकी स्थिरता से दूसरे साधुओ को स्थान का अभाव ही क्या न होता हो। इन सब बाता की परवाह आज किसे है। आहार विहार का सुगमता स वे लाचार हं। विशेपत दैनिक व्यवहार के साधन या दवा आदि उन्हे सुखपूवक मिल जाने से या अध श्रद्धालुओ की भक्ति के कारण वे मधुमक्खी की तरह अपने छत्ता रूप शहरो को छोडना पसद नही करत हं। उनके ऐसे बर्ताव से अन्य प्रांत धम से वचित हैं। वहा श्रावका में रात्रि भोजन तथा कदमूल का खूब प्रचार है और पतन की पराकाष्ठा यहा तक पहुच गई है कि वे जिन देव की मूर्ति व मदिरों के द्वेषी बन गए हं। इसी शास्त्र के प्रणेता जिस भूमि (मेवाड) में विचरे थे आज वहा की दुदशा देखकर बडा दुख होता है। अत दृष्टि राग से बचने के लिए नवकल्पी विहार अत्यत आवश्यक है जो कल्याण का मार्ग है।

गृहस्थ की चिंता का फल

त्यक्त्वा गृहं स्वं परगेहचिन्तातप्तस्य को नाम गुणस्तवर्षे ।
आजीविकास्ते यतिवेषतोऽत्र, सुदुर्गतिः प्रेत्य तु दुर्निवारा ॥४७॥

अर्थ—अपना घर छोडकर दूसरे के घर की चिंता से सन्तप्त हे ऋषि ! तुझे क्या लाभ होने वाला है ? (अधिक से अधिक तो) यति के वेष से इस भव में तेरी आजीविका सुख से चलेगी परन्तु (इस वेष से) परभव में अत्यन्त नष्ट दुर्गति नहीं रोकी जा सकेगी ॥ ४७ ॥

उपजाति

विवेचन—जिस ध्येय का (मोक्ष का) सामने रखकर तूने यह वेष धारण किया है और अपने घर की चिंता से मुक्त हुआ है तो फिर दूसरों के घर की चिंता क्यों करता है इसमें तेरी हानि होगी । इस वेष से इस भव में चाहे तुझे खान पान, मान अधिक मात्रा में मिलते हों परन्तु पर भव में दुर्गति को रोकने में यह तेरा सहायक न होगा । अतः गृहस्थ की चिंता को छोडकर आत्मचिंतन कर ।

तेरी प्रतिज्ञा से विपरीत तेरा चलन

कुर्वे न सावद्यमिति प्रतिज्ञां, वदन्नकुर्वन्नपि देहमात्रात् ।
शय्यादिकृत्येषु नुदन् गृहस्थान् हृदा गिरा वासि कथं मुमुक्षुः ४८

अर्थ—"मैं सावद्य नहीं करूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा का तू प्रति-दिन उच्चारण करता है फिर भी सिर्फ शरीर से ही तू सावद्य

काम नही करता है परन्तु मन वचन से तो गृहस्थो को शय्या आदि कामो के लिए प्रेरित करता रहता है तो फिर तू मुमुक्षु कैसा ? ॥ ४८ ॥ उपजाति

विवेचन—दीक्षा लेने के पश्चात मानव पूरी तरह से अकुश में आ जाता है। आत्मार्थी को तो इसमें खूब आनद आता है। जिसे आनंद आता है वही सच्चा साधु है लेकिन कई भारी कर्मी जीव इस अवस्था में आने के बाद भी मन की अभिलाषाओ से पराजित होकर कई आदेश उपदेश देकर मनोवांछित कार्य साधते हैं व वस्तु मगाते हैं अत वे मुमुक्षु नही हैं। दीक्षा लेकर प्रतिदिन यह प्रतिज्ञा नौ बार ली जाती है, कि, 'सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खामि जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण" इत्यादि। जिसका अर्थ है कि हे प्रभु ! मै सभी प्रकार के पापकारी कार्यों को जीवन पर्यन्त नही सोचूगा, करने का उपदेश नही दूगा और स्वय भी नही करूगा और करते हुए का भला भी नही जानूगा।' परन्तु प्रतिदिन तू अपनी सुख साधना के लिए वैसा उपदेश या आदेश देता है यह तो तेरी प्रतिज्ञा का भग है जो मृषावाद भी है अत तू मन वचन और काया से प्रतिज्ञा का पालन कर।

दिखते हुए प्रशस्त सावद्य कर्मों का फल

कथ महत्त्वाय ममत्वतो वा, सावद्यमिच्छस्यपि सघलोके ।
न हेममय्यप्युदरे हि शस्त्री, क्षिप्ता क्षणोति क्षणतोऽप्यसून किम ४६

अर्थ—तू अपने महत्व के लिए या ममत्व के लिए संघलोक

में भी सावद्य की वाछा करता है तो क्या सोने की छुरी भी पेट में मारने से क्षण में प्राण नाश नही कर दती है ? ॥४६॥

उपजाति

विवेचन—सघ के कामा (प्रतिष्ठा, उपधान आदि) में भा यदि तू अपना यश बढाना चाहता है या मूर्ति पर अपना नाम खुदवाने की भावना से उपदेश देता है तो वह भी ममत्व या महत्त्व बढाने का कारण होने से आत्मघातक है। ऐसे भावा से *प्रशस्त या अप्रशस्त काय भी हानिकारक हं।* छुरी चाहे लोहे की हो चाहे सोने की, पेट में मारने से अवश्य प्राणघात करती है। यहाँ छुरी की उपमा ममत्व और महत्वता से, पेट की आत्मपरिणिति से और प्राण को चारित्र जीवन से दी है।

पुण्यहीन की चेष्टा, उद्धत वर्ताव—अधम फल

रक कोऽपि जनाभिभूतिपदवी त्यक्तवा प्रसादादगुरो
वप प्राप्यते कथचन कियच्छास्त्र पद कोऽपि च ।
मौखर्यादिवशीकृतर्जुजनतादानार्चनर्गर्वभाग
आत्मान गणयन्नरेंद्रमिव धिग्गता द्रुत दुर्गतौ ॥ ५० ॥

अथ—कोई दान हीन मनुष्य लोगा स अपमानित होन के स्थान को छोडकर गुरू महाराज की कृपा से मुनि का वेप पाता है थोडा सा शास्त्र अभ्यास भी करता है और कोई पदवी भी पाता है तब अपने वाचालपन स भद्रिक लोगा को वशीभूत करके उन रागी लोगो से दिए गए दान और सम्मान से वह गर्व मानता है और अपने आप को राजा समान गिनता

है। ऐसो को धिक्कार है। वे शीघ्र ही दुर्गति में जाने वाले ह। (अनत द्रव्यलिगी भी ऐसी दशा म वरतने से ही निष्फल हुए ह) ॥ ५० ॥ शार्दूलविक्रीडित

विवेचन—जीव को पाप कर्मानुसार दरिद्रावस्था, दासपन, परमुखापेक्षा आदि प्राप्त होते हं। उसे कई प्रसगो में अपमान सहना पडता है। यदि किसी पूव कम के कारण गुरू महाराज का सयोग मिल गया तो उसे उस अपमानित घृणित दशा में से निकाला गया और पूजनीय वेप (मुनिवेप) प्राप्त हुआ। वहा वह थोडा सा अभ्यास भी करता है और समय जाते उसे कोई पदवी, (पन्यास, उपाध्याय, गणि, आचार्य) भी प्राप्त होती है। तब उसे लोगो से मिलने बोलने की छूट रहती है जिससे वह लोगो में अपना प्रभुत्व जमान के लिए तरह तरह का वाग् जाल फैलाता है, लागो में अपनी तरफ श्रद्धा व अनुराग पदा करता है, वे अनुरागी लोग उसे तरह तरह का सम्मान देते हैं उसके उपदेशो को सुनते व मानते हं और धम क्रिया, अनुष्ठान या महोत्सव करते ह। इससे वह अपने आपको राजा मानता है एव अभिमान करता है। उसे नही मालूम कि यह सब तो तेरे भगवान के माग पर चलने से, एव उनका उपदिष्ट वेप धारण करन से व उनके बताये शास्त्रो को पढने के कारण हो रहा है। इसमें तेरा व्यक्तित्व का प्रभाव कुछ भी नही है यदि तेरा प्रभाव होता तो तेरी पहले की दशा में (दीन दरिद्रावस्था) भी होता। जसे कोई सरकार का सिपाही वारन्ट लेकर आता है और किसी को गिरफ्तार करके मन में

फूलना है कि मेरा प्रभाव कमा है, म कितन बड य ऊचे पद पर हू, मेरे में इस बदी को पकडने की, शक्ति है यह उसकी मूर्खता है क्योकि यह प्रभाव तो सरकारी पोशाक का है । कमा हा भोलापन उस मुनि की भी है । उसको नमस्कार नहीं है वरन जन साधु क वेश का नमस्कार है, उसकी शोभा या उसका प्रभाव नही है यह तो जन शासन का शाभाय प्रभाव है अत पौद्गलिक फल की इच्छा रखे बिना शुद्ध अध्यवसाय से धम क्रिया करना चाहिए । अभिमान स तो यह जीव क्रिया करता है और कष्ट भी उठाता है और प्राणात उपसग भी सहता है परंतु भाव शुद्ध न होने से वसी फल प्राप्ति नही होती जसी कि होनी चाहिए ।

आज देखा जाता है कि उपधान करके माला पहनते वक्त झगडा होता है पहली माला कौन पहने इसके लिए क्लेश होता है आपस में लडते झगडते हैं । आचार्यों के समक्ष ही गालागाली व अपमानसूचक शब्द बोले जाते हैं । अभि मान व दिखावे की भावना नाश हुए बिना हमारी इन क्रियाओ का कोई महत्त्व नहीं है । तप या क्रियाए करने के बाद एसा करना (अपनी महिमा बढाना या लाक दिखावा करना) आत्मवचना है व कृत पुण्य को नष्ट करना है अत अभिमान का छोडकर प्रत्यक क्रिया करना या कराना चाहिए इसी में आत्म कल्याण है । जो पहले दीन हीन दशा में थे अब साधु के ऊचे पद पर हैं उन्हें अपनी उस दशा का भान रखकर निराभिमानी रहना चाहिए । भोले जीवो को उन्माग के

बजाय सन्मार्ग पर ले जाना चाहिए इसी में स्व व पर का कल्याण है।

चारित्र प्राप्ति—प्रमाद त्याग

प्राप्यापि चारित्रमिद दुराप, स्वदोषजयद्विषयप्रमादै.।
भवाम्बुधौ धिक पतितोऽसि भिक्षो, हतोऽसि दु खैस्तदनन्तकालम् ५१

अर्थ—महान् कष्ट से भी दुर्लभ ऐसे इस चारित्र को पाकर अपने दोषो से उत्पन्न किए गए विषय और प्रमाद के द्वारा हे भिक्षु ! तू ससार समुद्र में गिरता जा रहा है अत उसके परिणाम से अनतकाल तक दु ख सहेगा ॥ ५१ ॥

उपजाति

विवेचन—आत्मभान भूलने से जीव को विषय, कषाय और प्रमाद की प्राप्ति होती है इससे नए कर्मों की शृखला शुरू होती है। भाग्योदय से तुझे ऐसा अवसर मिला है, महान कष्ट से भी कठिनता से मिलने वाला चारित्र तेरे उदय में आया है अत तू अपने आपको सयम में रखकर उन पिछले विषय व प्रमाद की परपरा को मिटा दे और नए विषय व प्रमाद से दूर रह, नहीं तो तेरा भव भ्रमण व संसार कूप पतन का क्रम नही मिटेगा।

बोधि बीज प्राप्ति आत्महित साधन

कथमपि समवाप्य बोधिरत्न युगसमिलादिनिदर्शनाद्दुरापम्।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्, किमपि हित लभसे यतोऽर्थित शम् ५२

अर्थ—युग समिला आदि सुप्रसिद्ध दृष्टातो के अनुसार महामुश्किल पाए जाने वाले बोधिरत्न (समकित) को पाकर तू शत्रुओं के आधीन न होकर थोड़ा सा भी आत्महित कर जिससे तुझे इच्छित सुख की प्राप्ति हो ॥ ५२ ॥ पुष्पिताग्रा

विवेचन—इच्छित सुख मोक्ष है उसका बीज समकित है। उस समकित को पाने के ग्यारह कारण हैं—अनुकंपा, अकाम निर्जरा, अज्ञान तप, दान, विनय, अभ्यास, संयोग वियोग दुःख, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार। मनुष्य भव की दुर्लभता के लिए दश दृष्टातो में से एक दृष्टात है युग-समिला है। स्वयं भू रमण रमण समुद्र (अनन्त द्वीप समुद्रों के पश्चात् अघ राजप्रमाण, सबसे बड़ा समुद्र) के पश्चिम भाग में युग (बैल के कंधे पर डाला जाने वाला जूड़ा) को डाला जाय और पूर्व भाग में समिला (वह खीली जो जूड़े में डाली जाती है) को डाली जाय इतनी दूरी व समुद्र की तरंगों के कारण जूड़े में खीले का घुसना महान कठिन है, शायद यह भी संभव हो जाय तो भी मानव भव पाना इससे भी दुर्लभ है और बोधिबीज मिलना इससे भी दुर्लभ है। अतः हे यति! अपने आत्महित के लिए थोड़ा सा भी प्रयत्न कर नहीं तो काम क्रोध आदि शत्रु के वश में होकर तू भव में भटकता रहेगा। इन शत्रुओं के चंगुल से निकल, जिससे तुझे इच्छित सुख मिलेगा।

शत्रुओं की नामावली

द्विषस्त्विमे ते विषयप्रमादा, असंयता मानसदेहवाचः ।
असंयमाः सप्तदशापि हास्यादयश्च बिभ्यच्चर नित्यमेभ्य ॥५३॥

बजाय सन्मार्ग पर ले जाना चाहिए इसी में स्व व पर का कल्याण है।

चारित्र प्राप्ति—प्रमाद त्याग

प्राप्यापि चारित्रमिदं दुरापं, स्वदोषजयद्विषयप्रमादैः ।
भवाम्बुधौ धिक् पतितोऽसि भिक्षो, हतोऽसि दुःखस्तदनन्तकालम् ५१

अर्थ—महान् कष्ट से भी दुर्लभ ऐसे इस चारित्र को पाकर अपने दोषों से उत्पन्न किए गए विषय और प्रमाद के द्वारा हे भिक्षु ! तू संसार समुद्र में गिरता जा रहा है अतः उसके परिणाम से अनंतकाल तक दुःख सहेगा ॥ ५१ ॥

उपजाति

विवेचन—आत्मभान भूलने से जीव को विषय, कषाय और प्रमाद की प्राप्ति होती है इससे नए कर्मों की शृंखला शुरू होती है। भाग्योदय से तुझे ऐसा अवसर मिला है, महान कष्ट से भी कठिनता से मिलने वाला चारित्र तेरे उदय में आया है अतः तू अपने आपको संयम में रखकर उन पिछले विषय व प्रमाद की परंपरा को मिटा दे और नए विषय व प्रमाद से दूर रह, नहीं तो तेरा भव भ्रमण व संसार कूप पतन का क्रम नहीं मिटेगा।

बोधि बीज प्राप्ति आत्महित साधन

कथमपि समवाप्य बोधिरत्नं युगसमिलादिनिदर्शनाद्दुरापम् ।
कुरु कुरु रिपुवश्यतामगच्छन्, किमपि हितं लभसे यतोऽर्थितं शम् ५२

अथ—युग समिला आदि सुप्रसिद्ध दृष्टांतो के अनुसार महामुश्किल पाए जाने वाले बोधिरत्न (समकित) का पाकर तू शत्रुओ के आधीन न होकर थोडा सा भी आत्महित कर जिससे तुझे इच्छित सुख की प्राप्ति हो ॥ ८२ ॥ पुष्पिताग्रा

विवेचन—इच्छित सुख मोक्ष है उसका बीज समकित है। उस समकित को पाने के ग्यारह कारण हैं—अनुकंपा, अकाम निर्जरा, अज्ञान तप, दान, विनय, अभ्यास, सयोग वियोग दु ख, उत्सव, ऋद्धि और सत्कार। मनुष्य भव की दुर्लभता के लिए दश दृष्टांतो में से एक दृष्टांत है युग-समिला है। स्वय भू रमण रमण समुद्र (अनत द्वीप समुद्रो के पश्चात अर्घ राजप्रमाण, सबसे बडा समुद्र) के पश्चिम भाग म युग (बल के कधे पर डाला जाने वाला जूडा) को डाला जाय और पूर्व भाग में समिला (वह खीली जा जूडे में डाली जाती है) को डाली जाय इतनी दूरी व समुद्र की तरगो के कारण जूडे में खीले का फसना महान कठिन है, शायद यह भी संभव हो जाय तो भी मानव भव पाना इससे भी दुर्लभ है और बोधिबीज मिलना इसस भी दुर्लभ है। अत हे यति! अपने आत्महित के लिए थोडा सा भी प्रयत्न कर, नही तो काम क्रोध आदि शत्रु क वश में होकर तू भव में भटकता रहेगा। इन शत्रुओ के चगुल से निकल, जिससे तुझे इच्छित सुख मिलेगा।

शत्रुओं की नामावली

द्विपंचस्त्विमे ते विषयप्रमादा, असवृता मानसदेहवाच
असयमा, सप्तदशापि हास्यादयश्च विश्यच्चर

अर्थ—तेरे शत्रु हैं—विषय, प्रमाद, निरंकुश मन वचन काय, असंयम के सतरह स्थान और हास्यादि। उनसे तू सदा सर्वदा सचेत रहना ॥ ५३ ॥ उपेन्द्रवज्रा

विवेचन—अपने शत्रुओं को पहचान कर सावधानी से चल—शत्रु ये हैं—स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द इन पांचो इंद्रियों के विषय या इनके उत्तर भेद रूप तेईस विषय। मद्य, विषय, कषाय, विकथा और निद्रा ये पांच प्रमाद। मन, वचन और काया के संवर बिना के व्यापार (निरंकुशता) सतरह प्रकार का असंयम के स्थान जो चरण सित्तरी में बताए हैं। इन सबको पहचान कर इनसे दूर रह।

सामग्री—उसका उपाय

गुरूनवाप्याप्यपहाय गेहमधीत्य शास्त्राण्यपि तत्त्ववाचि।
निर्वाहचिंतादिभराद्यभावेऽप्यूपे न किं प्रेत्य हिताय यत्न ॥५४॥

अर्थ—हे यति! तुझे महान गुरु की प्राप्ति हुई, तूने घर-बार छोड़े, तत्व प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों का अभ्यास किया और निर्वाह करने की चिंता आदि का तेरा भार उतर गया फिर भी परभव के हित के लिए तुमसे प्रयत्न क्यों नहीं होता है? ॥ ५४ ॥ उपजाति

विवेचन—हे यति! तुझे सद्गुरु का योग मिला, तूने विरक्त होकर घर दूकान, धन, माल, स्त्री, पुत्र का त्याग किया, उत्तम शास्त्रों का अभ्यास किया, द्रव्यानुयोग का तुझे

शा प्राप्त हुआ, तुझे अपने और अपने परिवार के भरण पोषण की चिंता नहीं रही, विवाह शादी, काज कीरियावर करने की व मकान बंधान, जेवर घडाने या दुकान पर तरह तरह के परिश्रम करके धन कमाने की चिंता भी नहीं रही अर्थात् तू हर प्रकार से निश्चिन्त है और फिर भी तुझसे धर्म में प्रवृत्त क्या नहीं हुआ जाता है ? प्रमाद के वश में होकर तू यह भव व परभव क्या बिगाड रहा है ?

संयम की विराधना नहीं करना

विराधितैः संयमसर्वयोगैः,
पतिष्यतस्ते भवदुःखराशौ ।
शास्त्राणि शिष्योपधिपुस्तकाद्या,
भक्ताश्च लोकाः शरणाय नालम् ।। ५५ ।।

अर्थ—संयम के सब योगों की विराधना करने से तू जब भव दुःख के समूह में गिरेगा तब शास्त्र शिष्य, उपधि, पुस्तकें और भक्त लोग आदि कोई भी तुझे शरण देने में समर्थ नहीं हो सकेंगे ।। ५५ ।। उपजाति

विवेचन—हे साधु ! संयम की आराधना ही तेरा मुख्य कर्त्तव्य है । इसकी विराधना के अनेक दुष्परिणाम हैं जिनमें से दो तो अनिवार्य हैं । एक तो दुर्गति गमन दूसरा अनंत भव भ्रमण । दुर्गति में पड़ने से रोकने की शक्ति न तो तेरी पुस्तकों से भरी अलमारी में है न शिष्य की पलटन में है न तेरे अपने कहलाने वाले दृष्टि रागी भक्तों में है न ही

मात्र कण्ठस्थ किए गए आचारांग, सूत्र कृतांग आदि शास्त्रों में ही है। यदि कोई दुर्गति में से बचाने वाला है तो वह केवल मात्र संयम ही है। इस जीव को पुद्गल या अन्य जीव सहायक नहीं हो सकते हैं, यह अकेला ही है, अकेला ही अपने अच्छे बुरे कर्मों का फल भोगने वाला है अतः ऐसे आलंबनों को ढूंढने का अवसर ही न दे। सदा संयम गुण में लगा रह और आत्मा को अनंत दुःख राशि में से गिरने से बचा।

संयम से सुख, प्रमाद से उसका नाश

यस्य क्षणोपि सुरधामसुखानि पल्य
कोटीनृ णां द्विनवतीं ह्यधिकां ददाति।
किं हारयस्यधम संयमजीवितं सत,
हाहा प्रमत्त पुनरस्य कुतस्तवाप्तिः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस (संयम) की एक क्षण (मुहूर्त) भी बानवे क्रोड पल्योपम से अधिक समय तक देव लोक का सुख देती है ऐसे संयम जीवन को हे अधम ! तू क्या हार रहा है ? हे प्रमादी ! दुबारा फिर से तुझे इस संयम की प्राप्ति भी कहाँ से होगी ? ॥ ५६ ॥ वसततिलका

विवेचन—टीकाकार धन विजयजी गणी लिखते हैं कि, "संयम जीवन का एक क्षण भी मनुष्य को बानवे क्रोड पल्योपम से अधिक समय तक का देवलोक का सुख देता है।

"सामायिक करता हुआ श्रावक दो घड़ी (४८ मिनिट)

तक समभाव में बरतता है तब वह बाणवें क्रोन उन साठ लाख, पच्चीस हजार नौ सौ पच्चीस और तीन अष्टम भाग (६२, ५६, २५ ६२५ ३/८)" पल्योपम का देवायुष्य बाधता है। "इति प्रतिक्रमण-सूत्र वृत्तौ'।

एक सामायिक का जब इतना अधिक फल है तब साधु जो पूरे जीवन के प्रत्येक दिन के प्रत्येक क्षण में सामायिक में रहकर जीवन के सभी काम करता है, उसको कितना अधिक फल मिलता है। अत हे साधु विषय कषाय से दूर रहकर उत्तम प्रकार से सयम जीवन बिता।

सयम का फल—ऐहिक व आमुष्मिक—उपसहार

नाम्नापि यस्येति जनेऽसि पूज्य, शुद्धात्ततो नेष्टसुखानि कानि।
तत्सयमेऽस्मिन यतसे मुमुक्षोऽनुभूयमानोरुफलेऽपि किं न ॥५७॥

अर्थ—सयम के नाम मात्र से भी यदि तू लोगो में पूजा जाता है तो यदि वास्तव में सयम शुद्ध हो तो कौन सा इष्ट तुझे नही मिलता? जिस सयम के महान फल प्रत्यक्ष अनुभव में आए हैं उस सयम में हे यति! तू प्रयत्न क्यो नहीं करता है? ॥ ५७ ॥ उपजाति

विवेचन—केवल उपरी वेष व पात्र से ही तू साधु दीखता है और इतने से परिवतन से ही जब तुझे आहार, उपाश्रय और वदन पूजनादि मिलता है अर्थात तेरे नाम मात्र के साधुपन से इतना फल मिलता है। यदि तू साधु जीवन को,

(सयम को) सुचारु व वास्तविक रीति से पालेगा तो तुझे सर्वोत्कृष्ट फल (मोक्ष) की प्राप्ति होगी। तेरा ऊपरी साधुपन तो सबको नजर आता है लेकिन अदर का तो तू ही जानता है। यदि तू जैसा बाहर से साधु है वैसा ही अदर से भी है तब तो अव्याबाध सुख तेरे समीप ही है अर्थात् सब दु खो से छुडाने वाला सुख—मोक्ष तेरे निकट है।

पूज्य मुनिराजो! ससार के दावानल से बचने के लिए आपने सयम मार्ग स्वेच्छा से स्वीकार किया है अत आपको धन्य है। आप स्वय तरने व दूसरो को तारने का प्रयत्न कर रहे है। आपका जीवन केवल परोपकार के लिए ही है अत आदरणीय है। परन्तु खेद का विषय है कि आपका जैसा वेष धारण करने वाले कई साधु, यति, उ मार्ग में चलते हैं। वे लोग अपने नाम के पीछे श्रद्धालु श्रावको का निरर्थक धन खर्चाते हैं, आपके उन्मत्त हठो व क्रोधी स्वभाव के कारण उन्हें अदालतो के द्वार खटखटाने पडते हैं जिससे जैन धर्म की निंदा होती है। न मालूम क्या बात है कि इस समय मे प्राय सभी तरह के अधिकतर साधु सुख की इच्छा करते है। उपाश्रयो में खूब सामग्री का सग्रह कर चैत्यवासियो की तरह प्रमादी, आसक्त, व प्रमत्तावस्था में रह रहे हैं। जन समाज का अधिक धन आपके सुख के लिए व आपके रोगो का इलाज कराने में या आपकी प्रशसा के ग्रथ प्रकाशन मे या आपके आग्रह की पूर्ति के लिए खर्च हो रहा है। जिस प्रकार से प्रतिदिन सायकाल को अधकार मेंमश

घर म छा जाता है उसी क्रम से व न्न शन जैन समाज पर ग्रनानाधकार, निर्धनना व कुसप छा रहा है। ग्राप जो एक ग्राधार ह उसकी जडे भी ग्योखली हो रही है। ग्रापकी दशा मठधारियो जसी हा रही है। ३ ४ साधु मिलकर विचरते हैं विहार २ ४ न्नि का ग्रौर जमाव १ २ माह का, साथ में नौकर व सब सामान। पहले ग्रापलोग मात्र ग्रात्म कल्याण का ध्यय रखते थ, न्नास्त्रो को पढते थे, बस्ती से खूब दूर निजन स्थान में रहते थ, ग्रापके न्नब्द मात्र का ग्रसर होता था जब कि ग्राज ग्राप श्रावका के घर की फिक्र करते ह, ग्रालीशान उपश्रयो में ग्रपन नाम के नान भडारो व ग्रल्मारिया से घिरे रहत ह। एक गच्छ या सिघाड के निमित्त बनवाए गए उपासरा में दूसरे गच्छ, सिंघाड या गुरु के शिष्य नही ठहराए जाते ह

जहा सतत विहार की ग्रावश्यकता है वहा ग्राप जाते ही नही हैं जहा लागा में ग्रापके प्रनि ग्ररुचि है, ग्रापके कारण गाव में कुसप है ग्रर्थात ग्रापको उपाश्रय खाली करने का नोटिस सरकार मारफत दिया जाता है वहीं टिके रहने की ग्रापकी इच्छा तीव्रतर होती है। ग्रब ग्रापका ग्रकेले घूमने में भी सकोच नही रहा है।

पाच पाच महाव्रत के धारण करने वाले की ऐसी दुदशा!! ग्रापका लोगा पर प्रभाव नही। ग्रापके ग्रदर के शत्रुग्रा का जोर बढ़ गया है ग्रत ग्रापका ऊपरी वेप तो वही रहा

है परंतु अंदर विषय कषाय का साम्राज्य शीघ्रगति से बढ़ रहा है। प्राय यही साधु व साध्वी एक ही गांव में बार २ चातुर्मास करते हैं जिनमें राग उत्पन्न हो जाता है, तरुण साध्वियां युवा साधुओं के संपर्क में आने की भावना करती हैं यह सब समाज का दुर्भाग्य है। जैन समाज अंधश्रद्धालु है। इस समाज में शिक्षा को स्थान कम मिल रहा है अन्‍ वेशधारियों का पाप बढ़ता जा रहा है *उच्चकोटि के वैराग्य* व त्याग के जनमार्ग को कई कपटी साधु बदनाम कर रहे हैं। वेष सिंह का बरताव सियार का हो रहा है। पूज्यवर सावधान ! *यह क्रांति का युग है। नौजवान स्त्री पुरुष अब* इन सब पाखंडों को सह न सकेंगे। आपने दीक्षा ली है इसका किसी पर अहसान नहीं है यदि आप सच्चे साधु हैं तो हमारे *पूज्य हैं वरना पेटभरू हैं। आपसे समाज का हित हो सकता* हो कीजिए वरना अपने दुराचरण से वीतराग के नाम को बदनाम न कीजिए। चिंतामणि रत्न रूप जनधर्म को अपने *कुकर्मों से काच का टुकड़ा न बनाइये।*

पूज्य गुरुवर ! क्षमा करें। हम तो आपमें पूर्वाचार्यों का आत्मबल देखना चाहते हैं। श्री हेमचंद्राचार्य की ज्ञान-शक्ति, हीरविजयसूरी की उपदेश शक्ति हरिभद्रसूरि की शास्त्र अनुरक्ति और मुनि सुंदरसूरि की लेखन शक्ति फिर से आपमें देखना चाहते हैं। आनंदघनजी व यशोविजयजी एवं आत्मारामजी की शक्ति आपमें देखना चाहते हैं। आप समाज के कर्णधार हैं आप जनधर्म व समाज के बीज हैं। बीज

खोखला होगा तो अकुर कस उगगा । आपके ही कारण आज जन समाज छिन्न भिन्न हो रहा है । तिथि चर्चा के कारण समाज का अग प्रत्यग दर्द अनुभव कर रहा है । सबलारी की एकता जाती रही है । आज आपके कुमप के विरुद्ध श्रावकों को अनशन करना पड रहा है । अब तो आपना फूट को मिटावें । अब तो आपको स्वमान का भान होना चाहिए । अब तो प्रभु महावीर व उनके आचार का आघात लगाने वाले साहित्य प्रगट हो रहे हैं क्या इस तरफ भी आपका ध्यान गया है ? जन समाज आपकी फूट प्रतिक्रिया रुचि व अध विश्वास के कारण अपनी सस्कृति को खो रहा है यह सब आपको सभालना होगा । आपसे समाज की यह मांग है कि आप अपने साधु समाज के झगडा को सुलझाकर नए सघटित समाज की रचना कर जन शासन का सितारा ऊचा चमकावें ।

हे गुरुवर्य्य आप अपना अगनी कर्त्तव्य बजाइये । हे क्षमाश्रमण ! आप सबसे कटु शब्दों के लिए अन्तकरण से क्षमा मागता हू, किसी की निन्दा नहीं करना चाहता हू । किसी न किसी तरह से शासन की उन्नति हो, सबको मोक्ष की प्राप्ति हो धर्म का जय हो इसी से तीव्र शब्दों का प्रयाग किया है, अत क्षमा कर ।

इति त्रयोदशो यतिशिक्षोपदेशाधिकार

है परतु अदर विषय कषाय का साम्राज्य शीघ्रगति से बढ़ रहा है। प्राय वही साधु व साध्वी एक ही गाव में बार २ चातुर्मास करते हैं जिनमें राग उत्पन्न हो जाता है, तरुण साध्वियां युवा साधुओं के संपर्क में आने की भावना करती हैं यह सब समाज का दुर्भाग्य है। जैन समाज अंधश्रद्धालु है। इस समाज में शिक्षा को स्थान कम मिल रहा है अत वेशधारियों का पाप बढ़ता जा रहा है उच्चकोटि के वैराग्य व त्याग के जनमार्ग को कई कपटी साधु बदनाम कर रहे हैं। वेष सिंह का बरताव सियार का हो रहा है। पूज्यवर सावधान ! यह क्रांति का युग है। नौजवान स्त्री पुरुष अब इन सब पाखंडों को सह न सकेंगे। आपने दीक्षा ली है इसका किसी पर अहसान नहीं है यदि आप सच्चे साधु हैं तो हमारे पूज्य हैं वरना पेटभरू हैं। आपसे समाज का हित हो सकता हो कीजिए वरना अपने दुराचरण से वीतराग के नाम को बदनाम न कीजिए। चिंतामणि रत्न रूप जैनधर्म को अपने कुकर्मों से काच का टुकडा न बनाइये।

पूज्य गुरुवर ! क्षमा करें। हम तो आपमें पूर्वाचार्यों का आत्मबल देखना चाहते हैं। श्री हेमचंद्राचार्य की ज्ञान-शक्ति, हीरविजयसूरी की उपदेश शक्ति हरिभद्रसूरि की शास्त्र अनुरक्ति और मुनि सुदरसूरि की लेखन शक्ति फिर से आपमें देखना चाहते हैं। आनंदघनजी व यशोविजयजी एव आत्मारामजी की शक्ति आपमें देखना चाहते हैं। आप समाज के कर्णधार हैं आप जनधर्म व समाज के बीज हैं। बीज

खोखला होगा तो अकुर कस उगगा । आपके ही कारण आज जन समाज छिन्न भिन्न हो रहा है । तिथि चर्चा के कारण समाज का अग प्रत्यग दद अनुभव कर रहा है। सवत्सरी की एकता जाती रही है। आज आपके कुसप के विरुद्ध श्रावको का अनशन करना पड रहा है। अब तो आपसी फूट को मिटावें। अब ना आपको स्वमान का भान होना चाहिए। अब तो प्रभु महावीर व उनके आचार को आघात लगाने वाले साहित्य प्रगट हो रहे हं क्या इस तरफ भी आपका ध्यान गया है ? जन समाज आपसी फूट अधश्रिया रुचि व अध विश्वास के कारण अपनी सस्कृति को खो रहा है यह सब आपको सभालना होगा। आपसे समाज की यह माग है कि आप अपन साधु समाज के झगडा को सुलझाकर नए सघ टित ममाज की रचना कर जन शासन का सितारा ऊचा चमकावें।

हे गुर्वय्य आप अपना असली कत्तव्य बजाइय। हे क्षमाश्रमण ! आप सबसे कटु शब्दा क लिए अनकरण से क्षमा मागता हू, किसी की निंदा नही करना चाहता हू। किसी न किसी तरह से शासन की उन्नति हो, सबका मोक्ष की प्राप्ति हो, धम की जय हा इसी से तीव्र शब्दा का प्रयोग किया है, अत क्षमा कर।

इति त्रयोदशो यतिशिक्षोपदेशाधिकार

कि, "मुझे वीर प्रभु की तरफ पक्षपात नही है, कपिल पर द्वेष नही है, जिसका वचन युक्तिमान होगा उसी को आदर ना है।" गीतार्थ पर निष्ठा रखना और गुणवान का आधिपत्य स्वीकारना, (परतत्रपणा मानना इसमें) दोष नही है, कारण कि सभी जीवो का बुद्धि वभव विशाल नही होती है। सभी की बुद्धि तत्व को पहचानन में समथ नही होती है अत गीतार्थ पर श्रद्धा रखना।

(२) अनाभिग्राहिक—सभी देव वदनीय हैं, कोई निंद नीय नही है, एव सभी गुरु और सभी धम अच्छे ह, ऐसी सामान्यवाणी बोलना, तथा आलस्य करके बैठे रहना और सत्य की परीक्षा न करने की वृत्ति रखना, दूसरा मिथ्यात्व है। इसमें सोना और पीतल हीरा और काच दोना समान गिने जाते ह यही मिथ्याभाव है।

(३) आभिनिवेशिक—धम का यथाथ स्वरूप समझते हुए भी किसी प्रकार के दुराग्रह के कारण विपरीत प्ररूपणा करना। अहकार से नया मत स्थापित करने या चलाने के लिए एव वदना नमस्कार आदि प्राप्त करने के लिए बहुत से दूभवी जीव इस प्रकार के मिथ्यात्व का सेवन करते ह।

(४) साशयिक—शुद्ध देव, गुरु या धम सच्चे हागे कि झूठे ऐसी शका करना। सूक्ष्म अथ का सशय तो साधु को भी होता है परतु वे तो इस अतिम निणय पर रहते ह कि तत्त्व ता केवली गम्य है, अत यह मिथ्यात्व रूप नही ह वरन सच्चे समाधान जानने की इच्छा रूप है। देव आदि

तत्व के लिए शका करना सायिक मिथ्यात्व है उसके स्वरूप के लिए शका करना शका है। उसे जानने की इच्छा और उसके कारणभूत होने वाला प्रश्न आकाक्षा कहलाता है।

(५) अनाभोगिक-विचार शून्य एकेंद्रिय जीव की अथवा विशेष ज्ञान रहित जीवो को यह मिथ्यात्व होता है।

जो जो कर्मबंध होता है उसके उदय समय प्राप्त होने पर उसको भुगतना पडता है। इस बध के हेतु चार है मिथ्यात्व, अविरति कषाय और योग। इसके ५७ भेद है। इन सत्तावन बध हेतुओ को समझने की पूरी आवश्यकता है। इन चार हेतुओ में से मिथ्यात्व के पाच भेद ऊपर कहे जा चुके है अब अन्य तीन हेतुओ को कहते है।

बारह अविरति-पाच इंद्रिय और मन का सवर न करना तथा छ काय जीवो का वध करना यह बारह प्रकार की अविरति कर्मबंध के हेतुभूत है।

कषाय-ससार का लाभ। इसके २५ भेद है। इस पर विषय कषाय द्वार में पर्याप्त लिखा गया है। क्रोध मान, माया लोभ, इनमें से प्रत्येक के चार चार भेद है। उत्कृष्ट पद्रह दिन तक रहे और देव गति प्राप्त करावे वह 'सज्वलन'। उत्कृष्ट चार मास तक रहे और मनुष्य गति प्राप्त करावे वह 'प्रत्याख्यानावरण'। उत्कृष्ट एक वर्ष तक रहे और तिर्यचगति प्राप्त करावे वह अप्रत्याख्यानी और उत्कृष्ट जीवन पर्यंत रहे और नरकगति प्राप्त करावे वह 'अनतानुबधी'। यह अनुक्रम से यथाख्यात चारित्र, सर्व विरति, देश विरति

और समकित गुणो को प्राप्त नही होने देते ह । यह सोलह भेद हुए । इसमें हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा तथा स्त्री वेद, पुरुप वद और नपुसक वेद य नौ नोकपाय मिलान से कुल २५ भद हुए । ये कमबध के प्रवल हेतु ह । योग पद्रह हं —मनयोग के चार भद हं ।

(१) सत्य मनोयोग—सच्चे विचार करना ।

(२) असत्य मनोयोग—झूठे विचार करना ।

(३) मिश्र मनोयोग—जिस विचार म कुछ बात मच्चा और बाकी झूठी हो ।

(४) असत्यामृपा मनायाग—सामान्य विचार, झूठे या बुरे के भेद बिना के विचार । व्यवहारिक विचार जसे वि घडा झरता है, पर्वत जलता है, नदी बहती है ।

वचन योग के चार भेद हं—सत्य वचन योग, असत्य वचन योग, मिश्र वचन योग और असत्यामृपा वचन योग । काय योग के ७ भेद हं —

(१) तजस कामण काय—जब जीव एक गति स दूसरी गति को जाता है तब उसक अनादिकाल से साथ रहने वाल भव मूल के नाम स प्रसिद्ध दोनो शरीर (तजस और कामण) साथ रहत हं । तजस के कारण वह भावी भव में आहार लेकर उसे पचाकर शरीर रूप से बना सकता है और कार्मण से नयी नयी अवस्थाए नए कम पुदगल ग्रहण कर सकता है ।

(२) औदारिक मिश्र—पिछले भव से जीव अपने साथ तैजस कार्मण लाता है और वह औदारिक शरीर को यद्यपि शुरुआत की है तथापि निष्पत्ति नहीं हुई है तो वह औदारिक मिश्र कहलाता है।

(३) औदारिक—जिस शरीर में पुद्गल स्थूल एवं प्राय अस्थि, मास रुधिर और चरबीमय होते हैं वह औदारिक शरीर है।

(४) वैक्रियमिश्र—दृश्य होकर अदृश्य होना, भूचर होकर खेचर होना, बड़ा होकर छोटा होना ऐसी अनेक तरह की क्रियाए करने वाला सात धातुओं रहित शरीर ही वैक्रिय शरीर है। उसकी शुरुआत होकर भी समाप्ति न हुई हो वहा तक वैक्रिय मिश्र है।

(५) वैक्रिय—ऊपर कहा हुवा शरीर जब पूर्ण हो जाता है तब वैक्रिय कहलाता है।

(६) आहारकमिश्र—चौदह पूर्व को जानने वाले महापुरुष, किसी सूक्ष्म शका को निवारण करने के लिए केवली महाराज के पास भेजने के लिए जो शरीर रचते हैं उसकी समाप्ति पहले की अवस्था (वह शरीर केवल ज्योति स्वरूप होता है)।

(७) आहारक—ऊपर कहे हुए शरीर की सपूर्ण अवस्था।

इन ऊपर बताए हुए सात प्रकार के शरीरों में से जीव का जिस सबधी प्रयत्न हो उस उस नाम का योग समझना जैसे हम अभी औदारिक और तैजस कार्मण के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। तैजस और कार्मण दोनो सदा साथ रहने वाले

ह अत शरीर के रूप में दानो को भिन्न भिन्न गिनना और योग के रूप म एकत्रित कर एक ही गिना है। एक के साथ दूसरा रहता ही है।

इन सत्तावन बध हतुओ का सवर किया हो तो कर्मबध की प्रणाली वध होती और पहले के वध हुए कर्मों के क्षय हो जाने पर जीव स्वतत्र अनवधि सुख प्राप्त करता है। इस अधिकार म योग निरोध इद्रिय दमन पर विशप लिखा जावेगा।

मनोनिग्रह—तदुलमत्स्य

मन सवृणु हे विद्वन्नसवृतमना यत ।
याति तदुलमत्स्यो द्राक्, सप्तमीं नरकावनीम् ॥ २ ॥

अथ—ह विद्वान! मन का सवर कर कारण कि तदुलमत्स्य मन का सवर नही करने से तुरत ही सातवें नरक म जाता है ॥ २ ॥ अनुष्टुप

मन को चाहे जहां भटकने देने से बहुत कर्मबध होते ह। इसको स्वछद छोडने मे यह अनेक तरह के विचार करता रहता है और सामायिक जैसी क्रिया करते हुए और उसमें ध्यान करते हुए भी वह कही का कही पहुच जाता है परिणामत जीव को अनेक आपत्तियो में डालता है और दुर्गति की तरफ खीचता है। मगरमच्छ की पलको में रहने वाली चावल जितनी सी छोटी मच्छी मगरमच्छ के मुह में से पानी के साथ निकल जाने वाली छोटी छोटी मछलिया के लिए सोचती है, "कि यदि मगरमच्छ की जगह म होती तो

एक भी मछली को दाता के छ्य में से निकलने न देता सबको हड़प कर जाती'। सोचने की बात है कि इसका शरीर चावल जितना है अतः भोजन कितना थोड़ा चाहिए परन्तु लालसा व वृत्ति कितनी ! इसीके परिणाम में वह मरते ही सातवीं नरक में ३३ सागरोपम का आयुष्य लेकर जाती है। उसका जन्म पलका में होता है, यह गर्भज जीव होने से मन वाली होती है व इसका अन्तर्मुहूर्त का आयुष्य होता है। इतने कम काल जीवित रहकर दुर्भावना से वह कितना बड़ा नारकी का आयुष्य बांध लेती है और मन का संवर न करने से कितना भयंकर परिणाम होता है। इसी तरह से जो मनुष्य एक गन्ने के लिए पूरा खेत जलाते हैं या थोड़े से दोष के लिए गांव को जलाने की भावना रखते हैं या दुर्भावना द्वारा किसी के लिए घात तक सोचते हैं उनकी भी यही दशा होती है।

मन का वेग—प्रसन्नचंद्र का दृष्टांत

प्रसन्नचंद्रराजर्षेर्मन प्रसरसंवरौ ।
नरकस्य शिवस्यापि, हेतुभूतौ क्षणादपि ॥ ३ ॥

अर्थ—क्षण भर में प्रसन्नचंद्र राजर्षि को मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति अनुक्रम से नरक और मोक्ष का कारण हुई ॥ ३ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—प्रसन्नचंद्र नामक राजा वैराग्यवासित होकर एक स्थान में ध्यानारूढ खड़े थे पास में होकर श्रेणिक राजा

की सेना उनके पुत्र के द्रुम संबधी युद्ध की बात करती हुई निकली जिसे सुनकर उनका मन विचलित हो गया और ध्यान मुद्रा में खड़े खड़े वह मन से पुत्र की रक्षा के लिए शत्रुओं से युद्ध करने लगे। इधर श्रेणिक राजा महावीर प्रभु के पास पहुंचकर प्रसन्नचंद्र के बारे में पूछते हैं तो प्रभु कहते हैं कि यदि वह तपस्वी अभी काल करे तो सातवीं नरक में जाय। थोड़ी देर बाद राजा के फिर पूछने पर प्रभु ने कहा कि अनुत्तर विमान में देव हो, इतने में देव दुदुभी बजी और राजा ने प्रभु से उसका कारण पूछा तो प्रभु ने कहा कि प्रसन्नचंद्र राजर्षि को केवल ज्ञान हो गया है। राजा श्रेणिक को बहुत आश्चर्य हुआ तब वीर प्रभु ने कहा कि उस तपस्वी का मन जब वैर वृत्ति में रहा था तब नरकगामी था पश्चात पश्चाताप करता हुवा स्थिति स्थापक हुवा और शुक्ल ध्यान ध्याने से उसे तुरंत केवल ज्ञान हुवा। इस तरह मन की प्रवृत्ति नरक का और मन की निवृत्ति मोक्ष का कारण बनी।

मन की अप्रवृत्ति—स्थिरता

मनोऽप्रवृत्तिमात्रेण, ध्यानं नैकेंद्रियादिषु।
धर्म्यशुक्लमनःस्थैर्यभाजस्तु ध्यायिनः स्तुमः ॥ ४ ॥

अर्थ—मन की प्रवृत्ति न करने मात्र से ही ध्यान नहीं होता है, जैसे कि एकेन्द्रिय आदि में (उनके मन न होने से मन की प्रवृत्ति नहीं होती)। जो ध्यान करने वाले प्राणी धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के कारण मन की स्थिरता के भाजन होते हैं उनकी हम स्तुति करते हैं ॥४॥ अनुष्टुप

विवेचन—श्री अध्यात्मापनिषद (योगशास्त्र) के पाचव प्रकाश में अनुभवी योगी श्रीमान हेमचन्द्रसूरिजी न कहा है कि पवनरोध (श्वास को रोकना) आदि कारणा से प्राणायाम का स्वरूप अन्य दशनकारा न जो बताया है वह बहुत उपयोगी नही है। वह तो काल ज्ञान और आरोग्य के लिए जानने योग्य है किरण कि इसमे मन की प्रवृत्ति हो नही होती अत मन की प्रवृत्ति न करना तो मन का नाश करना है। ज्ञानेंद्रिय और कर्मेंद्रिय क तो मन होता हो नहीं है परन्तु इससे उनका लाभ नही होता है। मन का उपयोग में लाने के लिए उसमे स्थिरता प्राप्त करने की आवश्यकता है। मन की प्रवृत्ति के प्रवाह को रोकने में लाभ नही है परन्तु उसे सद् ध्यान म प्रेरित करना, उसी में रमण करना, उसी के संबंध में प्रेरणा द्वारा स्थिरता प्राप्त करना उपयुक्त है "हठ योग" कम लाभदायक है ऐसा जैन धम का मत है। काय योग पर इससे थोडा नियंत्रण होता है परन्तु मन की गति (बधारण) समझकर उसे सद्ध्यान में जोड देना ही सवत्र अनुसरणीय है। मन के रोकने की भी आवश्यकता है परन्तु वह (साधक की) अवस्था पर है। ध्येय चार तरह के है पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत।

पिंडस्थ की पाच धारणा है —पार्थिवी, आग्नेयी, मारुता वारुणी और तत्रम्।

पदस्थ—नवकार आदि।

रूपस्थ—जिनेश्वर देव की मूर्ति।

रूपातीत—शुद्ध स्वरूप, अखण्ड आनंद, चिद्घनानंदरूप, परमात्म भाव प्रकाश।

इस ध्येय में मन का लगा देना, यह ध्यान है और ऐसा करके मन की स्थिरता लाना यह योग का मुख्य अंग है। जैन शास्त्रकार ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि—"रागाइ विउट्टणमह झाणम्" अर्थात रागादि को नष्ट करने में जो समर्थ हो वह ध्यान है। ध्यान चार प्रकार का है उसमें आर्त्त और रौद्र ये दो दुर्ध्यान हैं तथा धर्म और शुक्ल ये शुभ ध्यान हैं, इनका स्वरूप बहुत सूक्ष्म है। इनके चार चार भेद हैं धर्म ध्यान के चार भेदों में से पहला—"आज्ञा विचय ध्यान" है सर्वज्ञ के वचनों में परस्पर विरोध नहीं है ऐसा समझकर उसका चिंतन करना इसकी खूबी समझना यह प्रथम धर्म ध्यान है। दूसरे "अपाय विचय ध्यान" में—राग द्वेष कषाय प्रमाद किस किस तरह के दुःख उत्पन्न करते हैं यह विचारना और पाप कर्मों से पीछे हटना, यह धर्म ध्यान का दूसरा भेद है। तीसरा भेद "विपाक विचय" ध्यान है। कर्म का बंध और उदय विचारना उसका शासन तीर्थकर चक्रवर्ती जैसा पर भी है, उसकी चलती हुई शक्ति और जगत का व्यवहार कर्म विपाक से ही चलता है इस संबंध में विचार करना, धर्म ध्यान का तीसरा भेद है। अंतिम, "संस्थान विचय ध्यान" है। इसमें लोक का स्वरूप विचारना है। चौदह राजलोक, उत्पत्ति स्थिति और नाशवाले जीव, अजीव आदि छः द्रव्य युक्त लोकाकृति का चिंतन करना। इसी प्रकार से शुक्ल ध्यान के भी चार भेद हैं

(प्रथक्त्व वितर्क सविचार एकत्व वितर्क सविचार एकत्व वितर्क अविचार, सूक्ष्मक्रिय और उच्छिन्नक्रिय) इस ध्यान का विषय अधिक सूक्ष्म है। इसका ज्ञान योग शास्त्र से जानें। तात्पर्य यह है कि ऐसे धर्म और शुक्ल ध्यान में मन को लगा कर स्थिरता प्राप्त करने से महालाभ होता है।

चित्त की स्थिरता प्राप्त करने का उपाय यह है कि मन को निरंतर सुध्यान में प्रेरित करना। उक्त ध्यान से प्राणी को इन्द्रियों से अगोचर आत्मसंबद्ध सुख प्राप्त होता है।

मुनिपवित्र मनवाले पवित्र महात्मा

साध्ये निरवद्ये वा यन्मनः सुध्यानयंत्रितम्।
विरतं दुर्विकल्पेभ्यः पारगांस्तान् स्तुवे यतीन् ॥ ५ ॥

अर्थ—साधकता से अथवा निष्फल परिणाम याने प्रयत्नों में भी जिनका मन सुध्यान की तरफ लगा रहता है और जो खराब विकल्पों से दूर रहते हैं ऐसे—संसार से पार पाए हुए यतियों की हम स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—'साध्य' अर्थात् शुभ परिणाम वाला कार्य ऐसे ही हेतु से परिणाम (फल) के लिए बहुत चिन्ता न रखने का शास्त्र में कथन है। 'भवन्ति भूरिभिर्भाग्यैर्धर्मकर्ममनोरथाः। फलन्ति यत्पुनस्ते तु तत्सुवर्णस्य सौरभम्'। अर्थात् धर्म कार्य करने के मनोरथ ही महाभाग्य से होते हैं और यदि वे शुभ फल दें तो सोने में सुगंध जैसा समझना।

मन पर नियन्त्रण न होने से वह अस्तव्यस्त होकर भोका खाता रहता है अत उस पर अकुश रखकर आर्त रौद्र ध्यान को छोडकर धर्म शुक्ल ध्यान ध्याना चाहिए।

वचन अप्रवृत्ति—निरवद्य वचन

वचोऽप्रवृत्तिमात्रेण, मौन के के न बिभ्रति।
निरवद्य वचो येषां, वचोगुप्तास्तु तान् स्तुवे ॥ ६ ॥

अर्थ—वचन की अप्रवृत्ति मात्र से कौन कौन मौन धारण नही करते है? परन्तु हम तो उनकी प्रशसा करते है जो वचन गुप्ति वाले प्राणी निरवद्य वचन बोलते है ॥ ६ ॥

अनुष्टुप

विवेचन—कई कारणो से वचन की प्रवृत्ति होती ही नही है अर्थात बोला ही नही जाता है। एकेंद्रिय वाले प्राणियो (पृथ्वी, जल हवा, अग्नि, वनस्पति के जीव) के तो जीभ होती ही नही है। दो इन्द्रिय से पचेंद्रिय तक के तिर्यंच प्राणी (पशु पक्षी) स्पष्ट नही बोल सकते है। कई मनुष्य भी रोग, क्षोभ, अथवा गूगपन से नही बोल सकते है अत बलात मौन रहते है, परन्तु ऐसे मौन से कुछ भी लाभ नही होता है। बोलने की शक्ति होते हुए भी निरवद्य (निष्पाप) वचन बोलनें में ही खूबी है। वचन गुप्ति धारण की हो, भाषा पर अकुश हो और बोले तब सत्य प्रिय, मित् और पथ्य वचन ही बोले वही निरवद्य वचन कहलाता है, जसे कि अशक्त होने पर साधु होना कोई आश्चर्य नही है। शक्ति होते हुए

बिना कारण न बोलना, गभीरता रखना एव बोलते समय भी विचार करके, प्रमाण सहित और आवश्यकता हो उतना ही बोलना यही वाणी का सयम कहलाता है।

निरवद्य वचन—वसु राजा

निरवद्य वचो ब्रूहि, सावद्यवचनयत ।
प्रयाता नरक घोर, वसुराजा दमोद्गतम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल कारण कि सावद्य वचन बोलने से वसु राजा एक दम घोर नरक मे गए हैं ॥ ७ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—तू निरवद्य (निष्पाप) वचन बोल निरवद्य का अर्थ सत्य, प्रिय और प्रमाणित बोलना होता है, वचन सत्य के साथ ही प्रिय भी होना चाहिए, हितकर होना चाहिए। एव सर्वांश से सत्य होना चाहिए। 'नरो वा कुजरो वा" की तरह से सुनने वाले को भ्रम में डालने वाला नही होना चाहिए इतने से भ्रामक वचन से धमराज युधिष्ठिर भी धर्म से भ्रष्ट हुए कहलाए। सावद्य वचन बोलने से आपा पर अकुश नही रहता है दूसरो पर वजन नही पडता है बात का असर नही होता है एवं मन में क्षोभ रहता है तथा स्वय की कीमत घटती है, लोग वाचाल कहकर वक्ता की बात की परवाह नही करते हैं। सावद्य वचन बोलने से वसु राजा जिसका सिंहासन स्फटिक रत्न से बने होने के कारण जमीन से उचा रहता दिखता था केवल वचनबद्ध होकर अपना

सहपाठी व गुरुपुत्र, पवत के वचाव के लिए अपने दूसर सहपाठी नारद के समक्ष जानते हुए भी "अज" शब्द का अथ शालि (छिलके सहित चावल साल) के वजाय "वकरा' कहता है, इतने मात्र से देव उसको सिंहासन से नीचे डाल देते ह और वह तुरत मरकर नरक में जाता है, अत सत्य बोलना, सपूण सत्य बोलना और सत्य के अतिरिक्त कुछ न बोलना उत्तम है।

दुवचन के भयङ्कर परिणाम

इहामुत्र च वराय, दुर्वाचो नरकाय च।
अग्निदग्धा प्ररोहन्ति, दुर्वाग्दग्धा पुनर्न हि ॥ ८ ॥

अथ—दुष्ट वचन, इस लोक म वर कराते हं और परलोक में नरक देते हं। अग्नि से जले हुए तो पुन अकुरित हो जाते हं परन्तु दुवचन से जले हुए पुन स्नेहाकुरित नहीं होते ॥ ८ ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—दुवचन, कटुभाषण एव मर्मान्तक वचन स इस लोक में पारस्परिक वर बढता है और मरन क बाद नरक की प्राप्ति होती है। प्राय अपने स्वजन (भाई, वहिन, पिता, माता पत्नि व पुत्र आदि) के साथ रहते हुए या सासारिक प्रसग आने पर व्यवहार चलाने के लिए या विवाह आदि प्रसग के अवसर पर सबके एकत्रित होने पर या गृहस्थी के बटवारा पर भाई भाई म या अन्य कारण से

भी एम ही मासिव वचना का प्रयोग कभी कभी हो जाता है अत उस समय कम स कम बोलन की पूरी आवश्यकता है।

तिथकर महाराज और वचन गुप्ति का आदेयना

अत एव जिना दीक्षाकालादाकेवलोद्भवम् ।
अवद्यादिभिया यूयु र्ज्ञानत्रयभृतो पि न ॥ ६ ॥

अथ—इसी कारण स जिन, (तीर्थकर) तीन ज्ञान क धारक होते हुए भी दीक्षा काल स लेकर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक पाप के डर स कुछ भी नहीं बोलते ह ॥ ६ ॥

अनुष्टुप्

विवेचन—सावद्य वचन बोलन का अनिष्ट फल होता है इसी कारण स जिनदेव दव भी छद्मस्थ अवस्था में अर्थात गृहस्थाश्रम छोड़कर साधुपन स्वीकार करके केवल ज्ञान होन क पूर्व की अवस्था तक मौन धारण कर लते हैं। इस समय म उनको अनेक उपसर्ग (कष्ट) आते हं फिर भी अपन बचाव क लिए एक शब्द भी नहीं बोलते आत्मध्यान करते हुए उन्हे कितनी ही सिद्धिया उत्तरोत्तर प्राप्त होती ह लेकिन एक भी सिद्धि का प्रयोग न करते हुए वे एकदम मौन रहते हं, ऐसी अवस्था में भी उनको पाप का डर रहता है। अत जो प्रतिदिन सांसारिक चर्चा करते रहते हं,अनुमान से परिणाम की घोषणा करते रहत ह, किसी के लिए कुछ का कुछ अन्दाज लगाते ह उनका क्या होगा? अत सावद्य वचन का त्याग करना चाहिए एव निरर्थक बोलकर कर्म बंध नहीं करना चाहिए। बडे बड

ज्ञानी भी सिद्धि के लिए मौन धारण करते ह अन हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए।

काय सवर--कछुए का दृष्टांत

कृपया सवृणु स्वांग कूमज्ञातनिदशनात् ।
सवतासवृतांगा यत सुखदु खान्यवाप्नुयु ॥ १० ॥

अथ—तू अपने स्वय पर कृपा करके सवर कर। कछुओ के दृष्टात से शरीर का सवर करने वाले और नही करन वाले कछुए ने क्रमश सुख और दुख पाया है। (इससे शिक्षा ले) ॥ १० ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—मन और वचन की तरह स शरीर को भी वश म रखना आवश्यक है। काया की सावद्य प्रवत्ति अनत ससार बढ़ाने वाली है अत काया की तमाम प्रवृत्तिया शुभ हेतु से ही करनी चाहिए। जब तक आत्मा का नियन्त्रण मन वचन-काया तीनो पर नही होगा तब तक आधि व्याधि उपाधि मिट नही सकेंगी। जब तक पूरे शरीर की प्रवृत्तिया आत्मसाक्षी से न होगी तब तक कम बध की प्रणाली रुक नही सकेंगी। जो शरीर से अनक तरह की हलचलें अनियन्त्रित रीति से करत रहते ह उनको पूरी हानि उठानी पडती है। एक जगल में दो कछुओ पर किसी हिंसक पशु की नजर पडी और वह उन पर झपटा। उन दोना ने अपने अगो का सकुचित कर लिया और वही स्थिर हो गए। कुछ समय के पश्चात् एक कछुए ने घबरा कर जस ही अपने पैर व गदन

बाहर निकाले कि तत्काल उस पशु ने उसे मार दिया, परन्तु जो कछुआ चुपचाप पड़ा रहा उसको कोई दुःख नहीं हुआ। शरीर से संवर का लाभ स्वयं को ही मिलता है। अतः हे प्राणी ! तू स्वयं अपने पर दया करके शरीर का संवर कर। शृगालादि या अमर्यादित बकरे की तरह भटकता हुआ इधर उधर घूमकर कर्मों की मार न खा।

काया की अप्रवृत्ति—काया का शुभ व्यापार

कायस्तम्भान्न के के स्युस्तरुस्तम्भादयो यताः ।
शिवहेतुक्रियो येषां कायस्तांस्तु स्तुवे यतीन् ॥ ११ ॥

अर्थ—मात्र काया के संवर से वृक्ष, स्तंभ आदि कौन कौन संयमी नहीं है ? परन्तु जिनका शरीर मोक्ष पाने के लिए क्रिया करने में उद्यत रहता है, उन यतियों की हम स्तुति करते हैं ॥ ११ ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—शरीर को जबरदस्ती से एक स्थान पर बिठाए रखना या उससे कोई काम न लेना संवर नहीं कहलाता है ऐसे तो वृक्ष और थंभ भी एक ही स्थान पर टिके रहते हैं, परन्तु जो शरीर से स्वपर के हित साधन के काम करते हैं मोक्ष साधन की शुभ क्रियाओं का अनुष्ठान करते हैं वे ही संवर करते हैं अतः वे स्तुति के पात्र हैं। इस शरीर से अनेक तरह के काम—धनोपार्जन, स्त्रीरंजन, परभंजन, परपीड़न होते हैं परंतु सार्थक तो वही हैं जो आत्मा को वास्तविक शांति देने वाले हैं, अतः शरीर पर शुभ नियंत्रण करना चाहिए।

श्रोत्रेंद्रिय सवर

श्रुतिसयममात्रेण, शब्दान कान के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनि ॥ १२ ॥

अर्थ—कान के सयम मात्र से कौन शब्दो को नही त्यागते हं, परन्तु इष्ट और अनिष्ट शब्दो पर राग द्वेष छोड देने वाले को ही मुनि कहते ह ॥ १२ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—एकेंद्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवो के कान नही होते हं एव बहर मनुष्य भी सुन नही सकते हं तथा कानो में ऊगली डालने या रूई लगाने से भी सुना नही जा सकता है परन्तु यह श्रोत्रेन्द्रिय का सयम नही कहलाता है। धन्य तो वह है जो मधुर राग रागिनी या पियानो आदि के शब्दो में राग नही करता है एव काक गदर्भ आदि के कर्कश शब्दो पर द्वेष नही करता है, दोनो में समान भाव रखता है। जो अपनी प्रशसा के शब्दो पर मुग्ध नही होता है एव निंदा के शब्दो पर द्वेष नही करता है, वही सच्चा मुनि है। इन्द्रिय पराजय शतक में लिखा है, जीवन को अशाश्वत जानकर, मोक्षमार्ग के सुख को शाश्वत जानकर और आयुष्य को परिमित जानकर इन्द्रिय भोग से विषय बचना चाहिए। मृग और सर्प श्रोत्रेंद्रिय के असयम से फसते हं।

चक्षुरिन्द्रिय सवर

चक्षु सयममात्रात्के, रूपालोकांस्त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन्मुनि ॥ १३ ॥

अथ—मात्र चक्षु के सयम से कौन रूप अवलोकन नही त्यागत ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट रूपो म जो रागद्वेष छोड देत ह वही सच्च मुनि ह ॥ १३ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—तइन्द्रिय तक के सब जीव नेत्र रहित होत ह एव पचन्द्रिय मनुष्य और तियच में भी कितन हो अध होते ह परन्तु इस प्रकार के सयम से लाभ क्या ? अथवा आखें मीच कर बठ रहल स भी लाभ क्या ? परन्तु वास्त विक सयम तो वह है जब कि सुदर स्त्री सामने होते हुए भी उसके अगोपाग न देखें तथा रागी कुष्ट व विकृत शरीर को देखते हुए भी घृणा न कर। कभी कभी एसा भी होता है कि गुरुजन या बडो क विनय से हम इच्छित वस्तु नही देख पाते ह परन्तु मन तो वही जाता है एसा चक्षु सयम भी निरथक है। सच्चा चक्षु सवर तो यह है जसा कि इन्द्रिय पराजय शतक में भी लिखा है "उन्ही पुरुषो को धन्य है, उन्ही को हम नमस्कार करते ह और उन्ही सयमी के हम दास हैं जिनके हृदय म विकारी नत्र से देखने वाली स्त्री नही खटकती ह। इसी असयम से पतगिए दीपक में आकर गिरते ह व मरत ह।

घ्राणेन्द्रिय सवर

घ्राणसयममात्रेण, गधान कान के त्यजन्ति न।
इष्टानिष्टेषु चतेषु रागद्वेषौ त्यजन्मुनि ॥ १४ ॥

अथ—नासिका के सयम मात्र से कौन गध

श्रोत्रेन्द्रिय संवर

श्रुतिसंयममात्रेण, शब्दान कान के त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन् मुनिः ॥ १२ ॥

अर्थ—कान के संयम मात्र से कौन शब्दों को नहीं त्यागते हैं, परन्तु इष्ट और अनिष्ट शब्दों पर राग द्वेष छोड़ देने वाले को ही मुनि कहते हैं ॥ १२ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—एकेंद्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीवों के कान नहीं होते हैं एवं बहरे मनुष्य भी सुन नहीं सकते हैं तथा कानों में ऊंगली डालने या रूई लगाने से भी सुना नहीं जा सकता है परन्तु यह श्रोत्रेंद्रिय का संयम नहीं कहलाता है। धन्य तो वह है जो मधुर राग रागिनी या पियानो आदि के शब्दों में राग नहीं करता है एवं काक गदर्भ आदि के कर्कश शब्दों पर द्वेष नहीं करता है दोनों में समान भाव रखता है। जो अपनी प्रशंसा के शब्दों पर मुग्ध नहीं होता है एवं निंदा के शब्दों पर द्वेष नहीं करता है, वही सच्चा मुनि है। इन्द्रिय पराजय शतक में लिखा है जीवन को अशाश्वत जानकर, मोक्षमार्ग के सुख को शाश्वत जानकर और आयुष्य को परिमित जानकर इन्द्रिय भोग से विशेष बचना चाहिए। मृग और सर्प श्रोत्रेंद्रिय के असंयम से फंसते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय संवर

चक्षुः संयममात्रात्के, रूपालोकात्त्यजन्ति न ।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु, रागद्वेषौ त्यजन् मुनिः ॥ १३ ॥

अथ—मात्र च क्षु से संयम से कौन रूप यवनोवन नहीं त्यागते ? परन्तु इष्ट और अनिष्ट रूपों में जो रागद्वेष छोड़ता है वही गच्छ मुनि है ॥ १३ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—नेत्रेन्द्रिय नष्ट होने पर सब जाव नेत्र रहित होते हैं एवं पंचेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यच में भी कितने ही अन्ध होते हैं परन्तु इस प्रकार के संयम से लाभ क्या ? अथवा आँखें मात्र कर बैठ रहा तो भी लाभ क्या ? परन्तु वास्तविक संयम तो यह है कि सुंदर स्त्री गमन होते हुए भी उसके अंगोपांग न देखें, तथा रोगी कुष्ट व विकृत शरीर को देखते हुए भी घृणा न करें। कभी कभी ऐसा भी होता है कि गुरुजन या बड़ों के विनय से हम इच्छित वस्तु नहीं देख पाते हैं परन्तु मन तो वहां जाता है ऐसा चक्षु संयम भी निरर्थक है। सच्चा चक्षु संवर तो यह है जैसा कि इन्द्रिय पराजय शतक में भी लिखा है, "उन्हीं पुरुषों को धन्य है, उन्हीं को हम नमस्कार करते हैं और उन्हीं संयमी के हम दास हैं जिनके हृदय में विकारों नेत्र से देखने वाली स्त्री नहीं खटकती है। इसी असंयम से पतंगिए दीपक में आकर गिरते हैं व मरते हैं।

घ्राणेन्द्रिय संवर

घाणसंयममात्रेण, गन्धान् कान् के त्यजन्ति न।
इष्टानिष्टेषु चैतेषु रागद्वेषौ त्यजन्मुनि ॥ १४ ॥

अथ—नासिका के संयम मात्र से कौन गंध को नहीं

त्यागता है ? परन्तु जो इष्ट और अनिष्ट गंधों के प्रति राग द्वेष छोड देते हैं वही मुनि है ॥ १२ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—जिन जीवों के घ्राणेंद्रिय नहीं है वे तो मजबूरन ही घ्राणेंद्रियसयमी बन रहे हैं परन्तु जो मनुष्य अपनी इच्छा पूर्वक सुगंधयुक्त पदार्थों का सेवन नहीं करते हैं एवं उन सुगंधी पदार्थों की तरफ उनका राग नहीं है एवं दुर्गंधयुक्त पदार्थों की तरफ द्वेष नहीं है वे ही मुनि हैं। घ्राणेंद्रिय को वश में न रखकर भौंरा कमल में कैद हो जाता है और हाथी के मुख में पहुंच जाता है। सांसारिक पदार्थों से जो अलिप्त है वही धन्य है।

रसेन्द्रिय संवर

जिह्वासयम मात्रेण, रसान् कान् के त्यजन्ति न।
मनसा त्यज तानिष्टान्, यदीच्छसि तपः फलम् ॥१५॥

अर्थ—जीभ के संयम मात्र से कौन रसों को छोड़ते नहीं हैं ? यदि तू तप के फल पाने की इच्छा रखता हो तो सुंदर मधुर नमन वाले रसों को छोड़ दे ॥ १५ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—संसार का मोह प्रदर्शन कराने में सहायक यदि कोई है तो जीभ है। बड़े बड़े महमानों के लिए खाने की बड़ी तयारी करनी पड़ती है जिसमें ही उनके प्रति स्नेह प्रकट किया जाता है। हम कहीं महमान बन कर जावें और स्वादिष्ट भोजन या मिष्टान्न न बने हों तो कहते हैं उन्होंने

हमार लिए कुछ भी नहीं किया उनको मोह ही नही है। इस प्रकार स हम रसना इन्द्रिय को प्रसन्न रखन में तरह तरह के पाक मवे मिठाई चटनी आदि बनाते ह और हमारा अधिक स अधिक समय व धन इसी काम म खच होता है साथ ही आरभ सारभ (जीव हिंसा) भी होता है। माठ क कारण अनक छोट छोटे जीव जन्तु आकृष्ट होकर मर जाते ह और हमारा नरक का माग सरल करते हं। रसना के वशीभूत होकर हम बपरवाही से जतुओ का निमन्त्रित कर उनका घात करते ह और अपनी कुगति निश्चित करत हं।

जीभ वश में न रहन क कारण अनक लडाई झगड हात हं, मार्मिक शब्दो का प्रहार भी इसी स होता है एव अशाति की जड भी यही है। मछली पकडन वाल काट के मुख पर आट की गोलिया लगा दते हं। भोली मछली आटा खान क साथ ही उस काट में लटककर अपना प्राण खोती है। शास्त्रकार कहत ह कि –इन्द्रियो में रसेन्द्रिय, कर्मों म मोहनीय, व्रतो म ब्रह्मचय और गुप्ति में मनगुप्ति ये चारो सबस अधिक कठिनता म जीत जा सकते ह।

श्लोक—अक्खाण रमणी कम्माण मोहणी तहचेव बभवयम।
गुत्तीण यमणगुत्ती, चउरो दुक्खेहिं जिप्पति।

स्पर्शेन्द्रिय सयम

त्वच सयममात्रेण, स्पर्शान ज्ञान के त्यजन्ति न।
मनसा त्यज तानिष्ठान यदीच्छसि तप फलम् ॥ १६ ॥

अथ–चमडी के स्पश न करने मात्र से कौन स्पश का

त्याग नही करता है ? परन्तु यदि तुझे तप का फल पाना हो तो इष्ट स्पर्शों का मन से त्याग कर ॥ १६ ॥ अनुष्टुप्

विवेचन—ससार में भटकने वाली यही इन्द्रिय सबसे अधिक कष्टकर है। सुन्दर स्त्री या बालक के गाल का स्पर्श करने पर भी मन मे राग न उत्पन्न हो और चमडी पर कोढ़ आदि होने पर अथवा मच्छर या बिच्छू के डक लगने पर या सर्दी गर्मी के अनिष्ट स्पर्श मे मन मे द्वेष भाव न उत्पन्न हो यही स्पर्शेन्द्रिय का सयम है, बाकी सब तो निरर्थक बाते है। हाथी को पकडने वाले पहले खड्ढा खोद कर उस पर घास बिछा देते हैं और उस घास पर कागज की हथिनी खडी कर देते हैं, वह काम लोलुपी हाथी स्पर्शेन्द्रिय की लिप्सा का मारा वहा जाता है उस खड्डे में गिरकर बधन को पाता है। कामांधो नैव पश्यति। परस्त्रीगामी व वैश्यागामी लपट पुरुषो की दुर्दशा के कई दृष्टात शास्त्रो में वर्णित है।

गुह्येन्द्रिय—सयम

बस्तिसयममात्रेण, ब्रह्म के के न बिभ्रते।
मन सयमतो धेहि, धीर चेत्तत्फलाप्स्यसि ॥ १७ ॥

अर्थ—मूत्राशय के सयम मात्र से कौन कौन सयम धारण नही करते है ? हे धीर ! यदि तुझे ब्रह्मचर्य के फल की इच्छा हो तो मन का सयम करके ब्रह्मचर्य का धारण कर ॥ १७ ॥ अनुष्टप

विवेचन—स्पर्शेन्द्रिय सयम के अनुसधान में गुह्येन्द्रिय

के संयम को एक अलग श्लोक में वर्णित किया है यह इन्द्रिय अलग नहीं है, स्पर्शेन्द्रिय ही है परन्तु इसका संयम सबसे कठिन होने से संयम अधिक महत्व का भी है। शास्त्रकारों ने कहा है कि सुगंध लेते हुए सुस्वर सुनते हुए रूप देखते हुए और उत्तम पदार्थ खाते हुए यदि आत्मस्वरूप विचारा जाय और पौद्गलिक भाव का त्याग किया जाय तो कदाचित् केवल ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है परन्तु स्त्री संयोग या पुरुष संयोग करते हुए तो आत्मा को केवल ज्ञान हो ही नहीं सकता है। एकान्त दुर्ध्यान मान धातु की एकाग्रता, महाक्लिष्ट अध्यवसाय होने पर ही स्त्री संयोग होता है। गुह्येन्द्रिय का जबरदस्ती संयम—ब्रह्मचर्य पालन नहीं कहलाता है या तो एकेंद्रिय से असंज्ञि पंचेंद्रिय तक का जीव नपुंसक वेद में ही रहता है। कई पुरुष भी इच्छा से नपुंसक बनते हैं। नारकी के जीव तथा मनुष्यों द्वारा नपुंसक किए गए घोड़े या बैल भी तो जबरदस्ती से संयमी रहते हैं इसका कोई महत्व नहीं है। महत्त्व व बलिहारी तो इसकी है कि एकांत हो, सुंदर स्त्री सम्मुख हो वह स्वयं प्रार्थना भी करती हो, सब संयोग अनुकूल हों धन व वैभव की कमी न हो उस वक्त संयम पाला जाय!! राजिमति, सुदर्शन सेठ व स्थूलिभद्र को इसीलिए धन्य माना गया है। इसका संयम न रहने से रावण ने पूरी लंका का नाश कराया, इलाची कुमार ने घरबार, माता पिता का त्याग कर नट का कार्य स्वीकार किया, धवल सेठ सातवीं मंजिल से गिरता हुवा अपनी ही कटारी से मारा गया। हाय! शूरवीर मानव रण में लाखों योद्धाओं को

जीत सकता है लेकिन एक दुबली पतली नारी द्वारा पराजित होता है। इसीलिए सब तपों में ब्रह्मचर्य को सर्वश्रेष्ठ बताया है। इसका पालन तभी हो सकता है जब कि नौ वाडो से इसकी रक्षा हो जिनका उल्लेख यति शिक्षा के पाठ में चरण-सित्तरी में किया है। इस विषय के लिए "इन्द्रियपराजय शतक श्रृंगार वैराग्य तरंगिणी, शीलोपदेशमाला आदि पुस्तकें पढ़े।

समुदाय से पांचों इन्द्रियों का संवरोपदेश

विषयेंद्रियसंयोगाभावात्के न संयता ।
रागद्वेषमनोयोगाभावाद्ये तु स्तवीमि तान् ॥ १८ ॥

अर्थ—विषय और इन्द्रियों के संयोग न होने से कौन संयम नहीं पालता है ? परन्तु राग द्वेष का योग जो मन के साथ नहीं होने देते हैं उन्हीं की मैं स्तुति करता हूं ॥ १८ ॥

अनुष्टुप

विवेचन—मधुर स्वर, सुन्दर रूप, सुगंधी पुष्प, मीठा भोजन और सुकोमल स्त्री ये पांच विषय हैं यदि ये इन्द्रियों को न मिलें तब तक तो जबरन संयम है ही, जैसे 'वृद्धानारी पतिव्रता", परन्तु जो इन सब विषयों के सुलभ होने पर भी इन्द्रियों को उनमें जाने से खींचते हैं, वही स्तुति के पात्र हैं। अच्छे लगने वाले विषयों में राग और बुरे लगने वाले विषयों में द्वेष जो नहीं करते हैं वही संयमी हैं। कोई वस्तु अच्छी है या बुरी इसका आधार मन पर है, मन जिस वस्तु को जैसी मान लेता है वह वैसी ही प्रतीत होती है। संसार के विषयों

में भटकती हुई इद्रिया को मन के द्वारा वश में करके जो इन्हें आत्मिक शुद्ध प्रवाह में लगा देते हैं वही सच्चे महात्मा हैं और वे ही स्तुत्य हैं।

कषाय सवर—करट और उत्करट

कषायान सवणु प्राज्ञ, नरक यदसवरात ।
महातपस्विनोप्यापु, करटोत्करटादय ॥ १६ ॥

अर्थ—हे बुद्धिमान ! तू कषाय का सवर कर। उसका सवर न करने से करट और उत्करट जैसे महातपस्वी भी नरक को पाए हैं ॥ १६ ॥ अनुष्टुप

विवेचन—हे विज्ञ ! तू क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारो कषायो का सवर कर, ये कषाय ही ससार को बढाने वाले हैं एव ससार में बार बार जन्म लेते हुए भी तुझे कही भी सुख से नही रहने देते स्वय तुझे ही पद पद पर दुख देते हैं। जिनके मन में अधिक कषाय हैं वे उतने ही भयकर सर्पों के करडिये को साथ लिए फिरते हैं। जैसे पूगी बजी नही कि साप फन फलाकर बाहर निकला नही, वैसे ही प्रति दिन जब भी जरा सा सयोग क्रोध मान माया लोभ का आया नहीं कि अदर रहे हुए ये साप बाहर निकले नही। अत हे बुद्धिमान इन चारों सापो को दूर जगल में छोड आ और मन में जरा भी इनकी स्मृति न रहने दे। कुणाला नगरी में तपस्या करते हुए करट और उत्करट मासियात भाई किन के नालदे म ध्यान कर

नजदीक आने पर शासनदेव ने उनके वह जाने व भय से कुणाला में बारिश न होने दी, बाकी सब जगह बारिश हुई। गांव के लोगों ने वर्षा के अभाव का कारण इन दोनों को जानकर इन्हें खूब पीटा जिससे क्रोधित होकर उन्होंने कुणाला में १५ दिन तक निरंतर बारिश होने का श्राप दिया फलत पूरा नगर बह गया और वे साधु मरकर ३२ सागरोपम तक सातवां नरक में रहे।

क्रियावत को शुभ योग में प्रवृत्ति होनी चाहिए जिसका कारण

यस्यास्ति किंचिन्नतपोयमादि, ब्रूयात्स यत्तत्सुदतां परान् वा।
यस्यास्ति कष्टाप्तमिदं तु किं न, तद्भ्रंशभीः संवृणुते स योगान्॥२०॥

अर्थ—जिसके तपस्या आदि कुछ भी नहीं है वह तो चाहे जैसा बोले या दूसरों को कष्ट दे, परन्तु जिन्होंने महान कष्ट से तपस्यादि प्राप्त की है वे उसका नाश हो जाने के भय से योग का संवर क्यों नहीं करते हैं ? इन्द्रवज्रा

विवेचन—जैसे अति साधारण मनुष्य और प्रतिष्ठित नागरिक के बर्ताव, बोल और व्यवहार में अन्तर है अर्थात सदा निरर्थक बोलने वाले, किसी को कुछ भी कष्ट देने वाले साधारण मनुष्य को अपनी बात के निरर्थक जाने में या अपने कथन का कुछ भी असर न होने या अपमान के लिए खेद नहीं होता है परन्तु एक प्रतिष्ठित इज्जतदार व उच्चपदस्थ नागरिक को अपनी प्रतिष्ठा का डर रहता है, अपने वचन के निरर्थक होने का डर रहता है जब कि पहले को कोई डर नहीं है, दूसरा अपनी प्रतिष्ठा के भय से

सोचकर बानता है ममभकर वरतता है । ठीक उसी तरह से अनतकाल से मिथ्यात्व के प्रवाह में खींचा जाता हुआ यह प्राणी तो थोड़े जस वास्ते मन, वचन, काया के अशुभ योग से किसी को दुःख दे पीड़ा दे, उसके पास तो कुछ खोने जैसा है ही नहीं परन्तु जिसके पास तपस्यारूपी धन है, महान गुणरूपी रत्न की मंजूषा है वह उसके नाश के भय से योग (मन वचन काया) का संयम क्या नहीं करता है ? यह प्राणी जन्म से दुःखी है उसे अपने दुःख का सताप नहीं है भव में भटकता है ठोकर खाता है उसके लिए उसे पश्चात्ताप नहीं है न उसे सत्कर्म करने का अभिलाषा है न सद्गति पाने की उत्कंठा है परंतु जो ज्ञानी है जिसने सन्मार्ग का अनुसरण किया है तप संपादन किया है तो फिर उन सबके नाश के भय से यह योग संवर क्या नहीं करता है ? त्रियोग शुभमार्ग में अवश्य प्रवृत्ति करे।

मन योग के संवर की मुख्यता

भवरसमप्यवि संवरेषु, परं निदानं शिवसंपदां यः ।
त्यजन् कषायादिजदुर्विकल्पान्, कुर्यान्मनः संवरमिद्धधीस्तम् ।२१।

अर्थ—मोक्ष लक्ष्मी प्राप्त करने के बड़े से बड़े कारण रूप सब प्रकार के संवर में भी मन का संवर है, ऐसा जानकर समृद्धबुद्धि जीव कषाय से उत्पन्न हुए दुर्विकल्पों को छोड़कर मन का संवर करे ॥ २१ ॥ उपजाति

विवेचन—सच्चा सुख तो मोक्ष में ही है इसका जिसको

अनुभव हो गया है वसा समृद्धबुद्धि जीव कपाय से उत्पन्न होने वाले दुर्विकल्पो का त्याग करे, यह तभी हो सकता है जब कि मन का पूरा सवर हो जाय। वास्तव में सुख और दुःख मन के साथ हं। मन जिसम सुख मान लेता है वह सुख बन जाता है और मन जिसको दु ख मान लेता है वह दु ख बन जाता है अत मन को सुधारना नितात आवश्यक है इसके सुधारे बिना कम का निजरा असभव है अत मन का सयम करना परम आवश्यक है।

नि सगता और सवर उपसहार

तदेवमात्मा कृतसवर स्यात्, निसगताभाक सतत सुखेन।
नि सगभावादय सवरस्तद्द्वय शिवार्थी युगपद्भजेत ॥२२॥

अर्थ—जिसने उक्त प्रकार से सवर किया है ऐसा आत्मा बिना प्रयास से नि सगता का भाजन होता है, एव नि सगता भाव से ही सवर होता है अत मोक्ष का अभिलाषी जीव इन दोनो को साथ ही भजे ॥ २२ ॥ उपजाति

विवेचन—जिसने मिथ्यात्व का त्याग किया हो अविरति दूर की हो, कपाय का जीत लिए हो और योग का रुधन (नियत्रण) किया हो उसका स्वाभाविक्तन ममत्व घटता जाता है। ममत्व घटा नही कि सासारिक वासना का दृढ बधन ढीला होना शुरू हुवा नही। वासना घटने से विषय के साथ एकाकार वृत्ति होती रुक जाती है। अत में वासना भी नष्ट होती है और ममता भी नष्ट होती है य दोनो गइ कि मोह गया,

मोह गया तो भव भ्रमण गया और भव भ्रमण गया कि भ्र-याबाध मुक्ति सुख मिला समझा।

जस सर्दी से वचने वाला वाला प्राणी सवप्रथम बाहर स भ्रपने मकान म प्रवेश करता है पश्चात उसके दरवाज भ्रोर खिडकिया बद करता है पश्चात कमरे के भ्रदर की ठण्डी हवा को गरम करने का उपाय करता है वसे ही मोक्षार्थी प्राणी सर्वप्रथम भ्रपने घर म—भ्रात्मदशा—म प्रवेश करे पश्चात कर्मों क भ्रान के मार्गों मिथ्यात्व भ्रविरति, कपाय भ्रोर योग को रोके तत्पश्चात, पूव के कर्मों का तप की गरमी से तपावे। इस तरह से सवर भ्रोर निजरा करने से वह भ्रपने सतत सुखदायी, महाकाल स्थिर रहने वाले सर्वोत्तम महल—मोक्ष म जा पहुचेगा फिर उसे पुनजन्म रूप सर्दी नही लगगी।

इस जन्म में धन, स्त्री पुत्र, मकान भ्रादि पाना दुलभ नही है दुलभ तो है भ्रपनी भ्रात्मदशा का भान होना। वसा होने पर भी भ्रति कठिन है मन का नियत्रण। हठ योग से मन का रुकना वसा ही फलदायी है जैसा कि भ्रति शक्तिमान चचल घोड का बांध देना इससे श्रेष्ठ तो यह है कि इस घोडे की शक्ति का सदुपयोग किया जाय। मन को रोकने की भ्रपेक्षा उसकी भ्रशुभ प्रवत्ति का रोककर उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना श्रेष्ठ है। मन शुभ ध्यान में लगा नही कि ज्ञानोदय हुवा नही फिर मोक्ष दूर नही है।

इति चतुर्दशो मिथ्यात्वादिनिरोधधिकार

शीलांग-योग उपसर्ग-समिति गुप्ति

विशुद्धशीलागसहस्रधारी, भवानिश निर्मितयोगसिद्धि ।
सहोपसर्गोंस्तनुनिमम सन्, भजस्व गुप्ती समितीश्च सम्यक ।।३।।

अर्थ—तू (अठारह) हजार शीलांग का धारण करने वाला बन, योग सिद्धि निष्पादित हो, शरीर की ममता का त्यागकर उपसर्गों का सहन कर एवं समिति तथा गुप्ति का अच्छी तरह भज ।। ३ ।। इन्द्रवज्रा

विवेचन—तू चारित्र के अंग—शीलांग का धारण कर, मन वचन और काया के योग को वश में कर अर्थात योग की सिद्धि प्राप्त कर, शरीर की ममता छोडकर परिषह सह, शरीर के लिए विचार कर कि यह क्या है ? किसका है ? इसका स्वभाव क्या है ? आदि। जीवन को उत्तम बनाने के लिए अष्ट प्रवचन माता रूप पाच समिति और तीन गुप्ति को धारण कर।

स्वाध्याय-आगमार्थ भिक्षा आदि

स्वाध्याययोगेषु दधस्व यत्न, माध्यस्थ्यवृत्त्यानुसरागमर्थान ।
अगारवो भैक्षमटाविषादो, हेतौ विशुद्धे वशितेंद्रियौघ ।। ४ ।।

अर्थ—सज्झाय ध्यान में यत्न कर, मध्यस्थ बुद्धि से आगम के अर्थ के अनुसार, अहंकार को छोडकर भिक्षा के लिए फिर, एवं इन्द्रिय के समूह को वश में करके शुद्ध हेतु में विषाद रहित होजा ।। ४ ।। उपजाति

विवेचन—हे साधु ! तू निरर्थक बातों को छोडकर स्वाध्याय कर, सज्झाय पढने में चित्त को लगा जिससे तेरा मन ससार में भटकने से रुक जाएगा। आगम ग्रंथों का अध्ययन आय की वृद्धि से कर तेरी दृष्टि किसी विशेष बाडे वर्ग के अजन से आजी हुई नहीं होनी चाहिए नहीं तो तू अपने उसी सकुचित दृष्टि के द्वारा ग्रथ का अनर्थ कर उठेगा और स्वय भी डूबेगा और अनेक भोले जीवो को भी डुबो देगा। माध्यस्थ बुद्धि नहीं होने से आज उत्सूत्र प्ररूपणा बड़े बड़े आचार्यों द्वारा हो रही है परिणामत समाज में झगडे फैल हुए है, नए पथ, फिरके भी इसी कारण से बढ़ गए हैं अत आगम के ग्रथ का माध्यस्थ बुद्धि से अनुकरण कर अपने कुल जाति आदि के व विद्या आदि के अभिमान को छोडकर विधिवत गोचरी कर, इन्द्रिया जो हर समय अपने इच्छित पदार्थों की ओर झुकती है उनको वश में करके सच्चे आनद का अनुभव कर, सासारिक राग, सन्मान, भोगेच्छा, पुद्गल वस्तुओ का सग्रह तुझ वर्जित है हो अत उन वस्तुओ से परे रह जिससे तुझे किसी प्रकार का विषाद नही होगा इस तरह से तेरा मार्ग उत्तम बनेगा ॥४॥

उपदेश विहार

ददस्व धर्मार्थितया यथार्हान् सदोपदेशान् स्वपरादि साम्यान् ।
जगद्धितैषी नवभिश्च कल्पैर्ग्रामे कुले वा विहराप्रमत्तः ॥५॥

अर्थ—हे मुनि ! तू धर्म प्राप्त करने के हेतु से इस प्रकार के धर्मानुसार उपदेश दे कि जो स्व और पर के विषय

समानता प्रतिपादित करने वाले हो। तू जगत का हितपी बनकर प्रमाद को त्याग कर गाव अथवा कुल में नवकल्पी विहार कर ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—हे साधु ! तू निष्पाप, एकात धम के हेतुभूत, स्व पर के लिए समभावी उपदेश दे। उपदेश देने मे तेरा सासारिक हित कुछ भी छुपा न होना चाहिए। अपनी विद्या के प्रदशन के लिए या अपनी कीति पताका फहराने के लिए या अपने नाम की विरुदावली छपवाने के गुप्त हेतु से या अपनी इच्छित भोगलिप्सा की पूर्ति के लिए या अपने सासारिक कुटुम्ब के पोषण के लिए तू उपदेश न दे। तेरा उपदेश स्वय तुझे और श्रोताओ को भी हितकर हो साथ ही इष्ट व अनिष्ट पदार्थों में समान भाव लाने वाला हो, वराग्य की पराकाष्ठा का पहुचा हुवा हो जिसे सुनकर श्रोताओ की दृष्टि स्वण व लाह को, सुगध और दुगध का एक जसी वुद्धि से देखने लग जाय अर्थात इच्छित पर राग व अनिच्छित पर द्वेष रहित हो जाय।

साधु को नवकल्पो बिहार अवश्य करना चाहिए। कार्तिक पूर्णिमा से अषाढ सुदी चवदस तक आठ मास के आठ विहार और चौमासे का एक विहार एम नौ विहार करने चाहियें। साधु इसमें कभी प्रमाद न करे जगत का हित सम्मुख रखकर विहार कर। विशप शिक्षण, रोग, वृद्धता या शासन का अपूव शास्त्रोक्त लाभ इन कारणा के सिवाय साधु एक स्थान पर विशप न रह।

आज विहार करन की पद्धति साफ विपरीत होती जा रही है। एक ही बडे शहर में बारबार चौमासा करने पर भी साधु सतुष्ट नही होते ह शहरो का मोह गोचरी में आसक्ति दृष्टि रागी श्रावकों की भक्ति, रूप सुन्दरिया व मीठ वचन कइयो को वहा स खिसकने नही देत ह चाहे उन्हे उपासरा खाली करन के नोटिस भी दिया जाव तो भी नही हटते हं। चातुर्मास की मर्यादा चार मास मे आठ मास तक बढ गई है। कई साधु आठ नौ मास स्थिर रहकर १-२ माह आसपास के तीर्थों में घूमकर फिर वही जा पहुचते हं। जहा विहार की आवश्यकता है वसे प्रान्त में जाते ही नही ह इस परिपाटी मे उनका सग्रह—परिग्रह प्रमाद, आसक्ति अज्ञान बढ रहा है शास्त्र की हीलना हो रही है श्रावक पथ भ्रष्ट व आचार भ्रष्ट हो रहे ह मदिरो के द्वार बद हो रह ह घोर अशातन हो रही है पर साधुओ को इसकी परवाह नही है वे शास्त्र को नही मानते ह। अत हे मुनि तू नवकल्पी विहार कर और स्व पर का कल्याण साध ले।

स्वात्म निरीक्षण—परिणाम

कृताकृत स्वस्य तपोजपादि, शक्तीरशक्ती सुकृतेतरे च।
सदा समीक्षस्व हृदाथ साध्ये, यतस्व हय त्यज चाव्ययार्थी ॥६॥

अर्थ—तप, जप आदि तून किए ह कि नही ? अच्छे और बुरे काम करने में तेरी शक्ति, अशक्ति कितनी है ? इन सभी विषयो का अपने हृदय में सदा विचार कर। ह

माक्षार्थी ! साधने योग्य कार्यों में यत्न कर और त्यागने योग्य कार्यों को छाड दे ॥ ६ ॥ उपजाति

विवेचन—हे साधु ! तू आत्म निरीक्षण कर कि तूने जप, तप उपदेश, धर्मोन्नति, सघ सवृद्धि आदि काय किए हैं कि नही ? शरीर की ममता छोडकर विशष तप कितने किए हैं ? धमशास्त्रा का पठन, पाठन, लेखन कितना किया है ? धम विहीन क्षेत्र में विहार करके धम से पतित होते हुए कितने प्राणिया की रक्षा की है, एव उन्हे फिर से धम म कितना प्रवृत्त किया है ? तेरे मन की कमजोरी या कदाग्रह का त्याग कितना किया है ? धम स्थानो, मदिरा, उपाश्रया या सघ के ऊपर आई हुई आपत्ति के निवारण के लिए त्याग या स्वापण कितना किया है ? क्या तेरे जस समृद्ध आचाय या मुनि की उपस्थिति में धम स्थानो पर या सघ पर विकट सकट आने पर तू बलिदान के लिए तयार हो सकता है ? क्या कालिकाचाय जसा पुरषाथ, तू गद भिल्ल जसो के सामने करके धम की रक्षा कर सकता है ? हे मुनि ! इन सब बातो का विचार करके प्रतिदिन बढ़ते हुए निरथक प्रलापा का, अनावश्यक मानसिक उपाधिया का, सघ में होते हुए विटबावाद का उपचार करता हुवा तू आत्माहित साध ले । क्याकि तू माक्षाभिलापी है । मोक्षाभिलाषी के लिए आत्मनिरीक्षण आवश्यक है ।

हे श्रावक ! क्या तू भी प्रतिदिन जप, तप, (द्रव्य या भाव से) पूजा, गुरुवदन, प्रतिक्रमण या साधर्मिक भक्ति करता

है ? क्या तेरे पास रहे हुए समय व धन का ज्ञान क्षेत्र के लिए सदुपयोग करता है ? क्या तेरे आचरण को देखकर तेरे धर्म के प्रति अन्य लोगों को हीनता तो उत्पन्न नहीं होती है ? क्या तू श्रावक कहलाता हुवा ऐसे आरंभ सारंभ तो नहीं करता जिससे अन्य धर्मी तेरे धर्म व इष्टदेव को घृणा की दृष्टि से देखते हों ? क्या तू धर्म की विपत्ति के समय उपेक्षा तो नहीं करता है ? क्या तू धर्म के लिए कल्पक, शकटार जैसे माहण (जैन ब्राह्मण-महात्मा) की तरह अपना बलिदान दे सकता है ? क्या तुझे अपने परिवार या स्वयं के शरीर की अपेक्षा धर्म पर अधिक अनुराग है ? इस तरह से तू आत्म निरीक्षण करता हुवा, वीर पुरुष की तरह धर्म का पालन कर अपनी शक्ति-अशक्ति का विचार करके अच्छे कामों का आचर, बुरों को छोड़ दे। प्रतिदिन ऐसी बातों का विचार करता हुवा तू वीरता पूर्वक मोक्ष की तरफ बढ़। चौदह नियमों को धारण कर।

पर पीड़ा वर्जन—योग निर्मलता

परस्य पीडापरिवर्जनात्, त्रिधा त्रियोग्यप्यमला सदास्तु।
साम्यैकलीनं गतदुर्विकल्पं, मनो वचश्चाप्यनघप्रवृत्ति ॥ ७ ॥

अर्थ—तेरे मन वचन काया के योग दूसरे जीवों को तीनों प्रकार से पीड़ा न देने से निर्मल हों, तेरा मन केवल समता में ही लीन हो जाय, एवं वह अपने दुर्विकल्प छोड़ दे और तेरा वचन भी निरवद्य व्यापार (काम) में ही प्रवृत्त होता रहे। ॥ ७ ॥ उपजाति

विवेचन—सभी धर्मों म अहिंसा को सवश्रेष्ठ माना है, सवसाधारण उक्ति है "अहिंसा परमो धम" परन्तु ऐसा मानते हुए भी कई धर्मावलम्बी हिंसा करते रहते हं इतना ही नही धार्मिक पर्वों पर भी धम के नाम पर हिंसा करत ह। जन धम ने इसकी पूरी गहराई सोची है। जन इसका पालन सावधानी से करता व कराता है। किसी भी प्राणी का स्वय पीड़ा देना, दूसरे से दिलाना, या पीड़ा देन वाले को सहायता दना या उसकी पुष्टि करना इन तीनो प्रकारा की हिंसा का मन स, वचन से, काया से त्याग करना सपूण अहिंसा कहलाता है। इससे मन, वचन और काया के योग निमल बनते ह। हे जीव ! तेरा मन सदा समता म हो लीन हो दुविकल्पो से हटकर निमल रह यह तभी हो सकता है जब कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि जो आत्मगुणा के घातक ह उनका त्याग किया जाय। इतना होन पर दुविकल्पा का स्वयमेव नाश हो जाता है और मन निमरा हाकर आत्महित में लगता है। वचन स भी पाप व्यापारो का त्याग आवश्यक है यह भी तभी हो सकता है जब मन में से हिंसा को भावना दूर हो जाय। किसी को पीड़ा दन के लिए या अपन स्वाथ के लिए वचन का पाप व्यापार होता है परतु जब मन ही पाप व्यापार से दूर हो जाय तो वचन से वस उद्गार निकल ही नही सकते हं एव काया से वस पाप आचरे ही नही जा सकते ह। अत शास्त्रकार चाहते ह कि तेरे मन, वचन, काय निमल हो जाए जिससे तू अपनी आत्मा का व अन्य की आत्माओ का हित कर सके।

भावना आत्मलय

मत्रीं प्रमोद करुणां च सम्यक्, मध्यस्थता चानय साम्यमात्मन् ।
सद्भावनास्वात्मलय प्रयत्नात्, कृताविराम रमयस्व चेत ॥८॥

अर्थ—हे आत्मा ! मत्री प्रमोद, करुणा और माध्यस्थता को अच्छी तरह से ला (धारण कर) समता भाव प्रगट कर। प्रयत्न करके सद्भावना भाकर आत्मलय में विराम पाकर (अपने) मन को क्रीडा करा ॥ ८ ॥   उपजाति

विवेचन—तू अपने हृदय में मत्री, प्रमोद करुणा और माध्यस्थ इन चारों भावों को निरंतर धारण कर। इनमें आत्मरमण करने से परम शांति प्राप्त होती है। भावना भाते हुए शुद्ध समता का उदय होता है। समता आत्मिक गुण है और स्थिरता इसकी नींव है। मात्र ज्ञान, ध्यान, तप और शीलयुक्त मुनि की अपेक्षा समताधारी मुनि अधिक गुण निष्पादित कर सकता है इस प्रकार से जब प्रवृत्ति करते हुए समता प्राप्त होती है तब जीव आत्म जागृति करता है। उसे सांसारिक सभी काम तुच्छ प्रतीत होते हैं उसका मन आत्मप्रवृत्ति की तरफ दौडता है। उसे केवल आत्म-प्रवृत्ति ही रुचिकर प्रतीत होती है। शुभ ध्यान द्वारा आत्म-लय होता है और उस वक्त अनिर्वचनीय आत्मानंद होता है। आत्मरमण करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है और जब मन उस तरफ लगता है तब बाह्य वस्तु का भान नहीं रहता है। मन अंतर्मुख हुआ नहीं, कि ध्येय समीप आया समझो।

मोह के योद्धाओं का पराजय

कुर्यान्न कुत्रापि ममत्वभाव, न च प्रभो रत्यरती कषायान ।
इहापि सौख्यं लभसेऽप्यनीहो, ह्यनुत्तरामर्त्यसुखाभमात्मन ॥६॥

अर्थ—हे समर्थ आत्मा ! किसी भी वस्तु पर ममत्व भाव न रख, एवं रति अरति और कषाय भी न कर। जब तू इच्छा रहित हो जाएगा तब तो अनुत्तर विमान में बसने वाले देवों का सुख भी तुझे यहीं मिलेगा ॥ ६ ॥

इंद्रवज्रा

विवेचन—हे आत्मा तू अपने शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदि पर से ममता हटा ले, ये तेरे नहीं हैं और तू इनका नहीं है, इनका ममत्व इस लोक और परलोक में दुखदायी है, तू अच्छी और बुरी वस्तुओं में राग या द्वेष का विचार छोड दे अर्थात रति अरति न कर, ससार में घुमाने वाले कषाय को तू छोड दे, ऐसा करने से तुझे बहुत सुख मिलेगा। अनुत्तर विमान के देवों को सबसे अधिक सुख है कारण कि वहा स्वामी सेवकपन नहीं है एवं काम विकार से होने वाली शारीरिक या मानसिक विडबना भी नहीं है परंतु निस्पृहता से होने वाला सुख इससे भी बढकर होता है उपाध्यायजी ने कहा है —

परस्पृहा महादु ख निस्पृहत्व महासुखम ।
एतदुक्त समासेन लक्षण सुखदु खयो ॥

आत्मा में अनत ज्ञान है और अनत दर्शन है। महावीर प्रभु जैसा बल, अभय कुमार जैसी बुद्धि, हेमचद्राचार्य जसा

अनन्तनाथ, कयवन्ना सेठ जैसा सौभाग्य गजसुकुमाल जैसी समता शक्ति के रूप में सब आत्माओं में रही हुई है मात्र पुरुषार्थ करके उसे प्रकट करने की आवश्यकता है इसी कारण से आत्मा को "समर्थ" कहा है। हे समर्थ आत्मा, तू उपरोक्त श्लोक के अनुसार आचरण कर।

उपसंहार—शुभ प्रवृत्ति करने वाले की गति

इति यतिवरशिक्षां योऽवधार्य व्रतस्थ
श्चरणकरणयोगानेकचित्तः श्रयेत।
सपदि भवमहाब्धि क्लेशराशिं स तीर्त्वा,
विलसति शिवसौख्यानन्तसायुज्यमाप्य ॥ १० ॥

अर्थ—यतिवरों के संबंध में बताई हुई शिक्षा जो व्रतधारी (साधु और उपलक्षण से श्रावक) एकाग्रचित्त से हृदय में ठसाता है और चारित्र तथा क्रिया के योगों को पालता है वह संसार समुद्र रूप क्लेश के समूह को एकदम तरकर मोक्ष के अनन्त सुख में तन्मय होकर स्वयं आनन्द पाता है। ॥ १० ॥ मालिनी

विवेचन—उपकारी की वृत्ति सदा उपकार करने में ही लगी रहती है, सच्चा उपकारी वही है जो सदा काल का दुःख मिटा देता हो थोड़े समय के उपकार की अपेक्षा अनन्तकाल का सुख दिलाने का जो मार्ग बताता है वही सर्वोत्तम उपकारी है। ऐसे परमोपकारी तीर्थंकर प्रभु, गणधर पूर्वाचार्य, आदि ने जीवों के उपकार के लिए उपरोक्त उपदेश दिया

है। पूर्वाचार्यों ने यही यही भाव पूर्वक शब्दों में टीका भी है जिसका कारण यही है कि वे जीव पर एकांत उपकार करने की निस्पृह वृत्ति रखते थे अत इस जीव को शुभ रास्ते लेने के लिए उन्होने प्रत्येक विषय पर कहा है।

इस उपदेश म से साधु और श्रावक को अपनी योग्यतानुसार उपदेश ग्रहण करना है। जो प्राणी नियमानुसार चरण-करण गुणो का अनुसरण करेगा वह थोड़े समय में ससार समुद्र से तरकर मोक्ष सुख को पायेगा। यह सुख महासुख है और अनतकाल तक रहने वाला है, अत हम उस सुख को पाने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार से शुभवृत्ति उपदेश नामक अधिकार में साधु को शुभवृत्ति रखने का उपदेश दिया गया जो योग्यतानुसार श्रावक के लिए भी ग्राह्य है। वातावरण ऐसा होता जा रहा है कि लोगो की इच्छा धार्मिक क्रिया से भागने की होती है परतु यह आत्मघातक वस्तु है। बिना शुभ प्रवृत्ति (क्रिया) के कर्मों का काटना कठिन होता है अत हमें पूरे अधिकार में उपदिष्ट भाग का अनुसरण करना चाहिए।

इति पचदशो शुभवृत्तिशिक्षोपदेशाधिकार

अथ षोडश:

साम्यसर्वस्वाधिकारः

अब पूरे ग्रंथ के सारभूत—एक प्रधान तत्त्व—साम्य—समता सर्वस्व ही है इस विषय पर उपसंहार करते हुए संक्षिप्त विवेचन ग्रंथकार करते हैं। इस पूरे ग्रंथ का उद्देश्य क्या है, मध्यबिंदु कहाँ है, प्रयोजन क्या है यह सब ग्रंथकर्ता बताते हैं।

समता का फल—मोक्ष संपत्ति

एवं सदाभ्यासवशेन सात्म्य, नयस्व साम्य परमार्थवेदिन ।
यत करस्था शिवसम्पदस्ते, भवन्ति सद्यो भवभीतिभेत्तु ॥१॥

अर्थ—हे तात्त्विक पदार्थ के जानने वाले ! तू इस प्रकार से (ऊपर पंद्रह द्वार में कथित) निरंतर अभ्यास के योग से समता को आत्मा के साथ में जोड़ दे, जिससे भव के भय को भेदन वाली मोक्ष संपत्तिए तुझे एकदम प्राप्त हो जाए। ॥ १ ॥ उपजाति

विवेचन—तेरा साध्य "समता" होना चाहिए और उसकी प्राप्ति के लिए आत्मा के साथ समता का निरंतर योग रहना चाहिए। श्रीहेमचंद्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि —

पणिहन्ति क्षणार्धेन साम्यमालब्य कमतन् ।
यन्नह्यान रस्तीव्रतपसा ज मकाटिभि ॥

अर्थात समता का आलबन लेन से, वसे कर्मों का एक क्षण में नाश हो जाता है जिनके लिए करोडा ज म तक विविध तपस्या करनी पडती है। हे बधु! एक बार एकात निरुपाधि, निजस्वम्पलीनता, अजरामरत्व, अशांति का अभाव तथा स्थिरता का विचार कर। यदि ये तुझे उत्तम प्रतीत हो तो समता का आश्रय ग्रहण कर इमसे तुझे बहुत सुख प्राप्त होगा। इसके लिए अभी समय है योग्य अवसर भी है, फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले अत तू समता प्राप्ति के लिए उद्यम कर।

अविद्या त्याग हो समता का बीज

त्वमेव दु ख नरकस्त्वमेव, त्वमेव शर्मापि शिव त्वमेव ।
त्वमेव कर्माणि मनस्त्वमेव जहीह्यविद्यामवधहि चात्मन ॥२॥

अर्थ—हे आत्मा! तू ही दु ख है, तू ही नरक है, तू ही सुख और मोक्ष भी तू ही है। तू ही कम और मन भी तू ही है। अविद्या को छोड द और सावधान हो जा ।२॥

इंद्रवज्रा

विवेचन हे आत्मा! तू ही दु ख है, कारण कि उन दु खो के कारण भूत कम तूने ही किए ह। सुख दु ख की सच्ची झूठी कल्पना भी तू ही करता है। इसी तरह से नरक भी तू ही ह। दु ख का सचय करने वाला और उनको समझने

वाला भी तू ही है। सुख के लिए भी तू ही कर्ता व अधिष्ठाता है। अच्छी बुरी, कम ज्यादा भावनाओं के अनुसार काम करने का जुम्मेवार भी तू ही है। प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा मोक्ष का आनंद अनुभव करने वाला भी तू ही। कर्म का करने वाला और मन को प्रेरणा देने वाला भी तू ही है अतः कर्म और मन भी तू ही है।

जैन धर्मानुसार आत्मा शुद्ध ज्ञानमय, अविनाशी और नित्य है। कर्मों के कारण इस पर पर्दे गिरे हुए हैं। उन पर्दों को दूर हटाने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना आवश्यक है। आत्मा स्वयं ही कर्ता व भोक्ता है इसको किसी अन्य आत्मा की अपेक्षा नहीं है यह स्वयं तरता है व स्वयं ही डूबता है। हे आत्मा तू अपना वास्तविक रूप पहचान और अविद्या का त्याग कर। शास्त्रकार कहते हैं —

'अज्ञानं खलु भोकष्टं, क्रोधादिभ्योऽति तीव्र पापभ्य ॥
अर्थात् क्रोध आदि अति तीव्र पापों से भी अज्ञान महान कष्ट देने वाला है। जब तक अज्ञान का नाश नहीं होगा तब तक साध्य नजर में नहीं आएगा। अतः हे भाई! तू जागृत हो, पुरुषार्थ कर और वीर्य का काम में लाकर मोक्ष साध ले।

सुख दुःख का मूल क्रमशः समता ममता

निःसंगतामेहि सदा तदात्मन्नर्थेष्वशेषेष्वपि साम्यभावात्।
अवेहि विद्वन् ममतैव मूलं, शुचां, सुखानां समतैव चेति ॥३॥

अर्थ—हे आत्मा! सभी पदार्थों पर समता

लाकर निःसगपन प्राप्त कर। हे विद्वान् ! तू जान ले कि दुःख का मूल ममता ही है और सुख का मूल समता ही है।
॥ ३ ॥ उपजाति

विवेचन—जब तक हमारा चित्त घर हाट बाग बगीचे, धन, माल स्त्री, पुत्र, मान सनमान में ही लगा रहता है तब तक हम उनके सगी है और वे हमारे सगी (साथी) है। इनमें लगा हुवा मन आत्मा या परमात्मा में नहीं लग सकता है। अत शास्त्रकार कहते है कि इस सग का त्याग करने के लिए तू समता भाव ला। समता का तात्पर्य यह है कि सभी इष्ट अनिष्ट वस्तुओं में समान भाव रखना। यह समता ही सुख का मूल है और प्रत्येक वस्तु में ममता-मेरापन अहभाव-ही दुःख का मूल है।

समता का नमूना

स्त्रीषु धूलिषु निजे च परे वा, सपदि प्रसरदापदि चात्मन।
तत्त्वमेहि समता ममतामुग येन शाश्वतसुखाद्वयमेषि ॥४॥

अर्थ—स्त्री में और धूलि में, अपने में और पराए में, सम्पत्ति में और विस्तृत विपत्ति में, हे आत्मा ! (तत्व को पहचानकर) समता धारण कर और ममता को छोड दे, जिससे शाश्वत सुख के साथ तेरा एकाकार होगा ॥ ४ ॥

स्वागता

विवेचन—शाश्वतसुख मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए भी समता ही आवश्यक है। मन में जब तक अपना-पराया भाव

रहता है, अपने स्त्री पुत्र आदि की आपत्ति पर ही दुःख और भय दुःखी जीवों पर उपेक्षा रहती है तब तक समता नहीं आ सकता। अपने पुत्र के जरा से गिर जाने पर खूब चिन्ता करते हुए उसकी संभाल करना और दूसरे के पुत्र के तीन मंजिल पर से गिरने या मोटर के नीचे दब जाने पर देखते हुए भी खेद न होना उसका साधारण सा भी उपचार कराने की भावना न होना यही तो ममता है। सम्पत्ति आने पर फूले हुए फिरना उसका प्रदर्शन करना और विपत्ति आने पर उसका रोना हर जगह रोते रहना यही तो ममता है। हे आत्मा तू सभी अवस्थाओं में समता रख तभी तुझे मोक्ष के सुख का साक्षात्कार होगा।

समता के कारण रूप पदार्थों का सेवन कर

तमेव सेवस्व गुरु प्रयत्नादधीष्व शास्त्राण्यपि तानि विद्वन् ।
तदेव तत्त्वं परिभावयात्मन्, यम्यो भवेत्साम्यसुधोपभोग ॥५॥

अर्थ—हे आत्मा! तू उसी गुरु की प्रयत्न से सेवा कर, उन्हीं शास्त्रों का अभ्यास कर और उसी तत्त्व का चिन्तन कर जिससे तुझे समतारूपी अमृत का स्वाद मिलता हो ॥५॥

उपजाति

विवेचन—हे आत्मा! चौरासी लाख जीव योनि में भटकते हुए तुझे सद्भाग्य से (मनुष्य योनि मिलने के पश्चात तेरी) धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है और तू मोक्ष की अभिलाषा रखता है अतः हे भाई तू ढोंगी गुरु को छोडकर

समता का अमृत मिलाने वाले गुरु की सेवा कर, अन्य प्रपचा के शास्त्रो को छोडकर त्याग वराग्य युक्त समता का पाठ पढाने वाले शास्त्रो का अध्ययन कर और समता की पुष्टि करने वाले तत्त्व का चिंतन कर। श्री उमास्वातिजी ने कहा है.—जिस जिस भाव से वराग्य भाव की पुष्टि होती हो (उसका पोषण हाता हो) वही भाव भाने के लिए मन वचन और काया से अभ्यास करना चाहिए।

यह ग्रथ—समतारस का नमूना

समग्रसच्छास्त्रमहार्णवेभ्य, समुद्धत साम्यसुधारसोऽयम ।
निपीयतां हे विबुधा लभध्वमिहापि मुक्ते सुखवर्णिका यत ॥६॥

अर्थ—यह समता अमृत का रस सभी बड बडे शास्त्र समुद्रो में से निकाला गया है। हे पण्डितजन ! आप यह रस पीजिये और मोक्ष सुख का नमूना यही प्राप्त कीजिये।

इद्रवज्रा

विवेचन—समता अमृत सब उत्तम शास्त्रो का निचोड है, अत सब शास्त्रा के सारभूत अमृत को हे विद्वाना आप पियें और मोक्ष का सुख कसा होता है उसका थोडा सा अनुभव आपको यही इसी भव म मिल सकेगा।

समताधारी का स्वरूप बताते हुए अनुभवी योगी श्रीमद् कपूरचदजी (चिदानदजी) महाराज कहते ह कि —

ज अरि मित्त बराबर जानत, पारस और पाषाण ज्यु होई,
कचन कीच समान अहे जस, नीच नरेश में भेद न कोई।

मान कहो अपमान कहो मन, ऐसा विचार नहि तस होई
राग नहि अरु रोस नहि चित्त, धन्य अहे जग में जन सोई ॥१॥
ज्ञानी कहो अज्ञानी कहो कोई, ध्यानी कहो मनमान ज्यु कोई,
जोगी कहो भावे भोगी कहो कोई जाकु जिस्यो मन भावत होई।
दोषी कहो निरदोषी कहो पिंडपोषी कहो को औगुन जोई,
राग नहि अरु रोष नहि जाकु धन्य अहे जग में जन सोई ॥२॥
साधु सुजन महंत कहो कोई भाव कहो निरगंथ पियारो,
चोर कहो चाहे ढोर कहो कोई, सेव करो कोउ जान दुलारो।
विनय करो कोउ ऊंचे बठाय ज्यु दूर थी देख कहो कोउ जारे,
धार सदा समभाव चिदानंद लोक कहावत सुनत नारे ॥३॥

समता के लिए उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं कि —
उपशमसार छ प्रवचनने, सुजस वचन ए प्रमाण रे।

समता ही शास्त्र का सार है।

समता विण जे अनुसरे प्राणी पुण्य काम।
छार ऊपर ते लीपणु, झाखर चित्राम ॥

अर्थात जो कोई प्राणी समता के बिना कोई भी पुण्य का काम करता है वह उसी तरह निरर्थक है जैसे ऊसर भूमि पर लीपना या वृक्ष के सूखे पत्तों के ढेर पर चित्र बनाना है।

हे पुण्यशाली ! इस देव दुर्लभ मानव भव में यदि तू सुख चाहता है तो समता रख और अव्याबाध सुख का अनंत यहीं पर अनुभव कर। तेरे रोग शोक, भय, व्याधि आदि सब मिट जाएंगे।

यह विवेचन जो आप श्री ने पढा है वह आपके ही एक बालक द्वारा अर्पित है इसमें कहीं कहीं कटु शब्दों का प्रयोग हुवा है जिसके लिए मैं क्षमा चाहता हूँ। विशेषकर यतिशिक्षा के पाठ में अति तिक्त कटु, मार्मिक शब्दों का व भावों का प्रदर्शन मैंने किया है परंतु करूं क्या यह पाठ ही ऐसा है और उसमें वर्णित दोष आज प्राय उस वर्ग में देखे जा रहे हैं अत उनकी सेवा में सादर वंदन करता हुवा उनसे क्षमा मांगता हूँ और चाहूंगा कि वे अपना मुंह इस दर्पण में देखें और उसे साफ करें।

ग्रंथकर्ता की भावना शुद्ध थी, वह सबका उद्धार चाहते थे उसी भावना के वशीभूत होकर उसी की पुष्टी में श्री मोतीचंद भाई ने विवेचन किया था और मुझ अल्पबुद्धि ने भी वैसा ही प्रयास किया है। यद्यपि मैंने अधिक मूल शब्दों का प्रयोग किया है तथापि ध्यान की दृष्टि से क्षमा चाहता हूं।

इसमें जो आत्मा को आनंद देने वाले शब्द या भावादि हैं वे ग्रंथकर्ता के हैं और जो कुछ चुभने वाले या आत्मा को क्षुब्ध करने वाले हैं व सब मेरे हैं। पाठक अमृत का पान करते हुए इस ग्रंथ का सदुपयोग कर मुझे कृतार्थ करें।

अंत में सब जीवों के कल्याण की कामना करता हूं तथा अपने कल्याण के लिए जिनराज से प्रार्थना करता हुवा सब जीवों से क्षमा मांगता हूं। कृपया सब क्षमा करें।

सुखी रहें सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे।
वैर पाप अभिमान छोड जग नित्य नये मंगल गावे॥

ॐ शांति ॐ शांति ॐ शांति

मनुष्य भव की दुर्लभता के दस दृष्टांत

(१) चाल्लक (भोजन)—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त न एक ब्राह्मण को प्रसन्न होकर कहा कि 'तुझ जो चाहिए सो माग ले'। ब्राह्मण न अपनी स्त्री की सलाह से यह मागा कि, 'आपके राज्य में हरेक घर में म बारी बारी से भोजन करू।' चक्रवर्ती ने यह स्वीकार कर वैसा प्रबध कर दिया।

पहल ही दिन उस ब्राह्मण न चक्रवर्ती के यहा भाजन किया और जीम कर एक स्वण-मोहर प्राप्त की, पश्चात वह एक लाख बाणवे हजार रानिया के यहा जीमा, इसी प्रकार से उसे छ खण्डमें हरेक के यहां जोमना था। परन्तु प्रथम दिन के भोजन में जो स्वाद उसे मिला था वह फिर कभी नहीं मिला। उसकी उत्कठा लगी हुई थी कि कब छ ही खण्डा के तमाम शहरो के सब ही घरो में जीम चुकू और कब चक्रवर्ती के यहा मेरी बारी फिर से आवे। यह बनना जैसे दुलभ है वसे ही मानव-जीवन मिलना दुर्लभ है। शायद किसी भी तरह से वह ब्राह्मण प्रथम दिन जीमे हुए भोजन को दुबारा पाए, परतु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भव पाकर उसे खा देता है वह उसे दुबारा फिर कभी भी नहीं पा सकता।

(२) पासा—चद्रगुप्त मौर्य जब राज्यासन पर आरूढ हुआ तब खजाना खाली हो गया था। बुद्धिनिधान जन ब्राह्मण (माहण महात्मा) चाणक्य ने एक युक्ति की उसने कल पुर्जो

यह विवेचन जो आप श्री ने पढा है वह आपके ही एक बालक द्वारा अर्पित है इसमें कहीं कही कटु शब्दो का प्रयोग हुवा है जिसके लिए म क्षमा चाहता हू। विशेषकर यतिशिक्षा के पाठ में अति तिक्त, कटु, मार्मिक शब्दो का व भावो का प्रदर्शन मने किया है परंतु कर क्या यह पाठ ही ऐसा है और उसमें वर्णित दोष आज प्राय उस वग में देखे जा रहे हैं अत उनकी सेवा में सादर वदन करता हुवा उनसे क्षमा मागता हूं और चाहूगा कि वे अपना मुह इस दपण में देखें और उसे साफ करें।

ग्रथकर्ता की भावना शुद्ध थी, वह सबका उपकार चाहते थ उसी भावना के वशीभूत होकर उसी की पुष्टी में श्री मोतीचद भाई ने विवेचन किया था और मुझ अल्पबुद्धि न भी वसा ही प्रयास किया है। यद्यपि मन अधिक सुल शब्दों का प्रयोग किया है तथापि बाल की दृष्टि से क्षमा चाहता हू।

इसम जो आत्मा को आनद देने वाले शब्द या भावादि ह वे ग्रथकर्त्ता के ह और जो कुछ चुभने वाले या आत्मा का क्षुब्ध करने वाले ह वे मव मेरे ह। पाठक अमत का पान करते हुए इस ग्रथ का सदुपयोग कर मुझे कृताथ करें।

अत में सब जीवो के कल्याण की कामना करता हू तथा अपन कल्याण के लिए जिनराज से प्राथना करता हुवा सब जीवो से क्षमा मागता हू। कृपया सब क्षमा करें।

सुखी रहे सब जीव जगत के कोई कभी न घबरावे।
वर पाप अभिमान छोड जग नित्य नये मगल गावे॥
ॐ शाति ॐ शाति ॐ शांति

मनुष्य भव की दुर्लभता के दस दृष्टांत

(१) चाल्लक (भोजन)—चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त ने एक ब्राह्मण को प्रसन्न होकर कहा कि 'तुम जो चाहिए सो माग लें"। ब्राह्मण ने अपनी स्त्री की सलाह से यह मागा कि, "आपके राज्य में हरेक घर में म बारी बारी से भोजन करू।" चक्रवर्ती ने यह स्वीकार कर वसा प्रबध कर दिया।

पहले ही दिन उस ब्राह्मण ने चक्रवर्ती के यहा भोजन किया और जीम कर एक स्वर्ण-मोहर प्राप्त की, पश्चात वह एक लाख बाणवे हजार रानिया के यहा जीमा इसी प्रकार से उस छ खण्ड में हरेक के यहा जीमना था। परन्तु प्रथम दिन के भोजन में जो स्वाद उसे मिला था वह फिर कभी नही मिला। उसको उत्कठा लगी हुई थी कि कब छ ही खण्डो के तमाम शहरो के सब ही घरो में जीम चुकू और कब चक्रवर्ती के यहा मेरी बारी फिर से आवे। यह बनना जसे दुलभ है वसे ही मानव-जीवन मिलना दुलभ है। शायद किसी भी तरह से वह ब्राह्मण प्रथम दिन जीमे हुए भोजन को दुबारा पाए परंतु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भव पाकर उसे खो देता है वह उसे दुबारा फिर कभी भी नही पा सकता।

(२) पासा—चद्रगुप्त मौर्य जब राज्यासन पर आरूढ हुवा तब खजाना खाली हो गया था। बुद्धिनिधान जन ब्राह्मण (माहण महात्मा) चाणक्य ने एक युक्ति की उसने कल पुर्जों

वाने चौपट पासे बनवाए जिन्हे इच्छानुसार डाले जाकर खेल खेला जा सकता था। पश्चात चाणक्य ने शहर में घोषणा कराई कि, "जो कोई मुझे खेल में जीत लेगा उसे स्वर्ण मोहरों का थाल दिया जाएगा और जो हार जाएगा उसके पास से सिर्फ एक ही मोहर ली जाएगी"। ऐसी आकर्षक घोषणा से अनेक मनुष्य पासों का खेल खेले और हार गए, खजाना भर गया।

जैसे हारे हुए मनुष्य पासे के खेल से कभी भी अपनी पूंजी वापस नही पा सकेंगे वैसे ही जीवों के लिए हारा हुवा मनुष्य भव फिर पाना दुर्लभ है।

(३) धान्य का ढेर—यदि सारे संसार का धान्य संग्रहित कर एक ढेर लगा दिया जाय और उसमें एक सेर सरसों मिला दी जाय और एक अशक्त बुढिया को उसमें से सरसों अलग करने को कहा जाय तो क्या वह वैसा कर सकेगी? यह नितांत असंभव है। फिर भी कदाचित वह बूढ़ी सरसों को अलग कर सके तो भी यह सरसों के सदृश लुप्त हुवा मानव भव फिर से पाना दुर्लभ है।

(४) द्यूत-जूआ—एक राजा वृद्ध हुवा तो उसके पुत्र ने उसे मारकर राज्य गद्दी पाने का विचार किया। राजा ने यह बात जान ली और युक्ति से उसका एक उपाय किया। उसने युवराज को पास बुलाकर कहा कि, "अपने कुल की ऐसी रीति है कि जुआ खेलते हुए जब पुत्र जीत जाय तो उसे तुरंत राज्य दे दिया जाता है, अतः हम जुआ खेलें। राज्य सभा के भवन के १००८ स्तंभ हैं, प्रत्येक स्तंभ के १०८

धीन है। खेल में एक बार जीतने को एक कोना जीता जाना कहते हैं। इस प्रकार अखंडपन से लगातार सभी कोने जीते जाने पर तुरंत तुम्हें राज्य मिलेगा। यदि बीच में एक बार भी तुम्हारी हार हो गई तो सभी जीत वृथा होगी।

क्या इस प्रकार खेलते हुए कभी राजकुमार राजा को जीत कर राज्य पा सकता है ? कदापि नहीं। कदाचित् ऐसा होना संभव हो परंतु खोया हुवा मानव भव फिर से पाना दुर्लभ है।

(५) रत्न—एक साहसी व्यापारी समुद्र मार्ग में व्यापार के लिए निकला और उसने देश विदेश फिरते हुए बहुत से रत्न प्राप्त किये। पीछे लौटते हुए उसका जहाज टूट गया और सब रत्न समुद्र में जा गिरे। सद्भाग्य से वह तैर कर किनारे आया और दवा सेवन से स्वस्थ हुवा। उसने अपने रत्नों को फिर से पाने की अभिलाषा की। परंतु क्या यह संभव है ? समुद्र में गिरे हुए रत्न क्या उसे फिर से मिल सकते हैं ? नहीं जैसे रत्न मिलने दुर्लभ हैं वैसे ही मानव भव रत्न मिलना भी दुर्लभ है।

यह कथा ऐसे भी है कि एक सेठ को रत्नों का संग्रह करने का शौक था परन्तु उसके पुत्र को यह पसंद नहीं था। एक दिन सेठ के अन्यत्र जाने पर पुत्र ने उन रत्नों को परदेशी व्यापारियों को बेचकर नकद दाम कर लिए। जब सेठ घर आया और उसने रत्नों की बात सुनी तो वह बहुत दुःखी हुवा और पुत्र को उन परदेशी व्यापारियों से रत्न वापस

आज्ञा दी । परतु जैसे उन विदेशियो से फिर रत्न पाना दुर्लभ है वसे ही खोया हुवा मनुष्य भव फिर पाना दुलभ है ।

(६) स्वप्न—एक राजकुमार नाराज होकर विदेश चला गया । रात को धमशाला म सोते हुए पिछली रात को उसे एक स्वप्न आया कि, "पूर्णिमा के चद्र ने मेरे मुख में प्रवेश किया ।" ठीक उसी समय पास मे आय हुए एक भिखारी को भी वही स्वप्न आया ।

प्रात काल दोनो जागे । राजकुमार ने अपना स्वप्न बहुत विनय व भेंट के साथ एक स्वप्न पाठक से निवेदित किया । उस पडित ने फल बताया कि, "सात दिन के अदर २ तुझे राज्य की प्राप्ति हागी और उसका तुरत फल स्त्री प्राप्ति होगी" ऐसा कहकर अपनी पुत्री का विवाह उसने उमसे कर दिया । सातवें दिन उस गाव का राजा निसतान ही मर गया और राजकुमार को राज्य मिला ।

भिखारी ने भी अपना स्वप्न एक बावाजी को सुनाया जिसका फल बावाजी ने बताया कि तुझे आज भीख मागते हुए लड्डू मिलेगा । वसा ही हुवा उसे एक चूरमे का लड्डू भीख म मिला ।

राजकुमार के स्वप्न व राज्य प्राप्ति की चारो तरफ फल हुई बात जब उस भिखारी न भी सुनी तो उसने अपने भाग्य को धिक्कारा और फिर से वैसे स्वप्न आने की आशा से वह उसी धमशाला में सोने लगा परतु जसे फिर से वसा स्वप्न

आना और राज्य मिलना दुर्लभ है वैसे ही फिर से मनुष्य जन्म की प्राप्ति होना दुर्लभ है।

(७) चक्र-राधावेध—इन्द्रपुर नामक नगर में इन्द्रदत्त नामक एक राजा रहता था उसके २२ रानियों से २२ पुत्र हुए। उसके मंत्री के भी एक पुत्री थी जो अति सुन्दर थी उससे विवाह कर राजा उसे भूल गया। एकदा घूमने जाते हुए राजा ने उस मंत्री कन्या को देखा और उसने गुप्त रीति से वह रात वहीं बिताई। मंत्री ने सब हाल एक कागज पर लिख लिया। समय आने पर उस लड़की के एक पुत्र हुवा जिसका नाम सुरेंद्रदत्त रक्खा गया। उसे एक कलाचार्य के पास पढ़ने भेजा गया वह बहुत विद्वान और धनुर्वेत्ता हो गया। राजा के अन्य २२ ही कुंवर गर्विष्ट होने से पूरा नहीं पढ़ सके न धनुर्विद्या में ही निपुण हुए। मथुरा नगरी के राजा जितशत्रु ने अपनी कन्या निवृत्ति का स्वयंवर रचा जिसमें कई राजकुमार बुलाए गए। वे २२ कुंवर भी इन्द्रदत्त राजा के साथ वहां उपस्थित हुए व सुरेंद्रदत्त भी मंत्री के साथ गया। स्वयंवर में राधावेध की शर्त रखी गई थी। यह वेध ऐसा था कि एक स्तंभ की चोटी पर यान्त्रिक प्रयोग से एक पुतली फिर रही थी। उस पुतली (राधा) के नीचे ८ चक्र घूम रहे थे चार दाईं ओर से और चार बाईं ओर से। नीचे तेल से भरी हुई कढ़ाई रखी गई थी जिसमें पुतली और चक्रों का प्रतिबिंब पड़ रहा था। स्तंभ के मध्य भाग में एक तराजू टांगा गया था, जिसके दोनों पलड़ों में दोनों पर रखकर खड़ा रहना और कढ़ाई में

प्रतिबिंब देखकर पुतली की बाईं आंख में तीर चलाना था। सभी कुमार असफल रहे। उन २२ का भी यही हाल हुवा। राजा इन्द्रदत्त को बहुत दुःख हुवा तब मंत्री ने सुरेन्द्रदत्त का हाल कहकर उसे वेध करने की आज्ञा दी। सुरेंद्रदत्त सफल हुवा और वरमाल उसी को पहनाई गई। सुरेंद्रदत्त जैसा कोई भाग्यशाली प्राणी उस पुतली की आंख में तीर लगा सका यह जितना कठिन है उससे भी कठिन तो यह है कोई भाग्यहीन प्राणी मानव भव को खोकर फिर पा सके।

(८) कूर्म चंद्रदर्शन—एक सरोवर में रहने वाले किसी कछुए ने एक बार पानी के ऊपर जमी हुई काजी में हवा के जोर से छेद होने पर पानी के ऊपर गर्दन निकाल कर पूर्णचंद्र को देखा जिससे उसे अति आनंद हुआ। उस आनंद में सम्मिलित करने के लिए अपने कुटुम्बियों को लेने के लिए उसने पानी में डुबकी लगाई परंतु जब वह सबको लेकर ऊपर आया तो काजी के जाडे स्तर में वह छेद नहीं मिला। पूर्णिमा की रात्री, काजी का फटना और उस कछुए की उपस्थिति ये सभी योग मिलने मुश्किल है। उन सबको चंद्रदर्शन दुर्लभ हो गए। कदाचित इस प्रकार के चंद्र के दर्शन उस कछुए को हो परन्तु जो भाग्यहीन प्राणी मनुष्य भव को हार जाता है उसे फिर से वह प्राप्त नहीं कर सकता है।

(९) युग (समिला)—पूर्व समुद्र में शमी (लकड़े की खूटी) डालें और पश्चिम समुद्र में युग (जूडा—बैलो के

कधा पर रहने वाला लकडा जिससे उनको इधर उधर भागन से रोका जाता है, उसके दाना कोनो पर छद होत ह उन छेदा में शमी फसाई जाती है। बलो के गले में पट्टी लपेट कर उस पट्टी को इस शमी (खीलें) में फसाया जाता है।) डाल और दोनो समुद्रो में दुधर तरगे आती हा तो जसे उस युग में शमी का प्रवेश दुर्लभ है वसे ही मानव भव पाना दुलभ है।

(१०) परमाणु—अगर कोई देवता एक विशाल पाषाण स्तभ का वज्र से चूरा चूरा कर दे पीछ वह मेरू पवत पर खडा होकर सभी परमाणुओ को एक नली में इकटठा कर जोर से फूक मारकर उस चूण को चारा दिशाओ में उडा द। यदि वह फिर स उसी रजचूण द्वारा पाषाण स्तभ को बनाना चाहे तो यह कितना असभव है। एक लाख योजन के ऊचे मेरूपवत से हवा के झपाटे के साथ उडा हुवा वह पाषाण परमाणुओ का समूह जबरन फूक द्वारा कहो उड गया। जसे उसी चूरे द्वारा फिर से वही स्तभ बनाना दुलभ है वसे ही महान कठिनता से पाए हुए मानव भव को खोकर फिर से पाना दुर्लभ है।

मानव भव की दुलभता का विचार कर इसका सदुपयोग करना चाहिए।

सुभाषित संग्रह

उत्तराध्ययन सूत्र के छायानुवाद

महावीर स्वामी के अंतिम उपदेश से अनुवादित

अपने आपको जीतना चाहिए। अपने आपको जीतना मुश्किल है। जिसने अपने आपको जीता है, वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है। (१—१५)

दूसरे मुझे वध बधन आदि से पीडा दें, उसकी अपेक्षा मं स्वय ही अपने आपको सयम और तप द्वारा वश में रखू यह अधिक उत्तम है। (१—१६)

ससार में जीव को बोधि के ये चार अग दुलभ ह, मनुष्यपन, सद्धम का श्रवण, उसमें श्रद्धा और उसका आचरण। (३–१)

मनुष्यपन पाकर जो प्राणी धम सुनकर उसम श्रद्धा करता है और उसमें पुरुषाथ कर, तप से पाप कम को अपने में आता हुवा रोकता है वह अपनी मलिनता दूर कर सकता है। (३—११)

टूटने के पश्चात जीवन (आयु) को फिर जोडा नही जा सकना, अत प्रमाद नही करना चाहिए। वृद्धावस्था आने

के पश्चात दूसरा कोई रास्ता नहीं रहेगा तब प्रमत्त, हिंसक और प्रयत्न नहीं करने वाले मनुष्य की क्या दशा होगी, उसका विचार कर। (८—१)

सोते हुओं के बीच में जागा रहना चाहिए। तीव्र बुद्धिमान पंडित को आयुष्य का विश्वास नहीं करना चाहिए। काल निर्दय है और शरीर निर्बल है अतः भारण्ड पक्षी की तरह अप्रमत्त रहना चाहिए। (४—६)

वाणी की चतुराई (मृत्यु से) बचा नहीं सकती है, विद्या का शिक्षण भी किस तरह बचा सकता है? अपने आपको पण्डित मानने वाले मूर्ख लोग पाप कर्मों में डूबे रहते हैं। (६—१०)

दुर्जय संग्राम में लाखों योद्धाओं को (कोई) जीते, उसकी अपेक्षा अकेला अपने आपको जीते तो यह विजय उत्तम है। (६—३४)

अपने स्वयं के साथ लड़ना चाहिए। (अन्य के साथ) बाहर वालों के साथ लड़ने से क्या लाभ? अपने आत्मबल से अपने आपको जीतने वाला सुखी होता है। (६—३५)

पांच इन्द्रियां, क्रोध, मान माया और लोभ, तथा सबसे अधिक दुर्जय ऐसा अपना मन, ये जीते गये तो सब जीते गए। (६—३६)

हर महीने महीने लाखों गायों का दान देने वाले की अपेक्षा कुछ भी दान न देने वाले संयमी का संयमाचरण श्रेष्ठ है। (६—४०)

अज्ञानी मनुष्य हर महीने महीने कुश के अग्रभाग पर रह सके उतना अन्न खाकर उग्र तप करे तो भी वह मनुष्य, सत्पुरुषो द्वारा बताए गए धर्म को अनुसरण करने वाले मनुष्य के सोलहवें भाग के बराबर भी नही पहुच सकता है। (६—४४)

विविध पदार्थों से भरा हुवा सारा ससार भी किसी एक ही मनुष्य को दे दिया जाय तो भी इससे उसकी तृप्ति नही होगी। मनुष्य की तृष्णाए एसी दुष्पूर ह। (८—१६)

सोने चांदी के कलाश जसे असख्य पवत भी लोभी मनुष्य के लिए पर्याप्त नही है कारण कि इच्छा आकाश जसी अनत है। (६—४८)

धन धान्य सहित पूरी पृथ्वी भी किसी एक ही मनुष्य को दे दी जाय तो भी वह उसके लिए पर्याप्त नही है। ऐसा जानकर निग्रह (सयम) का आमरा लेना ही श्रेष्ठ है। (६—४६)

काम शल्य रूप है, काम विष रूप है तथा काम जहरी सर्प तुल्य है। इन कामों के पीछे पड़ हुए लोग, उनको प्राप्त किए बिना ही दुगति पाते ह (६—५३)

समय बीतन पर पका हुवा वक्ष का पत्ता (अचानक) गिर जाता है, वैसे ही मनुष्य का जीवन भी (अचानक) गिर जाता है, (मृत्यु हो जाती है) अत हे गौतम क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। (१०—१)

यह जीवन बहुत चचल है एव विघ्नो से परिपूर्ण है, अत एक क्षण का भी प्रमाद किए बिना हे गौतम, तू पहले के कर्मो को दूर कर दे। (१०—३)

सब सगीत विलाप जसे ह, सभी नाटच विडवना रूप ह, सभी आभरण भार रूप ह, तथा सभी काम दु ख वाहक हं। हे राजा! (इनमें) मूख लोगो को (ही) आनद आता है। वैसे दु खप्रद कामो में वह सुख नही है जो सुख कामो से विरक्त और शील गुणा में रत तपोधन भिक्षु को है। (१३, १६—१७)

कीचड में फसा हुवा हाथी जसे किनारा देखता हुवा भी उसम से निकल नही सकता है, वैसे ही काम गुणो में आसक्त हुए हम भी सत्य माग को देखते हुए भी उसका अनुसरण नही कर सक्ते ह। (१३—३०)

चारो तरफ से कष्ट पाते हुए और (दु खों से) घिरे हुए लोक में जहा अमोघकाल दौडता ही रहता है वहा घर में रहकर हम रति (शाति) नही पा सक्ते ह। (१४—२१)

जहा स्वय का हमेशा रहना नही है ऐसे रास्ते में जो घर बनाता है वह मूख है। मनुष्य को चाहिए कि जहा स्वय को सदा के लिए जाना है (मोक्ष में) वहा घर बनावे। (९—२६)

जिसकी मत्यु के साथ दोस्ती है, जो उसके हाथ में से

भाग सकता है अथवा, 'म नही मरूगा" ऐसा जो जानता है वही यह विचार करे कि, "यह मं कल करूगा"। (१४—२७)

(ब्रह्मचारी), घी-दूध आदि उद्दीपन करने वाले (विकारी) रस पदाथ अधिक न खाए, कारण कि जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष की तरफ पक्षियो का झुण्ड भाग कर आता है वैसे ही उस मनुष्य की तरफ काम वासनाए दौडी आती ह। (३२—१०)

जैसे बहुत काष्ठ वाले वन में पवन सहित लगा हुवा दावाग्नि शात नही होता है वसे ही इच्छानुसार आहार करने वाले ब्रह्मचारी का इद्रियाग्नि भी शात नही होता है। आहार किसी को हितकर नही होता है। (३२—११)

यदि कोई मन-वाणी और काया का सम्पूण सयम करने वाला हो तथा सुदर एव अलकृत देवियां भी जिसे डिगा न सकती हो एसे मुनि को भी अत्यत हितकर जानकर स्त्री आदि से रहित एकातवास ही स्वीकार करना चाहिए। (३२—१६)

जो कामवासनाओ को तर गए हं उनके लिए दूसरी सभी वासनाए छोडना आसान है। महासागर को तैरने वाले के लिए गगा जसी बडी नदी भी किस हिसाब में है ? (३२—१८)

स्त्रिया से घिरा हुआ घर, मनोरजक स्त्री कथा, स्त्रियो

का परिचय, उनकी इन्द्रियों का निरीक्षण उनका मीठा स्वर (कूजित), रुदन, गीत, हास्य सुनना, उनके साथ भोजन करना या बैठना रसीली वस्तुओं का आस्वादन अधिक मात्रा में आहार, शरीर की शोभा और शब्दादि पाँच विषयों में आसक्ति य आत्मान्वेषी ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष जैसे हैं। (इनका त्याग ही ब्रह्मचर्य की वाड़ है)। (१६, ११—३)

जैसे बगुली, (मादा बकपक्षी) अण्डे में से पैदा होती है और अण्डा बगुली में से पैदा होता है वैसे ही मोह का उत्पत्ति स्थान तृष्णा है और तृष्णा का उत्पत्ति स्थान मोह है।
(३२—६)

जिसे मोह नहीं है उसका दुःख गया जिसे तृष्णा नहीं है उसका मोह गया, जिसमें लाभ नहीं है उसकी तृष्णा गई और जिसका कुछ भी नहीं है उसको लोभ नहीं है। (३२—८)

बुद्धिमान पुरुष क्रिया में रुचि रखता है और अक्रिया का त्याग करता है। श्रद्धालु पुरुष का कर्त्तव्य है कि श्रद्धानुसार कठिन धर्म का भी आचरण करे। (१८—३३)

जब किसी घर में आग लगती है, तब घर का मालिक उसमें से सार वस्तुएं ले लेता है और असार वस्तुओं को छोड़ देता है, वैसे ही बुढ़ापे और मौत से सलगते हुए इस संसार में से मैं आप्त (पूर्व पुरुषों) की आज्ञा से मेरे आत्मा को बचाना चाहता हूं। (१६, २२—३)

हमारा आत्मा ही नरक की वतरणी नदी है, यही कूट शाल्मली वृक्ष है, हमारा आत्मा ही स्वर्ग की कामदुग्धा धेनु है तथा नदनवन है। दु खो और सुखो का कर्ता और विकर्ता भी आत्मा ही है। अच्छे रास्ते पर जाने वाला आत्मा ही मित्र है और खराब रास्ते पर जाने वाला आत्मा ही शत्रु है।
(२०, ३७—७)

प्राणियो का वध करने वाला और कराने वाला कभी सब दु खो से मुक्त नही हो सकता है। इस सुन्दर धम क उपदेश देने वाले आर्य पुरुषा ने ऐसा कहा है। (८—८)

मात्र (सिर) मुडान से श्रमण नही बना जाता है, मात्र ओकार से ब्राह्मण नही बना जाता है, मात्र जगल में निवास करने से मुनि नही बना जाता है और मात्र दाभ के (घास के) वस्त्र से तपस्वी नही बना जाता है, परन्तु समता से श्रमण, ब्रह्मचय से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि और तप से तपस्वी बना जाता है। कम से ही मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वश्य या शूद्र होता है। (२५, ३०—३)

सब प्रकार के ज्ञान को निमल करने से, अज्ञान और मोह को त्यागने से तथा राग और द्वेष का क्षय करने स एकातिक सुखरूप मोक्ष प्राप्त होता है। (३२—२)

मोक्ष माग—सदगुरु और ज्ञानवृद्ध पुरुष की सेवा करना, अज्ञानिया की सगति दूर से ही छोड देना, एकाग्रचित्त से सत शास्त्रो का अभ्यास करना, उनके अथ का चिंतन करना और चित्त की स्वस्थता रूपी धृति को विकसित करना।
(३२—३)

सुभाषित २

श्री सूत्रकृताग के छायानुवाद

महावीर स्वामीनो सयम धम में से अनुवादित

जब तक मनुष्य (कचन कामिनी आदि) सचित्त या अचित्त पदार्थों में आसक्त है तब तक वह उन दु खो से मुक्त नही होता है। (१, १—२)

जब तक मनुष्य अपने सुख के लिए अन्य प्राणिया की हिंसा करता रहता है, तब तक वह वर बढाता रहता है। (१, १—३)

ज्ञानी के ज्ञान का सार यह है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता है। अहिंसा का सिद्धांत भी इतना ही है। (१, ४—१०)

जागो ! तुम समझते क्यो नही हो ? मृत्यु के पश्चात ज्ञान प्राप्त होना दुलभ है। बीती हुई रातें पीछी नही आती ह और मनुष्य जन्म फिर से मिलना आसान नही है। (२, १—१)

जगत में प्राणी अपने कर्मों से ही दु खी होते हं और अच्छी-बुरी दशा प्राप्त करते ह। किया हुवा कम बिना फल दिये कभी अलग नही होता है। (२, १—४)

मनुष्य चाहे बहुत शास्त्र पढा हुवा हो, धार्मिक हो, ब्राह्मण हो या भिक्षुक हो, परन्तु यदि उसके कर्म अच्छे न हो तो वह दुखी ही होगा। (२, १—७)

कोई चाहे नग्नावस्था में विचरे या महीने के अंत में एक बार ही भोजन करे, परन्तु यदि वह मायायुक्त है तो वह बार बार गर्भवास ही पाएगा। (२, १—९)

हे मनुष्य! पाप कर्म से निवृत्त हो। तेरा आयुष्य अल्प है। जगत के पदार्थों में आसक्त और काम भोगो में मूर्छित, असंयमी लोग मोह पाते ही रहते हैं। (२, १-१०)

जीवन (आयुष्य) फिर जोडा नही जा सकता है, यह सुज्ञ पुरुष बार बार कहते हैं फिर भी मूर्ख मनुष्य धृष्टता पूर्वक पापो में मग्न रहा करते हैं। यह देखकर मुनि प्रमाद न करे। (२, २—२१)

इस जगत में वंदन पूजन को कीचड के खड्डे के समान जानना चाहिए। यह कांटा बहुत सूक्ष्म है और बहुत ही कठिनाई से निकाला जा सकने वाला है, अतः विद्वान को उसके समीप ही नही जाना चाहिए। (२, २—११)

जैसे दूर विदेश से व्यापारियो द्वारा लाए गए रत्नो को राजा ही धारण कर सकता है वैसे ही रात्रि भोजन त्याग सहित महाव्रतो को भी कोई विरला ही धारण कर सकता है। (२, ३—३)

निबल बैल का उसका हांकने वाला चाहे जितना मार-मार के हारे परन्तु वह तो और भी (गालियां) प्रशक्त बनता जाता है और अन्त में भार खींचने से बदल थककर जमीन पर गिर ही जाता है। वैसी ही स्थिति विषय रस चखे हुए मनुष्य की है। विषय तो आज या कल छोड़ कर जाने वाले हैं यह सोचकर कामी पुरुष को चाहिए कि वह प्राप्त हुए या किसी कारण से न प्राप्त हुए कामों की वासना का छोड़ दे। (२, ३, ५—६)

अन्त में पछताना न पड़े अतः अभी से ही आत्मा को भोगों में से अलग कर, समझाओ। कामी पुरुष अन्त में बहुत पछताता है और विलाप करता है। (२, ३—७)

वर्तमान काल ही एक मात्र योग्य अवसर है और बोधि प्राप्ति सुलभ नहीं है, ऐसा समझकर अपने कल्याण में तत्पर हो जाओ। अभी के जिन भी यही कहते हैं और भविष्य के भी यही कहेंगे। (२, ३—१६)

जो उचित समय में पराक्रम करते हैं वे ही पीछे से नहीं पछताते हैं। वे धीर पुरुष बन्धनों में से उन्मुक्त होकर जीवन में आसक्ति रहित होते हैं। (३, ४—१५)

जो काम भोगों और पूजा सत्कार को त्याग सके हैं उन्होंने सब कुछ त्यागा है। वैसे ही लोग मोक्षमार्ग में स्थित हो सके हैं। (३, ४—१७)

यदि सुबह शाम नहाने से ही मोक्ष मिलता हो तो पानी में रहने वाले कितने ही जीव मुक्त हो जाय। (७—१४)

पानी यदि पाप कर्मों को धो डालता हो तो पुण्य कर्मों को भी धो डालता है। अत उनका सिद्धात मनोरथ मात्र है। अधे नेता के अनुकरण की तरह से वसे मूढ लोग जीव हिंसा करते रहत ह। (७—१६)

मुनि, सयम के निवाह के लिए ही आहार ग्रहण करे, अपने में से सभी पाप दूर हो ऐसी इच्छा करे, तथा दु ख आ पडे तो सयम का शरण लेकर जसे सग्राम के अग्रभाग में लडता हो वसे अतर शत्रुओ को दबाव। (७—२६)

प्रमाद ही कम है अप्रमाद ही अकम है। इन दोना के होने या न होने से मनुष्य पण्डित या मूख कहलाता है। (८—३)

अपने जीवन के कल्याण क। यदि कोई उपाय जानने में आए तो बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि वह उसे तुरत सीख ले। (८—१५)

बुद्धिमान पुरुषो से मने सुना है कि, सुख वैभव का त्याग करके कामनाओ को शात करना और निरीह (सब त्यागी) होना यही वीर का वीरत्व है। (८—१८)

जो वस्तु का तत्त्व नही समझते ह, वसे मिथ्या दृष्टि वाले पुरुष यदि लोगो में पूज्य गिने जाते हो और धर्माचरण

में महावीर जसे भी हा तो मी उनका सब पुरुपाथ अशुद्ध है और उससे उनका बधन ही होता है। (८—२२)

परन्तु जो पुरुप वस्तु का तत्त्व समझते हं वस ज्ञानी पुरुपा का धर्माचरण शुद्ध है और इसी से वे बचते नही हं। (८—२३)

ऊचे कुल में जन्म लेकर जिन्हान सन्यास लिया हो और जो महा तपस्वी हा, वसा (मुनियों) का तप भी यदि कीर्ति की इच्छा से किया हुवा हो तो शुद्ध नही है। जिस तप का दूसरे नही जानते हं वही सच्चा तप है। आत्म प्रशसा कभी नही करना चाहिए। (८—२४)

सुन्दर व्रत धारण करने वाले पुरुप को थोडा खाना चाहिए, थोडा पीना चाहिए और थोडा बोलना चाहिए, तथा क्षमायुक्त, निरातुर, जितेंद्रिय और कामना रहित होकर सदा (मोक्ष की तरफ) प्रयत्नशील रहना चाहिए। (८—२५)

प्राप्त हुए काम भागो में भी इच्छा न होने देना हो इसका नाम विवेक। अपने आचार हमेशा सुन पुरुपा से सीखें। (९—३२)

मुमुक्षु, सदा प्रज्ञायुक्त तपस्वी, पुरुपार्थी, आत्मज्ञान के इच्छुक, धतिमान तथा जितेंद्रिय गुरु की सेवा सुश्रूपा करे। (९—३३)

शब्दादि विपयो में अलुब्ध रहे और निंदित कम न करे,

(यही मुख्य धर्माचरण है) बाकी सब जो विस्तार से कहा है वह सिद्धात के बाहर का है। (९—३५)

अपने भीतर और बाहर, दोनो प्रकार के सत्य को जानकर जो स्वय को व पर को तारने में समय है वसे जगत के ज्योति रूप, तथा धम को साक्षात्कार कर उसे प्रगट करने वाले (महात्मा) की सगति में सदा रहना चाहिए। (१२—१६)

सर्वस्व का त्याग करके रूखे सूखे आहार पर जीने वाला बनकर भी जो गर्विष्ठ (अभिमानी) तथा स्तुति की इच्छा वाला होता है, उसका त्याग उसकी आजीविका (का साधन) है। ज्ञान पाए बिना वह बार बार ससार म भटकेगा।

जो मनुष्य अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के कारण से या अन्य किसी विभूति के कारण से मदमस्त (अभिमानी) होकर दूसरे का तिरस्कार करता है, वह समाधि प्राप्त नहीं कर सकता है। (१३—१४)

शास्त्र सीखने की इच्छा वाला, काम भोगों का त्याग कर, प्रयत्न पूवक ब्रह्मचय का पालन करे तथा गुरु की आज्ञा का पालन करते करते चारित्र की शिक्षा प्राप्त करे। चतुर शिष्य प्रमाद न करे। (१४—१)

धम का साक्षात्कार करके जो ज्ञानी उपदेश देते हैं, वे ही सशय का अत ला सकते हैं। अपनी और दूसरो की मुक्ति

को साधने वाले वे कई युगों से पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। (१४—१८)

बुद्धिमान पुरुष (वस्तुओं के) अन्त की सेवा करते हैं इसीलिए संसार का अंत ला सकते हैं। हम धर्म की आराधना के लिए ही मनुष्य लोक में मनुष्य हुए हैं। (१५—१५)

धर्म कहने मात्र से ही दोष नहीं लगता है—यदि उसका कहने वाला क्षात हो, दांत हो, जितेंद्रिय हो, वाणी के दोषों को त्यागने वाला हो और वाणी के गुणों को आचरने वाला हो। (६—५)

जिस वाणी को बोलने से पाप को उत्तेजना मिलती हो, वैसी वाणी कभी न बोलनी चाहिए। दीक्षित भिक्षु गुण रहित तथा तथ्य रहित कुछ न बोले। (६—३३)

जो ज्ञानी की आज्ञा के अनुसार मोक्ष मार्ग में मन, वचन और काया, तीनों तरफ से स्थित होकर अपनी इन्द्रियों का रक्षण करता है तथा समुद्र जैसे इस संसार को तरने के लिए जिसके पास सब सामग्री है वह पुरुष (चाहे तो) दूसरों को उपदेश दे। (६—५५)

(यही मुख्य धर्माचरण है) बाकी सब जो विस्तार से कहा है वह सिद्धात के बाहर का है। (६—३५)

अपने भीतर और बाहर, दोनो प्रकार के सत्य को जानकर जो स्वय को व पर को तारने में समर्थ है वसे जगत के ज्योति रूप, तथा धर्म को साक्षात्कार कर उसे प्रगट करने वाले (महात्मा) की सगति में सदा रहना चाहिए। (१२—१६)

सर्वस्व का त्याग करके रूखे सूखे आहार पर जीने वाला बनकर भी जो *गर्विष्ठ (अभिमानी) तथा स्तुति* की इच्छा वाला होता है, उसका सन्यास उसकी आजीविका (का साधन) है। ज्ञान पाए बिना वह बार बार ससार में भटकेगा।

जो मनुष्य अपनी प्रज्ञा (बुद्धि) के कारण से या अन्य किसी विभूति के कारण से मदमत्त (अभिमानी) होकर दूसरे का तिरस्कार करता है, वह समाधि प्राप्त नहीं कर सकता है। (१३—१४)

शास्त्र सीखने की इच्छा वाला, काम भोगो का त्याग कर, प्रयत्न पूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करे तथा गुरु की आज्ञा का पालन करते करते चारित्र की शिक्षा प्राप्त करे। चतुर शिष्य प्रमाद न करे। (१४—१)

धर्म का साक्षात्कार करके जो ज्ञानी उपदेश देते हैं, वे ही सशय का अत ला सकते हैं। अपनी और दूसरो की मुक्ति

को साधने वाले व कई युगों से पूछे जाने वाले प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं। (१४—१८)

बुद्धिमान पुरुष (वस्तुओं के) मन की सेवा करते हैं इसीलिए संसार का मत ला सकते हैं। हम धर्म की आराधना के लिए ही मनुष्य लोक में मनुष्य हुए हैं। (१५—१६)

धर्म कहने मात्र से ही दोष नहीं लगता है—यदि उसका कहने वाला शांत हो, दांत हो जितेंद्रिय हो, वाणी के दोषों को त्यागने वाला हो और वाणी के गुणों को आचरने वाला हो। (६—५)

जिस वाणी को बोलने से पाप को उत्तेजना मिलती हो, वैसी वाणी कभी न बोलनी चाहिए। दीक्षित भिक्षु, गुण रहित तथा तथ्य रहित कुछ न बोले। (६—३३)

जो ज्ञानी की आज्ञा के अनुसार मोक्ष मार्ग में मन, वचन और काया, तीनों तरफ से स्थित होकर अपनी इन्द्रियों का रक्षण करता है तथा समुद्र जैसे इस संसार को तरने के लिए जिसके पास सब सामग्री है वह पुरुष (चाहे तो) दूसरों को उपदेश दे। (६—५५)

सुभाषित ३

श्री आचारांग सूत्र के छायानुवाद

"महावीर स्वामीनो आचार धर्म से अनुवादित

जगत के लोगों की कामनाओं का पार नहीं है। वे चलनी में पानी भरने का प्रयत्न करते हैं। (३—११३)

कामों का पूरा होना अशक्य है और आयुष्य बढ़ाया नहीं जा सकता है। तथा कामेच्छु पुरुष विलाप करता ही रहता है। (२—६२)

हे धीर, तू आशा और स्वछंदता को छोड़ दे। इन दोनों के शल्य के कारण ही तू भटकता रहता है। सुख का साधन, मानी हुई वस्तुएं ही तेरे दुःख का कारण हो जाती हैं। (२—८४)

तेरे सगे संबंधी विषय भोग या द्रव्य संपत्ति तेरा रक्षण नहीं कर सकते हैं या तुझे बचा नहीं सकते हैं, वैसे ही तू भी उनका रक्षण नहीं कर सकता है या बचा नहीं सकता है। हरेक को अपने सुख दुःख खुद ही भुगतने पड़ते हैं। अतः जहां तक आयु मृत्यु से घेरी नहीं गई है तथा कान आदि इंद्रियों का बल एवं प्रज्ञा, स्मृति, मेधा, आदि स्थित हैं तबतक अवसर को पहचान कर समझदार पुरुष को अपना कल्याण कर लेना चाहिए। (२, ६८—७१)

जो काम गुणो का जीत लते ह वे वास्तव में मुक्त ह। अकाम से काम को दूर करत हुए व प्राप्त हुए काम गुणा (भोगो) में भी नही लिपटते ह। (२—७४)

वाम भोगा म सदा डूबा रहता हुवा मनुष्य धम का नहीं पहचान सकता है। वीर भगवान ने कहा है कि उस महामोह में जरा सा भा प्रमाद म करना चाहिए। शाति के स्वरूप का और मत्यु का विचार करक तथा शरीर का नाशवान जानते हुए कुशल पुरुष कसे प्रमाद कर सकता है? (२—८४)

सभी प्राणा को आयुष्य तथा सुखप्रिय है एव दुख तथा वध अप्रिय या प्रतिकूल ह। वे जीवन की इच्छा वाले और जीवन का प्रिय मानन वाले ह। प्रमाद के कारण से प्राणा को अभी तक जा व्यथा दा है उसे बराबर समझकर फिर मे वसा न करना, इसी का नाम सच्ची समझ है और यही कर्मों की उपशाति है। भगवान क द्वारा दी गई इस समझ को समझना हुवा और सत्य क लिए प्रयत्नशील बना हुआ मनुष्य कोई भा पाप नही करता है और न कराता है कारण कि पाप कम मात्र म किसी न किसा जीव वर्ग की हिंसा या द्रोह रहा हुवा है। (२ ८०, ९६—७)

जो अहिंसा म कुशल है और जो बधन म से मुक्ति प्राप्त करने क प्रयत्न में लगा हुवा है वही सच्चा बुद्धिमान है। (२—१०२)

प्रमाद और उसके फलत काम गुणों में आसक्ति यही

सुभाषित ३

श्री आचाराग सूत्र के छायानुवाद

"महावीर स्वामीनो आचार धर्म से अनुवादित

जगत के लोगो की कामनाओ का पार नही है। वे चलनी में पानी भरने का प्रयत्न करते हं। (३—११३)

कामो का पूरा होना अशक्य है और आयुष्य बढाया नही जा सकता है। तथा कामेच्छु पुरुष विलाप करता ही रहता है। (२—६२)

हे धीर, तू आशा और स्वछदता को छोड दे। इन दोनो के शल्य के कारण ही तू भटकता रहता है। सुख का साधन, मानी हुई वस्तुए ही तेरे दुख का कारण हो जाती हं। (२—८४)

तरे सगे संबधी विषय भोग या द्रव्य सपत्ति तेरा रक्षण नही कर सकते हैं या तुझे बचा नही सकते हैं, वैसे ही तू भी उनका रक्षण नही कर सकता है या बचा नही सकता है। हरेक को अपने सुख दुख खुद ही भुगतने पडते हं। अत जहा तक आयु मृत्यु से घेरी नही गई है तथा कान आदि इन्द्रिया का बल एव प्रज्ञा, स्मृति, मेधा, आदि स्थित हं तबतक अवसर को पहचान कर समझदार पुरुष को अपना कल्याण कर लेना चाहिए। (२, ६८—७१)

जो काम गुणा का जीत लेत हं वे वास्तव में मुक्त हं। अकाम स काम को दूर करत हुए व प्राप्त हुए काम गुणा (भोगा) में भी नही लिपटते हं। (२—७४)

काम भोगो में सदा डूबा रहता हुवा मनुष्य धम का नहीं पहचान मकता है। वीर भगवान ने कहा है कि उस महामोह में जरा सा भी प्रमाद न करना चाहिए। शाति के स्वरूप का और मृत्यु का विचार करक तथा शरीर को नाशवान जानत हुए कुशल पुरुष कस प्रमाद कर सकता है? (२—८४)

सभी प्राणो को आयुष्य तथा सुखप्रिय है एव दुख तथा वध अप्रिय या प्रतिकूल हं। व जीवन की इच्छा वाले और जीवन का प्रिय मानन वाले हं। प्रमाद के कारण स प्राणा को अभी तक जा व्यथा दी है उस बराबर समझकर फिर मे वसा न करना, इसी का नाम सच्ची समझ है और यही कर्मों की उपशाति है। भगवान के द्वारा दा गई इस समझ को समझता हुवा और सत्य क लिए प्रयत्नशील बना हुआ मनुष्य कोई भा पाप नहीं करता है और न कराता है कारण कि पाप कम मात्र में किसी न किसी जीव वग की हिंसा या द्रोह रहा हुवा है। (२ ८०, ९६—७)

जा अहिंसा म कुशल है और जो बधन में स मुक्ति प्राप्त करन के प्रयत्न में लगा हुवा है वही सच्चा बुद्धिमान है। (२—१०२)

प्रमाद और उसके फलत काम गुणो में आसक्ति यही

हिमा है। अत बुद्धिमान ऐसा निश्चय करे कि, 'प्रमाद से जो कुछ मैंने पहले किया वह अब नही करूगा' (१, ३४–६)

जो मनुष्य विविध प्राणो की हिंसा में अपना ही अनिष्ट देख सकता है वही उसका त्याग करने म समर्थ हो सकता है।

जो मनुष्य अपना दु ख जानता है वह दूसरा के दु ख को जान सकता है और जो दूसरो के दु ख को जानता है वह अपना दु ख भी जानता है। शांति को पाए हुए सयमी दूसरो की हिंसा करके जीना नही चाहते। (१, ५५–७)

मनुष्य अन्य जीवों के विषय म बे परवाह न रहे। जो अन्य जीवो के लिए बे परवाह रहता है वह अपने लिए भी बे परवाह रहता है, तथा जो अपने लिए बेपरवाह रहता है वह अन्य जीवो के लिए भी बेपरवाह रहता है। (१—२२)

हिंसा का मूल होने से काम गुण ही ससार के चक्र हैं। काम गुणो का दूसरा नाम ही ससार चक्र है। चारो तरफ अनेक प्रकार के रूप देखता हुवा और शब्द सुनता हुवा मनुष्य उन सब म आसक्त हो जाता है। इसी का नाम ससार है। ऐसा मनुष्य महापुरुषो के बताए हुए मार्ग पर नहीं चल सकता है, वरन बारबार काम गुणो का स्वाद लेता हुवा, हिंसादि वक्र (विपरीत) प्रवृत्तिया करता हुवा प्रमाद पूर्वक घर में मूर्छित रहता है। (१, ४०–४)

जो मनुष्य शब्दादि काम गुणो म रही हुई हिंसा को

जानने में कुशल है वह अहिंसा को जानने में कुशल है और जो अहिंसा को जानने में कुशल है वह शब्दादि काम गुणो में रही हुई हिंसा को समझने में कुशल है। (३—१०६)

विषयो के स्वरूप को जो बराबर जानता है, वह ससार को बराबर जानता है और जो विषयो के स्वरूप को नही जानता है वह ससार के स्वरूप को भी नही जानता है। (५—१४३)

मैने सुना है और मुझे अनुभव है कि बधन में से मुक्त होना तेरे ही हाथ में है। अत ज्ञानियो के पास से समझ प्राप्त करके, हे परम चक्षु वाले पुरुष ! तू पराक्रम कर। इसी का नाम ब्रह्मचर्य है ऐसा मैं कहता हू। (५—१५०)

हे भाई ! तू अपने साथ (अपने अदर) युद्ध कर बाहर युद्ध करने से क्या लाभ ? युद्ध के लिए इसके जैसी (आत्मा जैसी) वस्तु मिलनी दुर्लभ है। (५—१५३)

हे भाई ! तू ही तेरा मित्र है बाहर कहा मित्र ढूढता है ? तू यदि अपने आपको ही वश में रखेगा तो सब दुखो से मुक्त हो सकेगा। (३, ११७—८)

प्रमादी को सब तरह से भय है, अप्रमादी को किसी प्रकार का भय नहीं है। (३—१२३)

धर्म को ज्ञानी पुरुषों के पास से समझकर या स्वीकार कर मात्र सग्रहित न कर रखना चाहिए परन्तु प्राप्त हुए भोग पदार्थों में भी वैराग्य पाकर, लोक प्रवाह के अनुसार चलना छोड देना चाहिए। (४—१२७)

जगत में जहा तहाँ आराम है ऐसा समझकर वहा से इन्द्रिया को हटाकर, सयमी पुरुष, जितेन्द्रिय होकर चले। जो अपना काय साधना चाहता है वैसे वीर पुरुष को चाहिए कि हमेशा ज्ञानी के कथनानुसार पराक्रम करे, ऐसा म कहता हू। (५–१६८)

सयमी का उस वीर पुरुष की उपमा दी जाती है जो युद्ध के मदान में सबसे आगे प्राणान्त तक लडता रहता है। ऐसा ही मुनि पारगामी हो सकता है। किसी भी प्रकार के कष्ट से न डिगता हुवा और चीरे जाने याने लकडी के पाटिए की तरह स्थिर रहने वाला वह सयमी, शरीर के भेद (छेद) तक काल की प्रतीक्षा करता रहता है परन्तु घबराकर पीछे नही हटता है ऐसा म कहता हू। (६–१६६)

इन्द्रिया के सबध में आए हुए विषय का अनुभव न करना यह अशक्य है परन्तु उसमें जो राग द्वेष है उसका भिक्षु त्याग करे। (अ० १६)

जो ज्ञानी है उसके लिए कोई उपदेश नही है। कुशल पुरुष कुछ करे या न करे इससे वह बद्ध भी नही है और मुक्त भी नही है। फिर भी लोक रुचि को सब प्रकार से समझकर और समय का पहचानकर वह कुशल पुरुष पूर्व के महापुरुषो द्वारा न किए गए कम नही करता है। (२–१०३)

एक दूसरे को शरम से या भय से पाप कर्म न करने वाला क्या मुनि कहला सकता है? सच्चा मुनि तो समता को बराबर समझकर अपनी आत्मा को निमल करता रहता है। (३–११५)

जो मरत हो, मुमुक्षु हो और निर्दंभी हो वही सच्चा अनगार (साधु) है। जिस श्रद्धा से मनुष्य घर का त्याग करता है, उसी श्रद्धा को शंका और आसक्ति छोड़कर हमेशा टिकाए रखे। वीर पुरुष इसी महामार्ग में चलते हैं। (१, १८—२०)

सुख दुःख में समान भाव रखकर ज्ञानी पुरुषों के संग में रहना और अनेक प्रकार के दुःखों से दुखी स्थावर जंगम प्राणियों को अपनी किसी भी क्रिया से कष्ट न देना, ऐसा करने वाला तथा पृथ्वी की तरह से सब कुछ सहन करने वाला महामुनि उत्तम श्रमण कहलाता है। (आ० १६)

उत्तम धर्म पद को अनुसरने वाले, तृष्णा रहित ध्यान और समाधियुक्त तथा अग्नि की शिखा जैसे उस तेजस्वी, विद्वान भिक्षु के तप, प्रज्ञा और यश वृद्धि को पाते हैं। (आ० १६)

इस प्रकार से काम गुणों में से मुक्त रहकर, विवेक पूर्वक आचरण करते हुए उस धृतिमान और सहनशील भिक्षु के पहले के किए हुए तमाम पाप कर्म उसी प्रकार दूर हो जाते हैं जैसे कि अग्नि से चांदी का मल दूर हो जाता है।

(आ० १६)

इस लोक और परलोक दोनों में जिसका कुछ भी बंधन नहीं है तथा जो तमाम पदार्थों की आशंका से रहित, निरालंब और अप्रतिबद्ध है, वैसा वह महामुनि गर्भ में आने जाने से मुक्त होता है, ऐसा मैं कहता हूं। (आ० १६)

खड़ा रहना, प्रयत्नपूर्वक बैठना प्रयत्नपूर्वक खाना और प्रयत्न पूर्वक बोलना, ऐसा करने से पाप कर्म नहीं बंधते हैं। (४—८)

सब भूत प्राणियों को अपने समान गिनने वाले और दर्शन वाले तथा इन्द्रिय निग्रह पूर्वक हिंसादि पाप कर्म न करने वाले मनुष्य का पाप कर्म नहीं बंधता है। (५—९)

पहले ज्ञान बाद में दया, यह संयमी पुरुष की स्थिति है। जो अज्ञानी है वह क्या आचरण कर सकता है और भले बुरे को कैसे जान सकता है? (५—१०)

ज्ञानी से सुनकर पुण्य या पाप जाना जा सकता है। इन दोनों को ज्ञानी से जानकर जो कल्याणकारी हो उसको आचरो। (५—११)

सुख आस्वादक, सुख की इच्छा वाले, आलसी (नींद लेने वाले) तथा धो-मांज करते रहने वाले श्रमण की सुगति दुर्लभ है, परन्तु तपोधन, सरल बुद्धि, क्षमावान, संयम में परायण तथा कठिनाइयों से न दबने वाले श्रमण की सुगति सुलभ है।

सभी जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते, अतः निर्ग्रन्थ घोर जीव हिंसा का त्याग करते हैं। (६, २—११)

इस लोक में सभी साधु पुरुषों ने असत्य वचन की निन्

सुभापित ४

श्री दशवकालिक सूत्र के छायानुवाद

"समीसांझनो उपदेश" में से अनुवादित

धम परम मगल है। अहिंसा, सयम और तपरूपी धम में जिसका मन सदा लगा हुवा है, उसे देव भी नमस्कार करते हं। (१—१)

जो मनुष्य सकल्पो के वशीभूत होकर, पद पद पर थक कर बठ जाता है तथा कामो का निवारण नही करता है वह श्रमणपन कसे पाल सकता है? (२—१)

तप के द्वारा शरीर को कसकर सुकुमारता दूर करा। इस प्रकार से जिसने कामो को जीता है उसने दु ख समुद्र को भी जीत लिया समझना चाहिए। जिसने पदार्थों के प्रति राग द्वप दूर किया है वह इस ससार म सुखी होता है। (२—५)

कसे चलना, कसे खडा रहना, कसे बठना, कसे सोना, कैसे खाना और कसे बोलना जिससे पाप कम न बधे? (४—७)

प्रयत्नपूवक (जीवो को बचाते हुए) चलना, प्रयत्नपूवक

खड़ा रहना, प्रयत्नपूर्वक बैठना, प्रयत्नपूर्वक खाना और प्रयत्न पूर्वक बोलना, ऐसा करने से पाप कर्म नहीं बंधते हैं। (४—८)

सब भूत प्राणियों को अपने समान गिनने वाले और देखने वाले तथा इन्द्रिय निग्रह पूर्वक हिंसादि पाप कर्म न करने वाले मनुष्य को पाप कर्म नहीं बंधता है। (४—९)

पहले ज्ञान बाद में दया यह संयमी पुरुष की स्थिति है। जो अज्ञानी है वह क्या आचरण कर सकता है और भले बुरे को कैसे जान सकता है? (४—१०)

ज्ञानी से सुनकर पुण्य या पाप जाना जा सकता है। इन दोनों को ज्ञानी से जानकर, जो कल्याणकारी हो उसको आचरो। (४—११)

सुख-आस्वादक, सुख का इच्छा वाले, आलसी (नींद लेने वाले) तथा धो-मांज करते रहने वाले श्रमण को सुगति दुर्लभ है, परन्तु तपोधन, सरल बुद्धि, क्षमावान, संयम में परायण तथा कठिनाइयों से न डरने वाले श्रमण को सुगति सुलभ है।

सभी जीना चाहते हैं, मरना नहीं चाहते, अतः निर्ग्रंथ घोर जीव हिंसा का त्याग करते हैं। (६, २—११)

इस लोक में सभी साधु पुरुषों ने असत्य वचन की निंदा

की है, एव यह सभी भूत प्राणिया के विश्वास का भग करता है, अत असत्य वचन का त्याग करना चाहिए।
(६ २—१२)

किसी जीव का दिल दुखे एसी कठोर वाणी नहीं बोलनी चाहिए चाहे वह सत्य भी (क्यों न) हो, कारण कि उससे पाप बधन ही होता है (७—११)

मधु को सब प्रमाद का मूल, अमेध्य, अधम का मूल कारण, महादोषा का समूहरूप, घोर कर्मों का हेतुरूप तथा सब प्रकार के चारित्र को छिन्न भिन्न करने वाला जानकर निग्रथ उसके पास भी नही जाते। (उस सवथा त्यागते है)। (६, २ १८—६)

शरीर की शोभा, (टीपटाप) स्त्री का ससग और रसादार खानपान य वस्तुए आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष (हाथ में लेते ही मृत्यु हो ऐसा विष) जैसी हैं।

जिसके हाथ पर कट हुए हा तथा जिसके नाक-कान वडौल हो गए हो (कुरुप) एसी सौ वप की स्त्री का भी साधु पुरुष ससग न करे। (८—५६)

सयम और लज्जा के निवाह क लिए रखी हुई आवश्यक वस्तुओ को ज्ञात पुत्र भगवान न परिग्रह नही गिना, परन्तु आसक्ति या ममता को ही परिग्रह गिना है। (६, २-११)

सभी तीथकरा न यह हमेशा का तप कम बताया है कि निवाह जितना ही देह का पालन पोषण और दिन के अदर अदर ही (सूर्योदय से सूर्यास्त तक) जीम लेना। (६, २–३)

जब तक वृद्धावस्था की पीडा नहा है, रोग नही बढ हं और इन्द्रियो की शक्ति मौजूद है तबतक धर्म का आचरण करने का प्रयत्न कर लना चाहिए (८–३६)

उच्छ खल बने हुए क्रोध और मान तथा बढ़े हुए माया और लाभ ये चार मलिन वत्तियें पुनजमरूपी वक्ष के मूल को सींचने वाली हं। (८–४०)

क्रोध से प्रीति का नाश हाता है, मान विनय का नाश करता है, माया मित्रता का नाश करती है और लाभ सर्व का नाश करता है। (८—३८)

शाति के द्वारा क्रोध को मारना चाहिए। मृदुता (नम्रता) से मान को जीतना चाहिए, माया को ऋजुता (सरलता) से जीतना चाहिए और लोभ को सतोष से जीतना चाहिए। (८–३९)

इस लोक और परलोक के हित करने वाल धम का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रज्ञ गुरु की सेवा और विनय आत्मनिग्रह पूवक करनी चाहिए, तथा उनको पदार्थों का निणय पूछना चाहिए। (८–४४)

शिष्य, गुरु के वचन को कभी निष्फल न जाने दे, वाणी से उसका स्वीकार करे, काया से उसका पालन करे।
(८—३३)

गुणी पुरुष की संगति में रहते हुए उसका विनय करना चाहिए अपना शील निश्चल रखना चाहिए और कछुए की तरह अपने अंगोपांग का संकोच (नियमन) कर, तप और संयम में पराक्रमी होना चाहिए। (८—४६)

गर्व, क्रोध, माया और प्रमाद के कारण से जो शिष्य गुरु के साथ रहकर विनय नहीं सीखता है, उसकी वह कमी बांस के फल की तरह स्वयं उसके ही नाश का कारण बनती है। (९ -१)

सुकुमार शरीर वाले गर्भ श्रीमन्त (धनी के पुत्र) भी सांसारिक हुनर या कारीगरी सीखने के लिए मारपीट या अत्यंत कष्ट सहन करते हैं गुरु की पूजा करते हैं तथा उनकी आज्ञा में रहते हैं, तो फिर अनंत हितरूप मोक्ष तथा उसके साधन रूप शास्त्र ज्ञान की इच्छावाले भिक्षु आचार्य के वचन का उल्लंघन किस प्रकार से कर सकते हैं?
(९, २, १४—६)

अविनयी पुरुष को विपत्ति है और सुविनयी पुरुष को सब तरह आनंद है, ऐसा जो बराबर जानता है, वही सुशिक्षित हो सकता है। (९, २—२१)

गुणो से ही साधु हुवा जाता है और दुगुणो से ही असाधु हुवा जाता है, अत साधु गुणा का स्वीकार करना चाहिए और असाधु गुणो का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार स अपनी आत्मा को समझाकर, तथा रागद्वेष का त्याग कर जो समभाव प्राप्त करता है वह शिष्य सबका पूज्य बनता है। (९, ३—११)

जो साधक रात्री के प्रथम और अतिम पहर में हमेशा आत्म निरीक्षण करता है कि मने क्या किया है मेरे लिए अभी क्या करना बाकी है और मेरे से बन सकता है वसा क्या, म अभी तक नही करता हू, वह जितेंद्रिय तथा धृतिमान (धीर) पुरुष ही जगत म 'जागत" है और वही सयमी जीवन जीता है एसा कहा जाता है। (चूडा २, १२—१५)

शिष्य, गुरु के वचन को कभी निष्फल न जाने दे, वाणी से उसका स्वीकार कर, काया से उसका पालन करे।

(८—३३)

गुणी पुरुष की सगति में रहते हुए उसका विनय करना चाहिए अपना शील निश्चल रखना चाहिए और कछुए की तरह अपने अगोपाग का सकोच (नियमन) कर, तप और सयम में पराक्रमी होना चाहिए। (८—४६)

गव, क्रोध, माया और प्रमाद के कारण से जो शिष्य गुरु के साथ रहकर विनय नही सीखता है, उसकी वह कमी बास के फल की तरह स्वय उसके ही नाश का कारण बनती है। (६ -१)

सुकुमार शरीर वाले गभ श्रीमत (धनी के पुत्र) भी सासारिक हुनर या कारीगरी सीखने के लिए मारपीट या अत्यत कष्ट सहन करते हं गुरु की पूजा करते हं तथा उनकी आज्ञा म रहते हं, तो फिर अनत हितरूप मोक्ष तथा उसके साधन रूप शास्त्र ज्ञान की इच्छावाले भिक्षु आचाय के वचन का उल्लघन किस प्रकार से कर सकते हं ?

(६, २, १४—६)

अविनयी पुरुष को विपत्ति है और सुविनयी पुरुष को सब तरह आनद है, ऐसा जो बराबर जानता है, वही सुशिक्षित हो सकता है। (६, २—२१)

गुणो से ही साधु हुवा जाता है और दुर्गुणो से ही असाधु हुवा जाता है, अत साधु गुणों का स्वीकार करना चाहिए और असाधु गुणा का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार से अपनी आत्मा को समझाकर, तथा [illegible] का त्याग कर जो समभाव प्राप्त करता है वह [illegible] है।

([illegible])

जो साधक रात्री के प्रथम और [illegible] आत्म निरीक्षण करता है कि मैंने क्या किया है, [illegible] अभी क्या करना बाकी है और मेरे से वन [illegible] है वैसा क्या, मैं अभी तक नहीं करता हू, वह जितेन्द्रिय तथा धृतिमान (धीर) पुरुष ही जगत में "जागृत" है और यही सच्ची जीवन जीता है ऐसा कहा जाता है। (चूडा २, १२-११)

सुभाषित ५

श्री कुदकुदाचाय के समयसार में से अनुवादित

निर्विकार परमात्म तत्त्व के ज्ञान के बिना इस परमपद (मोक्ष) को चाहे जितने तपसाधन करते हुए भी कोई प्राप्त नहीं कर सकता है। अत यदि तुझे कमबधन में से मुक्ति चाहिए तो उसी का स्वीकार कर। (२०५)

यदि तुझे पारमार्थिक सुख चाहिए तो इस परमात्म तत्त्व में ही सदा लीन रह उसी में सदा सतुष्ट रह और उसी में तृप्त रह। (२०६)

यदि किसी मनुष्य को बहुत अधिक समय से किसी बधन में डाल रखा हो और वह मनुष्य उस बधन के विषय में चाहे जितने विचार करता रहे इसी से वह उसमें से मुक्त नहीं हो सकता है परतु यदि वह उस बधन को काट डाले तो उसमें से छूट सकता है, इसी प्रकार से ससारबद्ध जीव के लिए भी समझना चाहिए। (२६१)

बधन का तथा आत्मा का स्वरूप जानकर जो मनुष्य बधन से विरक्त होता है वह अपनी मुक्ति साध सकता है। (२६३)

आत्मा का ज्ञान प्रज्ञा के द्वारा ही हो सकता है, प्रज्ञा

के द्वारा आत्मा को अन्य द्रव्यों में से अलग करना, इसी का अर्थ है उस (आत्मा को) जानना। (२९६)

प्रज्ञा के द्वारा अनुभव करना चाहिए कि, जो दृष्टा है वही मैं हूँ, अन्य सभी जो भाव हैं वे मेरे से परे हैं। (२-८)

शुभ अशुभ रूप आकर तुझे नहीं कहता है कि तू मुझे देख, तथा आत्मा के नजर पड़ने से भी उसे रोका नहीं जा सकता, परन्तु तू अहितकारी बुद्धिवाला बनकर उसे स्वीकारने या त्यागने का विचार किस लिए करता है और शांत क्यों नहीं रहता है ? (३७६, ३८२)

भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के संन्यासियों या गृहस्थों के चिन्ह धारण करके मूढ़ लोग मानते हैं कि ऐसा वेष धारण करना ही मोक्ष है। परन्तु बाह्य वेष मोक्ष का मार्ग नहीं है। जिनों ने तो स्पष्ट बताया है कि दर्शन, ज्ञान और चारित्र ही मोक्ष मार्ग है। (४०८, ४१०)

उसी मोक्ष मार्ग में तेरे आत्मा को स्थापित कर उसी का ध्यान धर और उसी का आचरण कर, अन्य द्रव्यों में विचरना छोड़ दे।

सुभाषित ६

श्री कुदकुदाचार्य के प्रवचनसार में से अनुवादित

अनेक प्रकार के सुखों को प्राप्त करने की इच्छा से बहुत पुण्य किए हो तो उनके प्रभाव से देव वर्ग तक के जीवों को (वे वे पदार्थ प्राप्त होते हैं तथा साथ ही साथ उन) विषयों के लिए तृष्णा खडी होती है। (१, ७४)

जागी हुई तृष्णा वाले वे जीव तृष्णा से दुखी होकर, फिर विषय सुख की इच्छा करते है और मृत्यु तक तृष्णा के दुख से सतप्त होकर उन सुखों का अनुभव करते रहते हैं। (१, ७५,

परन्तु इन्द्रियो से प्राप्त होता हुआ सुख दुख रूप ही है, कारण कि इन्द्रिय जनित सुख सदा पराधीन, विघ्न युक्त, विनाशी, बधन का कारण तथा अतृप्तिकर होता है। (१, ७६)

शरीर तो कभी जीव को इस लोक में या देवलोक में सुख नही देता है, स्वय को प्रिय या अप्रिय विषय ग्रहण कर आत्मा स्वय ही सुख या दुख के भाव में परिणमित होता है। (१, ६६)

इन्द्रियो के आश्रित रहे हुए प्रिय विषयो के पाकर

स्वभाव से ही सुखरूप में परिणाम पाता हुवा आत्मा ही सुखरूप बनता है, शरीर सुखरूप नहीं है । (१, ६५)

यदि साधक प्रमादपूर्वक आचरण करता है तो उसे निश्चित ही जीवहिंसा लगती है चाहे जीव मरे या न मरे परन्तु यदि साधक अप्रमादी है यत्नपूर्वक आचरण करते हुए भी उससे जीव हिंसा हो जाय तो उसे उसका पाप नहीं लगता है। (अर्थात उसको लगा हुवा पाप प्रायश्चित आदि से शीघ्र नष्ट होता है) (३, १७)

जो मुनि जीव जंतु मरते हैं या बचते हैं इस बात की परवाह न करते हुए (प्रयत्न न करते हुए) प्रवृत्ति करता है, तो चाहे उसके द्वारा एक भी जीव मरता हो या न मरता हो तो भी उसको छः ही जीव वर्ग मारने का बंधन होता है परन्तु यदि वह प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करता हो और यदि उसके द्वारा जीव मर जाय तो भी वह जल में कमल की तरह निर्लेप रहता है। (३, १८)

शारीरिक प्रवृत्ति करते हुए यदि जीव मर जाय तो बंध होता भी है और नहीं भी होता है परंतु परिग्रह से तो बंध होता ही है। अतः विवेकी श्रमण तमाम परिग्रह का त्याग करे। (३, १९)

जहां तक निरपेक्ष त्याग न किया जाय तब तक चित्त शुद्धि नहीं हो सकती है और जब तक चित्त शुद्धि नहीं है तब तक कर्मक्षय कैसे हो सकता है? (३, २०)

सुभाषित ६

श्री कुंदकुंदाचार्य के प्रवचनसार में से अनुवादित

अनेक प्रकार के सुखो को प्राप्त करने की इच्छा से बहुत पुण्य किए हो तो उनके प्रभाव से देव वर्ग तक के जीवों को (वे वे पदार्थ प्राप्त होते हैं तथा साथ ही साथ उन) विषयो के लिए तृष्णा खडी होती है। (१, ७४)

जागी हुई तृष्णा वाले वे जीव, तृष्णा से दु खी होकर, फिर विषय सुख की इच्छा करते हैं और मृत्यु तक तृष्णा के दु ख से संतप्त होकर उन सुखो का अनुभव करते रहते हैं। (१, ७५,

परन्तु इन्द्रियो से प्राप्त होता हुवा सुख दु ख रूप ही है, कारण कि इन्द्रिय जनित सुख सदा पराधीन, विघ्न युक्त, विनाशी, बंधन का कारण तथा अतृप्तिकर होता है। (१, ७६)

शरीर तो कभी जीव को इस लोक म या देवलोक म सुख नही देता है, स्वय को प्रिय या अप्रिय विषय ग्रहण कर आत्मा स्वय ही सुख या दु ख के भाव में परिणमित होता है। (१, ६६)

इन्द्रियो के आश्रित रहे हुए प्रिय विषयो के पाकर

स्वभाव से ही सुखरूप में परिणाम पाता हुआ आत्मा ही सुखरूप बनता है, शरीर सुखरूप नहीं है। (१, ६५)

यदि साधक प्रमादपूर्वक आचरण करता है तो उसे निश्चित ही जीवहिंसा लगती है चाहे जीव मरे या न मरे, परन्तु यदि साधक अप्रमादी है यत्नपूर्वक आचरण करते हुए भी उससे जीव हिंसा हो जाय तो उसे उसका पाप नहीं लगता है। (अथवा उसको लगा हुआ पाप प्रायश्चित आदि से शीघ्र नष्ट होता है) (३, १७)

जो मुनि जीव जन्तु मरते हैं या बचते हैं इस बात की परवाह न करते हुए (प्रयत्न न करते हुए) प्रवृत्ति करता है, तो चाहे उसके द्वारा एक भी जीव मरता हो या न मरता हो तो भी उसको छः ही जीव वर्ग मारने का बंधन होता है, परन्तु यदि वह प्रयत्न पूर्वक प्रवृत्ति करता हो और यदि उसके द्वारा जीव मर जाय तो भी वह जल में कमल की तरह निर्लेप रहता है। (३, १८)

शारीरिक प्रवृत्ति करते हुए यदि जीव मर जाय तो वध होता भी है और नहीं भी होता है परन्तु परिग्रह से तो वध होता ही है। अतः विवेकी श्रमण तमाम परिग्रह का त्याग करे। (३, १९)

जहाँ तक निरपेक्ष त्याग न किया जाय तब तक चित्त शुद्धि नहीं हो सकती है और जब तक चित्त शुद्धि नहीं है तब तक कर्मक्षय कैसे हो सकता है? (३, २०)

जो परिग्रही है उसमे आसक्ति आरंभ या असंयम क्यों न होंगे ? वैसे ही जब तक पर द्रव्य में आसक्ति है तब तक आत्मा का साधन किस तरह से हो सकता है ?　(३, २१)

जिसकी प्रवृत्तियां जीव जन्तु के न मर जाने में प्रयत्नशील है, जिसके मन वाणी काया सुरक्षित हैं, जिसकी इंद्रियां नियन्त्रित हैं, जिसके विकार जीते गए हैं, जिसमें श्रद्धा और ज्ञान परिपूर्ण है तथा जो संयमी है वही श्रमण कहलाता है।　(३, ४०)

सच्चा श्रमण शत्रु मित्र में, सुख-दुख में, निंदा प्रशंसा में मिट्टी के ढेले में और सोने में, तथा जीवन और मृत्यु में सम बुद्धि वाला होता है।　(३, ४१)

श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र इन तीनों में जो एक ही साथ प्रयत्नशील है, तथा जो एकाग्र है, उसका श्रमणपना परिपूर्ण कहलाता है।　(३, ४२)

जिसे पदार्थों में राग, द्वेष या मोह नहीं है, वही श्रमण विविध कर्मों का क्षय कर सकता है।　(३, ४४)

जिसे इस लोक या परलोक में कोई आकांक्षा नहीं है, जिसके आहार विहार प्रमाणसर है, तथा जो क्रोधादि विकार से रहित है वही सच्चा श्रमण है।　(३, २६)

आत्मा में पर द्रव्य की कुछ भी आकांक्षा न होना ही वास्तव में उपवास (तप) है। सच्चा श्रमण इसी तप की

आकांक्षा रखता है। भिक्षा द्वारा माग कर लाए हुए निर्दोष अन्न को खाता हुवा भी वह अनाहारी ही है। (३, २७)

सच्चे श्रमण को शरीर के अतिरिक्त अन्य कोई परिग्रह नहीं होता है। इस शरीर में भी उसे ममत्व न होने से वह उसका अयोग्य आहारादि के द्वारा पालन नहीं करता है। एव जरा सी भी शक्ति की चोरी न करता हुवा वह उसे तप में लगाता है। (३, २८)

बालक हो, बूढ़ा हो, थका हुवा हो या रोगग्रस्त हो तो भी श्रमण अपनी शक्ति के अनुरूप एसा आचरण करे कि जिससे उसके मूल सयम का भग न हो। (३, ३०)

आहार या विहार के विषय में श्रमण यदि देश, काल, श्रम शक्ति और (बालवृद्धत्वादि) अवस्था का देखकर विचार कर आचरण करता है तो उसे कम से कम बंधन होता है।

(३, ३१)

मुमुक्षु का सच्चा लक्षण एकाग्रता है। परतु जिसे पदार्थों के स्वरूप का यथार्थ निश्चय हुवा हो वही एकाग्रता प्राप्त कर सकता है। पदार्थों के स्वरूप का निश्चय शास्त्रों के द्वारा ही हो सकता है, अत शास्त्र ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न, सभी प्रयत्नों में उत्तम है। (३, ३२)

शास्त्र ज्ञान रहित मुमुक्षु अपना या पराया स्वरूप समझ सकता है और जिसे पदार्थों के स्वरूप की
[illegible]

सभी भूत प्राणिया को इन्द्रिया रूपी चक्षु है, देवा को अवधि ज्ञान रूपी चक्षु है, केवल ज्ञानी मुक्त आत्माओ को सर्वत चक्षु है और मुमुक्षु को शास्त्ररूपी चक्षु है। (३, ३४)

सभी पदार्थों का (गुण-पर्यायो सहित) विविध ज्ञान शास्त्र में है। मुमुक्षु शास्त्ररूपी चक्षु के द्वारा उनको देख सकता है या जान सकता है। (३, ३६)

जिसकी श्रद्धा शास्त्रपूर्वक नही है, उसके लिए सयमाचरण सभव नहीं है और जो सयमी नही है, वह मुमुक्षु कैसे हो सकता है ? (३, ३६)

श्रद्धा के बिना कोरे शास्त्र ज्ञान से मुक्ति सभव नही है, उसी प्रकार से आचरण के बिना मात्र श्रद्धा से भी कुछ नही होने वाला है। (३, ३७)

जिसे देहादि में अणु जितनी भी आसक्ती है, वह मनुष्य चाहे सभी शास्त्र क्यो न जानता हो फिर भी मुक्त नही हो सकता है। (३, ३८)

सकलित

राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सबको एक दिन अपनी अपनी बार॥ १॥

आप अकेलो अवतर, मर अकेला होय।
यू कबहू इस जीव को साथी सगा न कोय॥ २॥

मोह नीद जोर जगवासी घूमे सदा।
कम चोर चहु ओर, सरवस लूटै सुधि नही॥ ३॥

पच महाव्रत सचरन, समिति पच परकार।
प्रबल पच इन्द्री विजय धार निजरा सार॥ ४॥

सतगुरु देय जगाय मोह नीद जब उपशम।
तब कछु बनहि उपाय कमचोर आवन रक॥ ५॥

धनकन कचन राज सुख सबहि सुलभ कर जान।
दुलभ है ससार में एक जथारथ ज्ञान॥ ६॥

दाम विना निर्धन दुखी, तृष्णावश धनवान,
कहू न सुख ससार में, सब जग देखो छान॥ ७॥

दीपै चाम चादर मढी हाड पीजरा देह।
भीतर या सम जगत म अवर नही घिनगह॥ ८॥

चौदह राजु उतग तभ, लोक पुरुष सठान ।
तामें जीव अनादि तें भरमत हं बिन ज्ञान ॥ ६ ॥

ज्ञान दीप तप तेल भर घर शोधे भ्रम छोर ।
या विध बिन निकसें नही पठे पूरव चोर ॥ १० ॥

दलबल देई देवता मातपिता परिवार ।
मरती बिरियाँ जीव को कोई न राखन हार ॥ ११ ॥

जहा देह अपनी नही तहा न अपनो कोय ।
घर सपति पर परगट ये पर ह परिजन लोय ॥ १२ ॥

---

(१) मन के संबंध में पद्य यशोविजयजी कृत

जब लग मन आवे नहि ठाम ।
तब लग कष्ट क्रिया सवि निष्फल, ज्यों गगने चित्राम ॥१॥

करनी बिन तू करे रे मोटाई, ब्रह्मव्रती तुज नाम ।
आखर फल न लहोगे ज्यों जग, व्यापारी बिनु दाम ॥२॥

मूंड मुंडावत सब ही गडरिया हरिण रोझ बन धाम ।
जटा धार बट भस्म लगावत, रासभ सहतु घाम ॥३॥

एते पर नहि योग की रचना, जो नहि मन विश्राम ।
चित्त अन्तर पट छलवेकुं चिंतवत, कहा जपत मुख राम ॥४॥

वचन काम गोपे दृढ़ न धरे, चित्त तुरग लगाम ।
तामें तु न लहे शिव साधन जिऊ कण सूने गाम ॥५॥

पढ़ो ग्यान धरो संजम किरिया, न फिरावो मन ठाम ।
चिदानंद घन सुजस विलासी, प्रगटे आतम राम ॥६॥

(२) विनय विजयजी कृत

मन न काहू के बस, मन किये सब बस ।
मन की सो गति जाने याको मन बस है ॥ १ ॥

पढ़ो हो बहुत पाठ तप करो जनें पाहार ।
मनबस किए बिनु तप जप बस है ॥ २ ॥

काहु कु फिरे है मन वाहु न पावेगो चैन ।
विषय में उमग रंग कछु न दूर सहे ॥ ३ ॥

सोऊ ज्ञानी माऊ ध्यानी सोऊ मेरे जिया प्रानी ।
जिने मन वश कियो वाही को सुजस है ॥ ४ ॥

विनय कह सो धनु याको मन छिनु छिनु ।
साइ साइँ साइँ साइ साइ में तिरस है ॥ ५ ॥

(३) ज्ञानविमल सूरिकृत-वैराग्योपदेश पद्य

वालमिया रे विरथा जनम गमायो ।

परसगत कर दस दिसि भटका, परसें प्रेम लगाया ।
परसें जाया, पर रग भाया पर कु भोग लगाया ॥वाल॥१॥

माटी खाना माटी पीना माटी में रम जाना ।
माटी चीवर माटी भूषण, माटी रंग सो भीना रे ॥वाल॥२॥

परदेशी से नातरा कीना माया में लपटाना ।
निधि सयम ज्ञानानद अनुभव गुरु बिन नाहि लहाना रे ॥३॥

श्री आनंदघन पद्य रत्न

(१)

क्या सोवे उठ जाग बाउर ॥ क्या० ॥ टेक ॥

अजंलि जल ज्यूं आयु घटत है,

देत पहोरिया घाउ रे ॥ क्या० ॥ १ ॥

इन्द्र चन्द्र नागिंद्र मुनिंद्र चल, कोण राजा पतिसाह राउरे,

भमत भमत भवजलधि पायके,

भगवंत भजन विन भाऊ नाऊ रे ॥ क्या० ॥ २ ॥

कहा विलंब करे अब बाउरे, तरी भवजलनिधि पाउ,

आनंदघन चेतन मय मूरति शुद्ध निरंजन देव ध्याउ रे ॥३॥

(२)

रे घरियारी बाउरे मत घरीय बजावे

नर सिर बांधत पाघरी, तू क्या घरीय बजावे ॥रे घरि०॥१॥

केवल काल कला कले, वैं तू अकल न पावे,

अकल कला घट में धरी, मुझ सो घरी भावे। रे घरि०॥२॥

आतम अनुभव रस भरी, या में और न मावे,

आनंदघन अविचल कला विरला कोई पावे ॥ रे घरि॥३॥

शब्दार्थ—बाउरे = पागल। पहोरिया = पहरेदार। घरिय = घट, घड़ी। भाउ = भाई। नाउ = नही। पाघरी = पाघ पघडी, पगड़ी। अकल = अदृश्य। मावे = समावे।

गीत-गाले

(तर्ज रिमझिम बरसे बादर वा) श्री केवल मुनिजी कृत

पल पल बीते उमरिया, मरन जवानी जाय।
प्रभु गीत गाले गाले, प्रभु गीत गाले ॥ टेर ॥
प्यारा प्यारा बचपन खो गया, खो गया।
यौवन पाकर तू मतवाना हो गया हो गया।
बार बार नहीं पावरे।
बहती गंगा है प्यारे, मौका है न्हाल न्हाल ॥ प्रभु ॥
कैसे-कैसे यार जग में हो गये हो गये।
महल-महल पर भवन जमीं पर सो गये, सो गये ॥
कोई अमर नहीं आया रे।
पंछी है फूल रखाले, मुसाफ़िर यात्री गाले ॥ प्रभु ॥ २ ॥
तेरे घर में माल मसाले होते हैं, होते हैं।
भूख के मारे कई बिचारे रोते हैं रोते हैं ॥
उनकी कौन खबर ले रे।
जिनके नहीं तनपे कपड़ा, रोटियों के लाले, गाले ॥प्रभु॥३॥
गोरा-गोरा देख बदन क्या फूला है फूला है।
चार दिना की जिंदगानी पर भूला है, भूला है॥
जीवन सफल बना लेरे।
'केवल' मुनि समझावे, ओ जाने वाले गाले ॥ प्रभु ॥ ४ ॥

---

(३)

मूलडो थोडो भाई व्याज घणो रे, केम करी दीधो रे जाय,
तलपद पूजी मे आपी सघली रे तोहे व्याज पूरू नवि थाय ॥१॥
व्यापार भागो जलवट थल वटें रे, धीरे नही निसानी माय,
व्याज छोडावी कोई खदा पर वठे रे, तो मूल आपू सम खाय २
हाटडु माडु रूडा माणक चोक मा रे, साजनीया नु मनडु मनाय,
आनदघन प्रभु शठ शिरोमणि रे, बाहडी झालजोरे ॥३॥

शब्दार्थ—तलपद = जमीन झाडक्र—सपूण । धीरें = उधार देवे । खदा पर वठे = किस्त करा दे । सम = सोगन—शपथ । हाटडु = दुकान । साजनीया = प्रभु । झालजा = पकडजो ।

(४)

प्रभु भजले मेरा दिल राजी रे ॥ प्रभु० ॥
आठ पोहोर की चासठ घडिया दो घडिया जिन साजी रे ॥१॥
दान पुण्य कछु धम कर ले, मोह माया कु त्याजी रे ॥प्र०॥२॥
आनदघन कहे समझ समझ ले, आखर खोवेगा वाजी रे ॥३॥

गीत-गाले

(तर्ज रिमझिम बरसे बादर वा) श्री केवल मुनिजी कृत

पल पल बीते उमरिया, मस्त जवानी जाय।
प्रभु गीत गाले गाले, प्रभु गीत गाले ॥ टेर ॥
प्यारा प्यारा बचपन पीछे, खो गया, खो गया।
यौवन पाकर तू मतवाला हो गया हो गया।
बार बार नहीं पावेरे।
बहती गंगा है प्यारे, मौका है न्हाले गाले ॥ प्रभु ॥
कैसे-कैसे आके जग में हो गये हो गये।
खेल-खेल कर अंत जमी पर सो गये, सो गये ॥
कोई अमर नहीं आया रे।
पंछी है फल रगीले, मुभान वाले गाले ॥ प्रभु ॥ २ ॥
तेरे घर में माल मसाले होते हैं, होते हैं।
भूख के मारे कई विचारे रोते हैं रोते हैं ॥
उनकी कौन खबर ले रे।
जिनके नहीं तनपे कपड़ा, रोटियों के लाले, गाले ॥प्रभु॥३।
गोरा-गोरा देख बदन क्यों फूला है फूला है।
चार दिनों की जिंदगानी पर भूला है, भूला है॥
जीवन सफल बना लेरे।
'केवल' मुनि समझावे, ओ जाने वाले गाले ॥ प्रभु ॥ ४ ॥

सब ठाठ पडा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा

शायर—नजीर

नज्म में जो १, २ आदि संख्या शब्दों के आगे दी है उन अर्थ अंत में है

(१)

टुक हिर्सो हवा १ को छोड मिया, मत देस बिदेस फिर मारा,
कज्जाक २ अजल ३ का लूटे है, दिन रात बजाकर नक्कारा४।
क्या बधिया भैंसा बैल शुतर५, क्या गोंए पिल्ला सरभारा,
क्या गेहूं चावल मोठ मटर क्या आग धूआं, क्या अंगारा ।।
सब ठाठ पडा रह जावेगा जब लाद चलेगा बनजारा,
कज्जाक अजल का लूटे है दिन रात बजा कर नक्कारा ।। सब ठाठ।।

(२)

गर तू है लक्खी बनजारा और खेप भी तेरा
अय गाफल ! ६ तुझसे भी चढ़ता एक और बड़ा बेपारी
क्या शक्कर मिसरी-कन्द-गिरी, क्या सांभर मीठा खारी है
क्या दाख मुनक्का सोंठ-मिरच, क्या केसर लौंग-सुपारी है ।।सब ठाठ ।।

(३)

यह खेप भरे जो तू जाता है वह मियां मत गिन अपनी,
अब कोई घड़ी पल सायत में यह खेप बदन की है कफनी । ७
क्या थाल कटोरे चांदी के, क्या पीतल की डिबिया ढकनी,
क्या बरतन सोने रूपे के, मिट्टी की हंडिया ढक्नी ।। सब ठाठ ।।

(४)

यह धूम धड़ाका साथ लिये क्यों फिरता है जंगल जंगल,
एक तिनका साथ न जावेगा, मौजूद हुवा जब आन अजल ।
घर बार-अटारी चौपारी, क्या खासा नैनसुख और मलमल,
क्या चिलमन ८ पर्दे फर्श नये, क्या लाल पलंग और रंग महल ।।स ठा ।।

(५)

हर मंजिल में अब साथ तेर यह जितना डेरा डाडा है,
जर ६ दाम १० दिरमका भाड़ा है,बन्दूक सिपाह और खाड़ा है ।
जब नायक ११ तन से निकलेगा जो मुल्कों मुल्कों हाडा १२ है,
फिर हाडा है न भांडा है, न हलवा है न मांडा है ॥ सब ठा

(६)

कुछ काम न आवगा तेरे यह लाल जमुरद १३ सीमोजर १४,
सब पूंजी बाट में बिखरगी जब आन बनगी जान ऊपर ।
नौबत-नक्कार बान १५ निशा दौलत१६ ह्शमत १७ फौज-लश्कर
क्या मसनद १८ तकिया मुल्क मका क्या चौकी-कुरसी तख्त छत

(७)

क्यों जी पर बोझ उठाता है इन गोनों १९ भारी भारी के
जब मौत लुटेरा आन पड़ा, फिर दून ह बपारी के ।
क्या साज जड़ाऊ-जर जेवर, क्या गोट थान किनारी के,
क्या घोड़ जीन सुनहरी के क्या हाथी लाल अमारी के ॥७॥ सब

(८)

मगरूर २० न हो तलवारों पर मत भूल भरोसे ढालों के,
सब पटा तोड़क भागेंगे मह देख अजल के भालों के ।
क्या डब्बे मोती हीरों के क्या ढेर खजाने माला के
क्या बुगचे २१ तार मुशज्जर २२ के, क्या तख्त २३ शाल दुशालों

(९)

क्या सख्त मकाँ बनवाता है खम २४ तेरे तन का है पोला,
तू ऊंचे कोट उठाता है वहां तेरी गोर २५ ने मुंह है खोला ।
क्या रैनी खंदक-रूंद बड़े क्या बुर्ज-कंगूरा अनमोला,
गढ कोट रहकला २६ तोप किला, क्या सीसाबारू और गोला ॥ स

हर आन नफे और टोटे में क्यों मरता फिरता है बन बन,
अय गाफिल दिल में सोच जरा, है साथ लगे तेरे दुश्मन।
क्या लौंडी-बाँदी दाई-दादा क्या बंदा चेला नेक चलन,
क्या मंदिर-मस्जिद ताल-कुए क्या घाट सरा क्या बाग चमन ।।सब ठाठ।।

(११)

जब चलते-चलते रस्ते में यह गौन २७ तरी ढल जावेगी,
एक बधिया २८ तेरी मिट्टी पर, फिर घास न चरने आवेगी।
यह खेप जो तूने लादी है, सब हिस्सों में बट जावेगी,
धी २६ पूत जमाई-बेटा क्या बन राजी पास न आवेगी ।। सबठाठ ।।

(१२)

जब मुग ३० फिरा कर चाबुक को यह बैल बदन का हाँकेगा,
कोई नाज समेटेगा तेरा कोई गौन सिये और टाँकेगा।
हो ढेर अकेला जंगल में, तू खाक लहद ३१ की फांकेगा
उस जंगल में फिर आह! 'नजीर' एक तिनका आन न झाँकेगा।।

शब्दार्थ नम्बरी स=१—आशातृष्णा, २—डाकू, ३—मौत—४ नगारा ५—ऊंट, ६—सफरदाह,७—कफन मुर्दे को ओढ़ाने का कपड़ा ८—छत ९—धन, १०—सिक्का ११—आत्मा १२—सूना, १३—पन्ना १४—चान्दी सोना, १५—ध्वजा १६—सपंति,१७—इज्जत, १८—गादी १९—माल असबाब २०—अभिमानी २१—गठरी, २२—जरी गोटा, २३—थान, २४ -हड्डिया-ढाचा, २५—कब्र समशान, २६—सुरक्षित, २७—देह २८—बछड़ी केरड़ी २९—बेटी, ३०—प्राण पखेरु, ३१—कब्र।